श्री रूपगोस्वामी विरचित विदग्धमाधवम् का समालोचनात्मक अध्ययन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी के अन्तर्गत
संस्कृत विषय में पी-एच. डी. की
उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

2008

शोध निर्देशक :
डॉ. टी. आर. निरंजन
विभागाध्यक्ष - संस्कृत
मथुरा प्रसाद स्नातकोत्तर
महाविद्यालय कोंच (जालौन)

शोधच्छात्रा :
श्रीमती मधुरलता द्विवेदी
पुत्री श्री विष्णुदेव शर्मा
पत्नी श्री संजीव कुमार द्विवेदी
गाँधी नगर, कोंच (जालौन)

शोध केन्द्र : मथुरा प्रसाद स्नातकोत्तर महाविद्यालय कोंच, (जालौन)

अग्रेषण-पत्र

श्रीमती मधुरलता द्विवेदी शोध छात्रा ने मेरे निर्देशन में 'श्री रूपगोस्वामी विरचित विदग्धमाधवम् का समालोचनात्मक अध्ययन' विषय पर शोध कार्य किया है और अपना शोध प्रबन्ध बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी द्वारा प्राप्त पी–एच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत किया हैं।
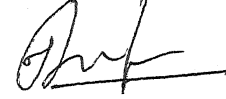
श्रीमती मधुरलता द्विवेदी सौम्य, सुशील, विनम्र छात्रा है। अध्ययनकाल में सावधि (200 दिन) उपस्थित रहकर यह शोध कार्य बहुत ही लगन एवं परिश्रम से किया है। श्रीमती मधुरलता द्विवेदी का परिश्रम सफलीभूत ही सिद्ध होगा।

मैं श्रीरूपगोस्वामी विरचित विदग्धमाधवम् का समालोचनात्मक अध्ययन इस प्रबन्ध को पी–एच.डी. उपाधि प्रदान करने हेतु अपनी संस्तुति के साथ अग्रसारित करता हूँ।

गणेश चतुर्थी

श्रावणी शुक्ल पक्ष
चतुर्थी

शोध निर्देशक

डॉ. टी. आर. निरंजन
विभागाध्यक्ष–संस्कृत
मथुरा प्रसाद स्नातकोत्तर महाविद्यालय
कोंच (जालौन) उ. प्र.

तरणिजातटकुञ्जविहारिणं
ललितगोपवधूपटहारिणम् ।
सकलयोगकलासमलंकृतं
मुरभिदं प्रणमामि रमाधवम् ॥

विदग्धमाधवम्

आत्म-निवेदन

साहित्य, संगीत और कला की त्रिवेणी की तितीर्षु अपनी शैशवावस्था से सदैव सारस्वत–साधना को साथ में संजोये, साध्य शिक्षा रूपी सरिताओं को सफलतापूर्वक समुत्तीर्ण करती हुई, सिन्धु सलिल में अवगाहन की आकांक्षा से बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय रूपी सागर में अवतीर्ण हुई। पूज्य प्रवर डॉ. टी. आर. निरंजन जैसे प्रबुद्ध पथि–प्रदर्शक की प्रेरणा से एक ऐसी भगवान कृष्ण–राधा के प्रति अन्तर्मन में प्रेम–धारा प्रवाहित हुई। जिसकी तृष्णा मुझे एवं स्वयं गुरुवर को भी अभीप्सित रही। ऐसी तृष्णा से पिपासार्त्त हुई मैं अपनी श्रद्धा–सुमनाञ्जलि के साथ शोध–कार्य में निर्देशन हेतु परमश्रद्धेय पूज्यपाद गुरुवर डॉ. टी. आर. निरंजन से निवेदन किया। गुरुवर्य की कृपा–स्वीकृति प्राप्त कर मुझे जो आनन्दानुभूति हुई उसी के अनुरूप शोध–सन्दर्भ की भी लालसा हुई। विविध विषयों की श्रृंखला में अपने शोध–सन्दर्भ 'श्री रूपगोस्वामी विरचित विदग्धमाधवम् का समालोचनात्मक अध्ययन' की जो कड़ी मिली, उससे मेरा मन गद–गद हो उठा और उसे मैंने मनसा वाचा स्वीकार कर कर्मणा प्रयास करने का शुभाशीष प्राप्त किया।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध छैः अध्यायों में विभक्त है। भूमिका के अन्तर्गत संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति एवं विकास, मध्यकालीन संस्कृत नाटक प्रस्तुत हैं। प्रथम अध्याय में विदग्धमाधवम् के प्रणेता श्री रूपगोस्वामी का जीवन परिचय, जीवनकाल से सम्बन्धित जानकारी दी गयी हैं। साथ ही साथ रूपगोस्वामी का पांडित्य एवं व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया समसामयिक सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों का उनके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा इन सबका विवेचन किया गया हैं।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत रूपगोस्वामी का कृतित्व तथा उन पर पूर्ववर्ती पौराणिक साहित्य का क्या प्रभाव पड़ा विवेचन हैं।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत नाट्यशास्त्रीय समीक्षा में कथावस्तु का स्वरूप, पात्रों का चरित्र चित्रण वर्णित हैं।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत भाषा शैली, छन्द व अलंकार निरूपण तथा प्रकृति चित्रण प्रस्तुत है।

पञ्चम् अध्याय में रसनिष्पत्ति सम्बन्धी विवेचना है।

अन्तिम षष्ठ अध्याय में विदग्धमाधवम् नाटक का सांस्कृतिक तथा साहित्यिक महत्व निरूपित करते हुये एतद् विषयक आख्यानों में श्री रूपगोस्वामी की मौलिकता तथा नाट्य साहित्य की देन का मूल्यांकन प्रस्तुत है। उपसंहार में शोध निष्कर्षों का निरूपण है।

मथुरा प्रसाद स्नातकोत्तर महाविद्यालय कोंच विभागाध्यक्ष–संस्कृत के गुरुवर डॉ. टी. आर. निरंजन ने व्यस्त होने पर भी मेरी शोध–विषयक गुत्थियों को सुलझाने में जो अभिरूचि दिखाई वह मेरे लिये कल्पनातीत थी। उनकी सतत् प्रेरणा, सहयोग, बहुमूल्य सन्निर्देश और पुत्रीवत् स्नेह देने की जो कृपा की एवं सम्प्रति शुभाशीष देकर कृतार्थ किया उसका ही परिणाम है कि यह शोध कार्य पूर्ण हो सका। एतदर्थ मैं उनके प्रति आजीवन ऋणी हूँ। साथ ही हमेशा अपार वात्सल्य स्नेह प्रदान करने वाली गुरु पत्नी श्रीमती क्रान्ति देवी के मिले सहयोग की भी मैं हमेशा ऋणी हूँ।

मथुरा प्रसाद महाविद्यालय कोंच के प्राचार्य के रूप में अपनी कर्त्तव्य–निष्ठा, अनुशासन–प्रिय, समाज सेवी विद्वान प्रोफेसर वीरेन्द्र सिंह जी से मिले प्रोत्साहन एवं शुभासंशाओं के प्रति कृतज्ञ हूँ। इस महाविद्यालय के अन्य गुरुजनों में डॉ. रामसजीवन शुक्ल, डॉ. वीणा सक्सेना, डॉ. एस. एन. सक्सेना, प्रो. उमेश कंचन, डॉ. जयशंकर तिवारी व डॉ. राघवेन्द्र सिंह गुर्जर आदि से मिले प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष सहयोग की आभारी हूँ।

मेरे भविष्य के प्रति सदैव चिन्तित रहने वाली पूज्यनीया माताजी श्रीमती विजय देवी शर्मा एवं बाल्यकाल से ही संस्कृत अध्ययन, मनन, अजस्त्र प्रेरणा प्रदान करने वाले परम पूज्य पिताजी श्री विष्णु देव शर्मा जी का वात्सल्य स्नेह एवं उत्साहवर्धन स्मरणीय ही नहीं वरन् स्तुत्य हैं। वस्तुतः शोध–प्रबन्ध उन्हीं के संकल्प, प्रेरणा एवं आशीर्वाद का ही प्रतिफल है। मैं उन सभी अपने श्रेष्ठ सहयोगियों कु. विनीता, अंजू, पूजा आदि के प्रति आभार प्रदर्शित करती हूँ। जिनसे प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से लाभान्वित हुई हूँ।

पूज्य विद्वान श्वसुर श्री भगवान दास द्विवेदी एवं मातृवत् स्नेह देने वाली मेरी सासु जी श्रीमती माया देवी द्विवेदी दोनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिन्होंने पदे–पदे अपने सुझावों एवं निर्देशनों से मेरा मार्ग प्रशस्त किया। अपने कार्य की अवधि में, मैं अनेक बार हतोत्साहित हुई हूँ, अधीरता के इन क्षणों में मुझमें धैर्य, साहस एवं विश्वास का संचार करने वाले अपने पूज्य पतिदेव संजीव कुमार द्विवेदी के सौजन्य के लिये आभारी हूँ। मैं अन्य अपने आत्मीय जनों व परिवारीय जनों के प्रति भी आभारी हूँ जिन्होंने शोध–काल के समय मेरे बच्चों मोहन एवं सोहन से शोध पन्नों को फाड़ने एवं नष्ट होने से बचाकर मेरी सहायता की।
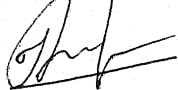
पुस्तकालय के कर्त्तव्यनिष्ठ एवं अनुभवी कर्मचारी श्री नरेश चन्द्र बाबू जी ने मेरी हर–क्षण सहायता की। मैं उनके प्रति हमेशा आभारी रहूँगी।

कम्प्यूटर द्वारा प्रिंट करके शोध–प्रबन्ध को स्वच्छ और सुन्दर रूप देने में मेरी मदद मु. जियाउर्रहमान अंसारी (गुड्डू) महक कम्प्यूटर्स, बजरिया उरई के बिना शोध प्रबन्ध अधूरा ही रह जाता। उन्होंने मेरी पल–पल सहायता की। अतएव मैं इनकी आभारी हूँ।

अन्त में मैं गणेश जी की महती कृपा थी जो हमारा शोध प्रबन्ध निर्विघ्न समाप्त हुआ, अन्यथा मुझमें इतनी सामर्थ्य कहाँ।

मुझे पूर्ण आशा एवं विश्वास है कि नीर–क्षीर विवेक रखने वाले परीक्षकगण प्रमादवश हुई अपरिहार्य त्रुटियों की ओर ध्यान न देते हुये इस शोध प्रबन्ध का मूल्यांकन करेंगे।

शोध निर्देशक

डॉ. टी. आर. निरंजन
विभागाध्यक्ष–संस्कृत
मथुरा प्रसाद स्नातकोत्तर महाविद्यालय
कोंच (जालौन) उ. प्र.

विनयावनत

मधुरलता द्विवेदी

श्रीमती मधुरलता द्विवेदी
पुत्री श्री विष्णुदेव शर्मा
पत्नी श्री संजीव कुमार द्विवेदी
गाँधी नगर, कोंच (जालौन)

विषयानुक्रमणिका

भूमिका

- विषय प्रवेश
- संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति एवं विकास
- मध्यकालीन संस्कृत नाटक

भूमिका

(i) विषय प्रवेश

सामाजिक ज्ञान की वृद्धि एवं रसानुभूति को ध्यान में रखते हुये काव्य की रचना की गई। जब हम काव्य की विवेचना करते है तो काव्य के दो भेद पाये जाते है।

1. श्रव्य काव्य
2. दृश्य काव्य

1. श्रव्य काव्य

श्रव्य काव्य सुनने से ही स्पष्ट होता है कि यह मात्र सुनने या पढ़ने का काव्य है। इस काव्य के सुनने या पढ़ने से बुद्धि एवं हृदय का सम्पर्क श्रवणेन्द्रिय द्वारा होता है। इसमें पात्रों के संवाद सुने जा सकते है। इसका कोई रंगमंच नही होता केवल अध्ययन कक्ष की वस्तु है।

2. दृश्य काव्य

दृश्य काव्य देखने की वस्तु है। इसका उद्देश्य अभिनय के द्वारा दर्शकों का मनोरंजन एवं रस की अनुभूति कराना है। यही दृश्य काव्य रूपक कहलाता है। 'रूप' शब्द नेत्रों के विषय का द्योतक है। इसीलिये दृश्य काव्य के लिये प्रयुक्त जातिवाचक नाम रूप या रूपक है।

दृश्य काव्य को रूपक कहते है, क्योंकि उसमें अभिनेता मूल पात्रों का रूप धारण करते है।[1]

रूपक के प्रमुख रूप से दस भेद किये है। इन भेदों का आधार वस्तु, नेता तथा रस है।[2]

अर्थात एक रूपक अपनी कथा वस्तु नायक (नायक की प्रकृति) तथा प्रतिपाद्य रस के कारण दूसरे रूपकों से भिन्नता प्रकट करता है।

---

1. संस्कृत नाटक, ए. बी. कीथ, पृ. सं. 316
2. वस्तुनेतारसस्तेषा भेदकः "दशरूपक" प्रथम प्रकाश, पृ. सं. 7

रूपक निम्नलिखित दस है –

1. नाटक	2. प्रकरण	3. भाण	4. व्यायोग
5. समवकार	6. डिम	7. ईहामृग	8. अङ्क
9. वीथी	10. प्रहसन		

"नाटकमथप्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।

ईहामृगांकवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।।"[1]

अंग्रेजी में इस नाटक शब्द के लिये ड्रामा शब्द का प्रयोग किया जाता है। उसी को संस्कृत साहित्य में रूपक कहते है। "नृत्त और नृत्य से नाटक की भिन्नता प्रतिपादित करके नाट्य के स्वरूप पर और भी प्रकाश डाला गया है। गीत एवं वाणी से संयुक्त होने पर नृत्त और नृत्य नाट्य को पूर्णता प्रदान करते है।

नृत्त, ताल एवं लय पर आश्रित होता है।

नृत्य, भावों एवं मनोवेगों पर आश्रित है और नाट्य रसात्मक होता है। वह दर्शक को रसानुभूति कराता है। अतः अपने परिचारिकावत् सहायक नृत्त एवं नृत्य की अपेक्षा नाट्य उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित है।[2]

नाट्यों का सामान्य परिचय देते हुये दशरूपककार लिखता है –

अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्[3]

अर्थात् जहाँ काव्य में वर्णित धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर ललित, धीर प्रशान्त प्रकृति के नायकों का तत्तत्प्रकृतिगत अन्य पात्रों का या नायिकाओं का आगिंक, वाचिक, आहार्य, सात्विक आदि चार ढंग से अभिनयों द्वारा अवस्थानुकरण किया जाता है, वह नाट्य है।

अवस्थानुकरण से तात्पर्य है कि चाल–ढाल, वेशभूषा, आलाप–प्रलाप आदि के द्वारा पात्रों की प्रत्येक अवस्था का अनुकरण इस ढंग से किया जाये कि नटों में पात्रों की "तादात्म्यापन्ति" हो जाये।

---

1. दशरूपक की भूमिका, पृ. सं. 23
2. संस्कृत नाटक, ए. बी. कीथ, पृ. सं. 316
3. दशरूपक, 1/4

"एक मत के अनुसार यह परिभाषा भी जोड़ दी गई है कि अवस्थानुकृति ऐसी होनी चाहिये जो दर्शक को सुखात्मक एवं दुखात्मक अनुभूति करा सके, अर्थात् उन अवस्थाओं में भावों का पुट होना चाहिये।[1]

नाटक का आलोचनात्मक स्वरूप

संस्कृत नाटक को हम भारतीय काव्य की उत्कृष्टतम सिद्धि मान सकते है। उसमें भारतीय साहित्य के कवियों द्वारा साहित्यिक कला की संकल्पना का सार है।

भारत की बौद्धिक श्रेष्ठता का स्रोत ब्राह्मण था। अतः ब्राह्मणों के सम्बन्ध से प्रभावित आवश्यक लक्षण नाटकों में पाये जाते है। उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी था। परन्तु यथार्थवादी नाटक की रचना उनकी प्रकृति से सर्वथा विरूद्ध थी। उनका प्रयोजन सामाजिकों को रसानुभूति कराना था और उन्होंने उन्हीं वस्तुओं के चित्रण का प्रयास किया जो उद्देश्य को पूर्ण करने में आवश्यक है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रूपक के उत्कृष्टतम रूप नाटक में कथानक का तत्व गौण है। कथानक की जटिलता से भावक का मन हटकर बौद्धिकता की ओर उन्मुख हो जाता है और इससे रसाभिव्यक्ति पर घातक प्रभाव पड़ता है।

मानव की स्थिति और उसके कर्म अकस्मात् संयोग पर निर्भर नहीं होते वे मानव के द्वारा पूर्व जन्म में किये गये कर्मों का परिणाम होते है और वे पूर्व कर्म भी अनादि काल से संचित कर्मों के परिणाम है। इसलिये संस्कृत नाटक में ऐसा दृश्य नहीं मिलता जिसमें कोई सत्पुरुष अपरिवर्तनीय नियति के विरूद्ध निष्फल प्रयत्न करता हुआ दिखाई दे, यहाँ तक कि उस असत्पुरुष का भी चित्रण नहीं है जिसकी पराजय का स्वागत करते हुये भी हम उसकी बौद्धिक शक्ति और संकल्प की सराहना करते है। संस्कृत नाटक की दृष्टि में असत्पुरुष का विनाश एक अपराधी का दंड–भोग मात्र है, जिसकी यातना के प्रति हमारे मन में किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं होनी चाहिये।

इससे तात्पर्य निकलता है कि जिन मुख्य रसों की अभिव्यक्ति करना संस्कृत नाटक का लक्ष्य है, वे वीर अथवा श्रृंगार है, और निर्वहण के उपर्युक्त महत्वपूर्ण गौण तत्व

1. संस्कृत नाटक, ए. बी. कीथ, पृ. सं. 315

के रूप में अद्भुत का मिश्रण कर दिया जाता है। अद्भुत की योजना पौराणिक कथाओं के आदर्श (कल्पित) पात्रों के साथ भली भाँति मेल खाती है और इन कथाओं में मानवीय कार्य व्यापार में दिव्य तत्वों का अन्तः प्रवेश बिना किसी असुविधा और अविश्वास के स्वीकार कर लिया जाता है।

रसाभिव्यक्ति को ध्यान में रखकर शैली का विवेचन किया जाता है। नाटक में गद्य की सरलता अथवा उपेक्षा का यही समाधान है, और इस प्रकार के गद्य को सदोष नहीं कहा जा सकता। भारतीय विचारधारा के कारण वास्तविक त्रासदी हमें नही मिलती और कामदी भी उत्कृष्ट रूप में प्राप्त नही है। नाटिका एवं प्रकरण में उत्कृष्ट कामदी का महत्व श्रृंगार रस के कारण घट गया है। यद्यपि इसका अभाव नही है। तथापि वह अपेक्षाकृत अधिक अविकसित है। प्रहसन और भाण वस्तुतः रसानुभूति कराते है परन्तु निम्न रूप में ही। इस तथ्य से यह सूचित होता है कि संस्कृत नाटक रचना के त्रासदी और कामदी दोनों रूपों में से किसी एक के नमूने के परीक्षण में असफल रहा है। संस्कृत नाटक इतिहास काव्य पर अत्यधिक निर्भर रहे, जबकि इसके अधिकतर विषय अनाटकीय है।

ब्राह्मण आदर्श में वैयक्तिकता का कोई महत्व नहीं है। जीवन व्यवस्था का प्रकार निर्धारित है। वर्ण व्यवस्था नियमबद्ध है और प्रत्येक आश्रम के धर्म निश्चित है। जिनसे विमुख होना अवांछित एवं आपत्तिजनक है। तदनुसार संस्कृत नाटक केवल प्रकारात्मक पात्रों की ओर ध्यान देता है। व्यक्ति वैचित्र्य की ओर नहीं।

नाटकों के सार्वजनिक अभिनय द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करना कवि के लिये चाहे जितना महत्वपूर्ण रहा हो, उनकी ख्याति अधिकतर उनके पढ़े जाने पर निर्भर थी। प्रेक्षित होने पर नहीं। इस तथ्य के कारण भी उनकी कृत्रिमता की प्रवृत्ति को निःसन्देह प्रोत्साहन मिला।

नाटककारों का मुख्य लक्ष्य राजा का अनुग्रह प्राप्त करना था। कृतियों की रचना में राजाओं का वस्तुतः जो भी भाग रहा हो, वे नाटकों तथा अन्य रचनाओं पर अपना नाम देने के लिये स्पष्ट रूप से बहुत इच्छुक थे। निश्चित था कि इस प्रकार का समाज काव्य में परिष्कार एवं लालित्य को प्रोत्साहन देगा।[1]

1. संस्कृत नाटक, ए. बी. कीथ, पृ. सं. 304

नाट्य शास्त्रीय स्वरूप

इस आलोचनात्मक स्वरूप के बाद अब हम नाटक के नाट्य शास्त्रीय स्वरूप पर दृष्टिपात करते है। नाटक की भिन्नता के आधार वस्तु, नेता तथा रस है। अतः सर्वप्रथम हम कथावस्तु की विचेचना करते है।

कथावस्तु का इतिवृत्त

वस्तु दो प्रकार की होती है।[1]

1. आधिकारिक (मूल)
2. प्रासंगिक (गौण)

प्रासंगिक कथावस्तु के दो भेद होते है।

1. पताका

जो कथा काव्य या रूपक में बराबर चलती है। इसका नायक मुख्य नायक से भिन्न और मुख्य नायक का साथी होता है।

2. प्रकरी

जो कथा रूपक में कुछ ही काल तक चलकर रूक जाती है। प्रकरी कहलाती है।

इस कथावस्तु को मूल तथा प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार का कहा गया है।

1. प्रख्यात

रामायण, महाभारत, पुराण या वृहत्कथा आदि से सम्बन्धित।

2. उत्पाद्य

यह कथावस्तु कवि द्वारा स्वयं कल्पित होती है।

3. मिश्र

इस इतिवृत्ति की पृष्ठभूमि प्रख्यात होती है पर इसमें बहुत सा अंश कवि कल्पित

---

1. दशरूपक की भूमिका, पृ. सं. 23–24

भी होता है।

रूपक के समस्त इतिवृत्त को हम कुछ स्थितियों में बाँट लेते है। इतिवृत्त को पाँच अर्थ प्रकृतियों, पाँच अवस्थाओं तथा पाँच सन्धियों में विभक्त किया जाता है।

अर्थप्रक्रतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।

यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः।।[1]

	अर्थ प्रकृतियाँ	अवस्थाएँ	संधियाँ
1.	बीज	प्रारम्भ	मुख
2.	बिन्दु	यत्न	प्रतिमुख
3.	पताका	प्रात्याशा	गर्भ
4.	प्रकरी	नियताप्ति	अवमर्श
5.	कार्य	फलागम	उपसंहृति

कुछ कथा सूत्र ऐसे भी होते है। जो कथा निर्वाह के लिये जरूरी है। पर इतने जरूरी नहीं कि उन्हें मंच पर दिखाया जाये। इस तरह कथा सूत्र दो प्रकार के माने जाते है।

1. दृश्य

जो मंच पर दिखाये जाते है।

2. सूच्य

अप्रधान पात्रों द्वारा सूचना मात्र दी जाती है। कभी–कभी सूच्य कथा सूत्रों की सूचना नेपथ्य से भी दी जाती है। इन कथासूत्रों के सूचना प्रकार अर्थोपक्षेपक कहलाते है। क्योंकि ये सूच्य अर्थ को आक्षिप्त करते है। ये पाँच प्रकार के होते है।

1. विष्कम्भक 2. प्रवेशक 3. चूलिका
4. अंकास्य 5. अंकावतार

इन पाँचों में विष्कम्भक तथा प्रवेशक का विशेष महत्व है। कथावस्तु के अन्तर्गत ही पात्रों का सम्वाद हमारे यहाँ निम्न प्रकार का माना गया है।

---

1. दशरूपक, पृ. सं. 22

1. प्रकाश 2. स्वगत 3. अपवारित 4. जनान्तिक

2. नेता तथा पात्र

रूपकों का दूसरा भेदक नेता है। यह चार प्रकार के होते है। अपनी–अपनी व्यक्तिगत विशेषता के साथ सभी धीर होते है।

1. धीर ललित 2. धीर प्रशान्त 3. धीरोदान्त 4. धीरोद्धत

नायक में आठ सात्विक गुणों की स्थिति होना अनिवार्य है। ये गुण है – शोभा, विलास, माधुर्य, गांभीर्य, स्थैर्य, तेज, लालित्य तथा औदार्य।

नायक का शत्रु प्रतिनायक होता है। यह धीरोद्धत प्रकृति का होता है। नायक का साथी पताका नायक पीठमर्द कहलाता है। नायक के राजा होने पर राज्य कार्य तथा धर्म कार्य में उसके सहायक मन्त्री, सेनापति, पुरोहित आदि होते है। प्रेम के समय राजा या नायक के सहकारी विदूषक तथा विट होते है।

संस्कृत नाटक में विदूषक एक महत्वपूर्ण पात्र है और भी अनेक पात्र राजा के सहायक होते है। जैसे – दूत कुमार आदि जिनका प्रयोग नाटककार आवश्यकतानुसार किया करते है।

नायिका

नायक की भाँति नायिका भी नाटक का मुख्य पात्र है। नाटिका में तो नायिका का विशेष व्यक्तित्व है। इन्हें तीन तरह का माना जा सकता है।

1. स्वकीया

नायक की पत्नी।

2. परकीया

वह नायिका जो नायक की पत्नी नहीं है।

3. सामान्या

(साधारण स्त्री या गणिका) वेश्या या गणिका।

स्वकीया नायिका तीन प्रकार की होती है।

1. मुग्धा

प्राप्तयौवना – प्रेम कलाओं से अज्ञात।

2. मध्या

सम्प्राप्ततारूण्यकामा – प्रतिकूलाचरण पर क्रुद्ध होती है। ऐसी दशा में इसके तीन रूप होते है।

1. धीरा 2. अधीरा 3. धीरा धीरा

3. प्रौढा या प्रगल्भा

प्रेम कला में दक्ष – यह भी तीन प्रकार की होती है।

1. धीरा 2. अधीरा 3. धीरा धीरा

मध्या तथा पौढा के तीनों भेदों का फिर ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा के रूप में वर्गीकरण किया जाता है।

इस प्रकार मध्या के छः भेद, प्रौढ़ा के भी छः भेद तथा मुग्धा (केवल एक) मिलकर स्वकीया नायिका के तेरह भेद होते है।

नायिका की दशा के अनुसार यह आठ प्रकार की होती है।

1. स्वाधीनपतिका 2. वासकसज्जा 3. विरहोत्कण्ठिता
4. खण्डिता 5. कलहान्तरिता 6. विप्रलब्धा
7. प्रोषितपतिका 8. अभिसारिका

नायक के गुणों की भाँति नायिका में भी गुणों की स्थिति मानी गई है। ये भूषण या अलंकार कहलाते है। इनकी संख्या 20 है। पहले तीन शारीरिक है। दूसरे सात अयत्नज है तथा शेष दस स्वभावज है। ये निम्न है – भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य, लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्बोक, ललित तथा विहृत।

नायिकाओं में राजा की पटरानी महादेवी कहलाती है। यह उच्च कुलोत्पन्न होती है। अनेक निम्न कुल की उप पत्नियाँ भी हो सकती है। इन्हें स्थायिनी या भोगिनी कहा जाता है। अन्तःपुर में कई सेवक होते है। कंचुकी इनमें प्रधान होता है। यह प्रायः बृद्ध ब्राह्मण होता है। इसके अतिरिक्त यहाँ बौने, कुबड़े, नपुंसक, किरात आदि भी रहते है।

रानियों की कई सखियाँ, दासियाँ भी होती है।

दशरूपक के अतिरिक्त अन्य कई नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में कुछ स्त्री पात्रों के नामादि का भी संकेत मिलता है। जैसे – गणिका का नाम दत्ता, सेना या सिद्धा में अन्त होना चाहिये। जैसे मृच्छकटिक में बसन्त सेना का नाम। दास दासियों के नाम ऋतु सम्बन्धी पदार्थों से लिये गये हो। जैसे मालती माधव में कलहंस तथा मन्दारिका के नाम। कापालिकों के नाम घण्ट में अन्त होता है। जैसे – मालती माधव के अघोर घण्ट।[1]

नाटकादि में कौन पात्र किसे किस तरह सम्बोधित करे इस शिष्टता का संकेत भी नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है। सामन्तादि राजा को स्वामिन् कहते है। पुरोहित या ब्राह्मण उसे आयुष्मन कहते है तथा निम्न कोटि के पात्र भट्ट। युवराज भी स्वामी कहा जाता है तथा दूसरे राजकुमार भद्रमुख कहे जाते है। देवता या ऋषि मुनि भगवन कहलाते है तथा मन्त्री एवं ब्राह्मण आर्य शब्द से सम्बोधित किये जाते है। पत्नी पति को आर्यपुत्र कहती है। विदूषक राजा या नायक को वयस्य कहता है। वह भी उसे वयस्य ही कहता है। छोटे लोग बड़े लोगों को तात कहते है। बड़े लोग छोटे लोगों को तात या वत्स। मध्य वर्ग के लोग परस्पर हंहो कहकर सम्बोधित करते है। निम्न वर्ग के लोग हण्डे कहकर। विदूषक महादेवी या उसकी सखियों को भवती कहकर सम्बोधित करते है। सेविकाएँ महादेवी या रानियों को भट्टिनी या स्वामिनी कहती है। पति पत्नी को आर्या कहता है। राजकुमारियाँ भर्तृदारिका शब्द से सम्बोधित की जाती है। गणिका, अज्जुका, कुट्टिनी या वृद्धा को अम्बा कहती है। सखियाँ परस्पर हला कहती है और दासियों को हज्जे कहकर सम्बोधित किया जाता है।

3. रस तथा भाव

दृश्य काव्य के भेदकों में तीसरा भेदक रस है। रस की व्यंजना करना, सामाजिकों के हृदय में रसोद्रेक उत्पन्न करना काव्य का प्रमुख लक्षण है। काव्य के पठन, श्रवण या दर्शन से जो आनन्द का अनुभव होता है। वही आनन्द रस कहलाता है। रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से होती है।

---

1. दशरूपक की भूमिका

मानव मानस के अर्धचेतन या अवचेतन भाग में जो भाव छिपे रहते है और जब हम काव्य नाटकादि में तत्तव भाव का चित्रण पढ़ते या देखते है तो छिपा हुआ भाव चेतन मन की ऊपरी सतह पर उभरकर आ जाता है और विभावादि के द्वारा पुष्ट होकर रस रूप में परिणित हो जाता है और प्रेक्षक स्वयं मनोराज्य में विचरण करने लगता है। जहाँ आनन्द ही आनन्द है और इसी आनन्द को रस की संज्ञा दी गयी है। यह लौकिक होते हुये भी अलौकिक है। दिव्य है तथा बृह्मानन्द सहोदर है।

इससे स्पष्ट होता है कि भाव ही रस है। भाव को क्षणिक संचारी भावों से पृथक करने के लिये स्थायी भाव भी कहा जाता है। यह भाव है –

रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, विस्मय, भय, शोक और नवाँ है निर्वेद। यही स्थायी भाव पुष्ट होकर क्रमशः श्रृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक, करूण और शान्त रस का रूप धारण कर लेते है।

उपर्युक्त तीन भेदकों के अतिरिक्त रूपकों में नाटकीय वृत्तियाँ (कौशिकी), सात्वती, आरभटी तथा भारती) अलंकार, रीति (वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली) संगीत तथा नृत्य, गीत, वाद्य का भी प्रमुख स्थान है। संस्कृत के अनेक नाटकों में संगीत एवं नृत्य का विनियोग पाया गया है।

इसके साथ ही पूर्वरंग और प्रस्तावना भी अच्छे नाटकों का आरम्भ करने हेतु अपेक्षित है। इसका प्रयोजन अभिनय की निर्विघ्न समाप्ति के लिये देवताओं की कृपा प्राप्त करना है। पूर्वरंग की प्रत्येक विधि का निश्चित फल है। पूर्वरंग विधि हमें संगीत मिश्रित आरम्भिक नाट्य की संस्मृति दिलाती है।[1]

भाषा

रूपकों में भाषा प्रयोग के लिये भी नाट्य शास्त्र में नियम निर्धारित किये गये है। संस्कृत का प्रयोग राजाओं, ब्राह्मणों, सेनापतियों, मन्त्रियों और सामान्यतः विद्वानों के द्वारा किया जाना चाहिये। महादेवी और मन्त्रियों की पुत्रियों के लिये भी संस्कृत का विधान है। परन्तु व्योवहार में इस नियम का निर्वाह कम ही देखा जाता है। दूसरी ओर

1. संस्कृत नाटक, ए. बी. कीथ, पृ. सं. 363

परिब्राजिकाएँ, गणिकाएँ, शिल्पकारिणियाँ आदि भी अवसरानुकूल संस्कृत का प्रयोग करती है। युद्ध, सन्धि और शुभाशुभ के वर्णन में प्रायः संस्कृत का प्रयोग करना चाहिये।

स्त्रियों तथा नीच पात्रों के विषय में सामान्य नियम है कि वे प्राकृत का व्यवहार करें। परन्तु उत्तम पात्रों के द्वारा भी कार्यवश प्राकृत का प्रयोग किया जा सकता है। बर्बरों, किरातों, आन्ध्रों और द्रविणों को शोरसैनी प्राकृत अथवा आवश्यकता पड़ने पर देशभाषा प्रयोग करनी चाहिये। इस प्रकार संस्कृत श्लोकों में संस्कृत, प्राकृत एवं देशभाषा के रूप देखे जाते है।

(ii) संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति एवं विकास

दैवी उत्पत्ति

भारतीय परम्परा के नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में नाट्य शास्त्र में दैवी उत्पत्ति और वेदों से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है। स्वर्ण युग में मनोरंजन की आवश्यकता नहीं थी। अतः रजत युग में देव जगत पिता ब्रह्म के पास गये और ऐसी वस्तु की निर्माण की प्रार्थना की जिससे द्विजातियों का ही नहीं अपितु शूद्रों का भी मनोरंजन हो और ब्रह्म ने ऋग्वेद से पाठ्यतत्व, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस ग्रहण किया। शिव ने रौद्र व्यंजक तांडव नृत्य का योगदान किया। नाट्य वृत्तियों के अविष्कार का दायित्व विष्णु ने निभाया भूतल पर स्थानान्तरित करने का कार्य भरत को करना पड़ा। देववास्तु शिल्पी विश्वकर्मा ने प्रेक्षागृह का निर्माण किया इस प्रकार पंचम वेद के रूप में नाट्य वेद का स्वरूप सामने आया।[1]

स्वाभाविक अभिनय

जब एक शिशु सामने आये और अपने से वृद्ध पुरुषों की भाषा, भावाभिव्यंजना और आचरण आदि को आत्मसात् करता है। तब इस प्रक्रिया के मूल में हमें अभिनय के ही दर्शन होते है। जब यही अभिनय सीमित क्षेत्र में मनोविनोद या काव्यानन्द की सृष्टि के लिये होता है तो इसे रूपक आदिशास्त्रीय नाम दे देते है।[2]

मानव संस्कृति के आदिकाल से ही कुछ अभिनयों के साथ स्वभावतः विनोद होता ही था।

धार्मिक नाट्य दृश्य

प्राचीन काल में राजसूय यज्ञ की गविष्टि धार्मिक नाट्य दृश्य के रूप में थी। वैदिक कालीन महाव्रत में वैश्य और शूद्रों की जो अभिनयात्मक लड़ाई होती थी, उसमें लड़ाई का एक प्रमुख अंग वाग्युद्ध भी अवश्य ही रहा होगा। इसे देखने वालों को नाटक देखने का ही आनन्द आता होगा। धार्मिक नाट्य दृश्यों का अभिनय ऋग्वेद के युग में

1. संस्कृत नाटक, ए. बी. कीथ, पृ. सं. 363
2. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. रामजी उपाध्याय, पृ. सं. 108

होता था। इस मत का प्रतिपादन यूरोपीय विद्वानों ने भी किया है।[1] ऐसे धार्मिक नाट्य दृश्यों की परम्परा आज भी जीवित है, जिनका किसी पुस्तक में निबद्ध रूप नहीं मिलता। रामलीलाएँ, विवाह के अवसर पर बारात चले जाने के पश्चात् स्त्रियों का नृत्य और नाट्य का कार्यक्रम, उसी मूल धार्मिक परम्परा से सम्बन्धित है। यद्यपि स्वरूपता उससे भिन्न है।[2]

वैदिक अभिनय का स्वरूप

वैदिक साहित्य में हमें नाटक की उत्पत्ति के अनेक स्रोत मिलते है। यज्ञरूप विष्णु का बामन रूप में अभिनय करके राक्षसों से सारी पृथ्वी ले लेना। ऋग्वेद में यम–यमी सम्वाद (10/10) पुरुरवा उर्वशी संवाद (10/95) अगस्त्य का अपनी पत्नी लोपामुद्रा और पुत्र के साथ प्रहेलिका रूप वार्तालाप (1/179) विश्वामित्र और नदियों का वार्तालाप (3/33) आदि अनेक ऐसे उदाहरण है। जो रूपकों की उत्पत्ति से स्रोत के रूप में जाने जाते है।

महाभारत युगीन अभिनय

लगभग 600 ई. पूर्व मनोविनोद के लिये नर्तकों के साथ नटों का भी सामंजस्य हो चुका था। महाभारत के सभापर्व में युधिष्ठिर ने जिस राजसूय यज्ञ का आयोजन किया उसमें आये हुये ब्राह्मणों का मनोविनोद नट और नर्तकों के द्वारा प्रस्तुत मनोरंजन से हुआ।[3]

अभिनय प्रधान कोटि के नाटक काव्य का उल्लेख रामायण और महाभारत में मिलता है। जातक काल में नट ग्राम, निगम तथा राजधानियों में तमाशा (अभिनय) करते थे। तमाशों का आरम्भ किसी मनोरम गीत से होता था। नट और नर्तकों के एक साथ ही उल्लेख अनेक जातकों में मिलते है।[4]

महाभारत के अनुसार अज्ञात वास करते हुये पाण्डवों ने अभिनय ही तो किया था। अर्थशास्त्र में मनोरंजन प्रस्तुत करने वालों में से कुछ के नाम एकत्र मिलते है। नट,

---

1. संस्कृत ड्रामा, कीथ, पृ. सं. 106
2. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. रामजी उपाध्याय, पृ. सं. 109
3. महाभारत, सभापर्व, 33/51
4. प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. सं. 315

नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव, प्लवक, सौभिक, चारण आदि। इनमें नट की विशिष्ट गणना है। जिसकी शिक्षा का प्रबन्ध राजा की ओर से भी होता था। रंगोपजीवी कुमारियों को नाट्य की शिक्षा देकर उनको रंगोपजीवी बनाया जाता था।[1]

अभिनय की धार्मिक उपयोगिता का आंकलन भरहुत और साँची के स्तूपों की परिभित्ति पर टंकित बोधिसत्व सम्बन्धी कथानकों से होता है। मूर्ति पात्रों में सजीव पात्रों की भाँति हाव–भाव, आंगिक और सात्विक अभिनय को अमर रूप प्रदान करने में कलाकार को सफलता प्राप्त हुई। ये अभिनयात्मक टंकन ई. पू. दूसरी शती के है।[2]

इस प्रकार वैदिक युग से प्राप्त होने वाले अभिनय के चिन्ह कालान्तर में क्रमशः प्रौढ़ता प्राप्त करते गये और उन्होंने रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनय द्वारा प्रेक्षकों को रसासिक्त करने का श्रेय प्राप्त किया।

नाटकों के विकास की परम्परा में सर्वप्रथम अश्वघोष का नाम आता है। इसके बाद संस्कृत नाटक उत्तरोत्तर उन्नति करते गये।

अश्वघोष

लूडर्स द्वारा तूर्फान में प्राप्त पाण्डुलिपियों के आधार पर अश्वघोष का विख्यात नाटक शारिपुत्र–प्रकरण है। जिसकी पूर्ण संज्ञा शारद्वतीपुत्र प्रकरण है। इसमें नौ अंक है। इसमें शारिपुत्र और मौदल्यायन के बौद्ध संस्कृति अपनाने का वृतान्त मिलता है। इसमें नाट्य शास्त्रीय सिद्धान्तों का स्वीकरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

दूसरे नाटक का नाम नही मिलता, फिर भी अपनी कोटि की यह निराली रचना है। इसमें बुद्धि, कीर्ति, धृति आदि भावों का मानवीयकरण करके सम्वादों के माध्यम से मानव की भावनाओं को उदात्त बनाने की योजना प्रस्तुत की गयी है।

इनका तीसरा नाटक भी खण्डित अवस्था में प्राप्त हुआ था। नाटकों में यथास्थान संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का मिश्रण है। इनका यश इनके बौद्ध होने की भूल से भारत में बहुत समय तक लुप्त रहा, परन्तु इनके दरबारी महाकाव्य बुद्धचरित की

1. अर्थशास्त्र, गणिकाध्यक्ष प्रकरण 1
2. भरहुत का जातक दृश्य अथवा साँची का छदन्त जातक दृश्य

उपलब्धि एवं प्रकाश से फिर उजागर हुआ।[1]

भास

भास को कालिदास से लगभग 100 वर्ष पहले अर्थात् 300 ई. के. आसपास मानकर उन्हें गुप्त युग के शुभागमन के अवसर पर प्रथम स्वागत गान करने वाले महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है।[2] इनका व्यक्तित्व वैष्णव आदर्शों से अनुप्राणित था। नाट्य रचना में इनकी प्रतिभा अप्रतिम थी। इनके प्राप्त तेरह रूपकों में अभिषेक, बालचरित, अविमारक, स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिमा–नाटकम् ये पाँच नाटकों की कोटि में आते है।

चारुदत्त – प्रकरण है।

पंचरात्र – समवकार है।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण – ईहामृग है।

कर्णभार, इतघटोत्कच और उरुभंग – उत्सृष्टिकांक है।

दूतवाक्य – वीथी और मध्यमव्यायोग – व्यायोग है।

उपर्युक्त भेदों की विविधता से भास की नाट्य कला का बैचित्र्य सिद्ध होता है।

अलंकारों, छन्दों, रसों, भावों आदि की निष्पत्ति में अनुपम सफलता प्राप्ति के साथ–साथ भास की भाषा प्रभावपूर्ण एवं प्रसादगुणमयी है। इनके नाटकों में संस्कृत एवं शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया गया है।

शूद्रक

शूद्रक एक महान राजा के रूप में सम्मानित थे। विद्वानों का ऐसा मत है कि ये भास के पश्चात् तथा कालिदास के पूर्व हुये।

इनकी मुख्य रचना मृच्छकटिक है। जिसमें तत्कालीन भारत का जीवित जागृत, अनुपम, सांस्कृतिक, चित्र प्रस्तुत किया गया है। नाट्य कला की दृष्टि से भी यह पूर्ण सफल रचना है।

---

1. संस्कृत नाटक, ए. बी. कीथ, पृ. सं. 72
2. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. रामजी उपाध्याय, पृ. सं. 124

भाषा की दृष्टि से मृच्छकटिक नाटक में प्राकृतों जैसी विविधता पाई जाती है। जो अन्य किसी नाटक में दृष्टिगोचर नहीं होती है।[1] भावानुभावों के साथ कतिपय रसों का परिपाक तथा सरल भाषा का सौष्ठव सर्वत्र विद्यमान है।

कालिदास

अनेक विद्वानों के मतानुसार कालिदास को विक्रमादित्य के समसामयिक माना जाता है। कहा जाता है कि वे इनकी सभा के नवरत्नों में से एक थे।[2]

इनके तीन रूपक है। अभिज्ञान शाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम् (त्रोटक) और मालविकाग्नि मित्रम्। इनमें अभिज्ञान शाकुन्तलम् सर्वश्रेष्ठ है। जिसे केवल भारत का ही नही अपितु विश्व की सर्वश्रेष्ठ कृति कहा जाता है।

कालिदास उपमा निरूपण के लिये विख्यात है। इनके नाटकों में रसों, छन्दों, अलंकारों, रीतियों, गुणों आदि का समीचीन प्रयोग मिलता है।

इनकी मुख्य भाषा संस्कृत है तथा संस्कृत के साथ गद्यमयी उक्तियों में शौरसेनी और पद्यों के लिये महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग अधिक मिलता है।

हर्ष

हर्ष सातवी शती के पूर्वार्द्ध में उत्तर भारत के सर्वश्रेष्ठ सम्राट थे। हर्ष स्वयं कवि थे और साथ ही वाण जैसे महाकवियों के आश्रयदाता भी थे। हर्ष का प्रयाग संगम पर सांस्कृतिक सम्मेलन का प्रयास सराहनीय था।

हर्ष की तीन रूपक रत्नावली (नाटिका) प्रियदर्शिका और नागानन्द सातवीं शती की विद्यमान रचनाओं में प्रसिद्ध रचना है।

हर्ष की काव्य प्रतिभा निराली है। समयोचित वर्णनों के द्वारा उनकी कृतियाँ अत्यन्त रमणीय प्रतीत होती है। उनकी संस्कृत और प्राकृत भाषा सरल, सरस एवं भावानुकूल है। हर्ष के प्रिय छन्द शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा राजोचित है।[3]

---

1. संस्कृत नाटक, कीथ, पृ. सं. 139
2. महाकवि कालिदास (डॉ. कैलाशनाथ द्विवेदी) ग्रन्थम, कानपुर 1985, पृ. 29
3. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. रामजी उपाध्याय, पृ. सं. 138

महेन्द्र विक्रम वर्मा और चर्तुभाणी

महेन्द्र विक्रम वर्मा हर्ष के लगभग समसामयिक थे। ये राजा सिंह विष्णु वर्मा के पुत्र और कांची के राजा थे। इनके व्यक्तित्व का परिचय इनकी उपाधियों, विचित्र चित्त, गुणभर, अवनिभाजन, मत्तविलास और शत्रुमल्ल से लगता है। इन्होंने मत्तविलास नामक एकांकी प्रहसन की रचना की। प्रहसन के लेखक प्रचुर मात्रा में परिहास प्रिय रहे होंगे। जैसा कि उनकी उपाधि मंत्तविलास से स्पष्ट होता है। यही एकमात्र प्रहसन है जो प्रकाश में आया है। इसलिये इसका विशेष महत्व है। वे केवल उच्च कोटि के विजेता और कवि ही नहीं अपितु शिल्पविद भी थे। उन्होंने गुफा शिल्प की शैली का प्रवर्तन किया। इसी युग की हास्यकारिणी एकांकी चतुर्भाणी मिली। इन चार भागों के नाम वर रुचि कृत उभयाभिसारिका, शूद्रक कृत पद्यप्राभृत, ईश्वरदत्तकृत, धूर्तविट संवाद तथा आर्यश्यामिलककृत पादताडितक है। इन चारों में साधारण स्त्रियों, वेश्याओं, धूर्त एवं कमियों की हास्यास्पद वार्तायें कहीं गयी है।

भवभूति

इनका प्रादुर्भाव भी सातवीं शती ई. में हुआ था। इनका जन्म विदर्भ के पदमपुर गाँव में हुआ था। भवभूति स्वयं व्याकरण, न्याय, काव्यशास्त्र में परम प्रवीण थे। इनकी काव्य प्रवीणता को देखकर राजशेखर ने कहा है कि भवभूति बाल्मीकि के अवतार है।[1]

भवभूति की तीन कृतियाँ – मालतीमाधव, महावीरचरित और उत्तररामचरित मिलती है। इन कृतियों के आधार पर ही इनकी काव्य प्रतिभा समग्र भारत में विश्रुत हुई। संस्कृत भाषा के साथ इन्होंने शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया है।

विशाखदत्त

महाराज भास्करदत्त या पृथु के पुत्र विशाखदत्त स्वयं राजा थे। इनका प्रादुर्भाव नवीं शताब्दी माना जाता है। इनकी मुख्य रचना मुद्राराक्षस है। जो अब तक की प्राप्त रचनाओं में अद्वितीय है। इस रचना से विशाखदत्त की उच्च कवित्व की साधना सिद्ध होती

1. बाल रामायण, 1/16

है। इनकी एक और रचना देवी चन्द्रगुप्त है। जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय का ध्रुव देवी के रूप में शकराज को मारने का वर्णन मिलता है।

इनकी भाषा में संस्कृत और तीन प्राकृतियों शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी का प्रयोग हुआ है। भाषा सरल, प्रभावशाली एवं अवसरानुकूल है।

भट्टनारायण

भट्टनारायण का प्रादुर्भाव 800 ई. शती के पूर्वभाग में हुआ था। इन्हें मृगराज लक्ष्मी की उपाधि से विभूषित किया गया था। इनकी कृति का नाम वेणीसंहार है, जिसे देखने से स्पष्ट होता है कि भट्टनारायण वैष्णव सम्प्रदाय के रसिक भक्त कवि थे। भरत वाक्य से किसी सहृदय राजा के आश्रय प्राप्त प्रतीत होते थे।

नाटक की शैली भाषा और भाव की दृष्टि से बलशालिनी है। कहीं–कहीं लम्बे–लम्बे समास और जटिल पद्यावली दुरुह सी है। इन्होंने संस्कृत के अतिरिक्त शौरसेनी और मागधी प्राकृत का प्रयोग किया है।

अनंग हर्ष

अनंग हर्ष या भातृराज का प्रादुर्भाव 750 ई. के पश्चात हुआ। अनंग हर्ष के नाटकों में से तापसवत्सराज मिलता है। इसकी कथावस्तु स्वप्नवासवदत्ता से मिलती है और रत्नावली के अनुरूप विकसित है।

प्राचीनकाल से ही तापसवत्सराज की काव्य रूप में अतिशय प्रतिष्ठा रही है। मम्मट और आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने इस ग्रन्थ से उदाहरणार्थ श्लोक चुने है। नाटक की भाषा सरल है इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्दों की विशेषा प्रचुरता है।

मुरारि

मुरारि सम्भवतः अनंग हर्ष के समकालीन थे। इनकी ''बाल बाल्मीकि'' उपाधि थी। अर्थात् बाल्यावस्था से ही इनकी काव्य प्रतिभा बाल्मीकि का स्मरण दिलाती थी। पुराने आलोचकों में से कुछ ने मुरारि को भवभूति से उच्चतर कोटि का कवि माना है। इनका मात्र एक ही नाटक अनर्घराघव प्राप्त होता है। जो उत्तररामचरित से उच्च नहीं कहा

जा सकता इसमें नई घटना के साथ रामकथा का अभिनव स्वरूप प्रकट किया गया है।

अनर्घराघव में मुरारि को नाट्य कला की दृष्टि से विशेष सफलता नहीं मिली फिर भी जहाँ तक काव्य कला का सम्बन्ध है, मुरारि शब्द विन्यास और उदार भावों के निरूपण में निष्णात् है। मुरारि के द्वारा प्रस्तुत सम्वाद प्रायः नीरस है।

राजशेखर

राजशेखर का प्रादुर्भाव दशवीं शती के प्रारम्भिक भाग में हुआ। कुछ विद्वान इन्हें क्षत्रिय और कुछ ब्राह्मण मानते है। परन्तु ब्राह्मण होने की सम्भावना अधिक है। क्योंकि इन्होंने स्वयं अपने को यायावर लिखा है और भ्रमणशील भिक्षुक एक ब्राह्मण ही हो सकता है।

राजशेखर महाराष्ट्र से कान्यकुब्ज देश में आकर कन्नौज के प्रतिहार बंशी राजा महेन्द्र पाल तथा महीपाल की राजसभा को अलंकृत करते थे। कवि राजशेखर का अनेक भाषाओं पर अधिकार था।

राजशेखर की रचनाओं में बालरामायण महानाटक है। बालभारत इनका अपूर्ण नाटक है। अन्य दो रूपक नाटिकाएँ है। कर्पूरमंजरी और विद्वशालभंजिका। इनमें कर्पूरमंजरी प्राकृत भाषा की अपनी कोटि की गिनी चुनी कृतियों में से है।

इनकी नाट्यकला यद्यपि हीन कोटि की है। फिर भी इनकी काव्य कला इतनी ऊँची है कि किसी रसिक को इनके नाटकों को पढ़ने से पर्यान्त आनन्द मिल सकता है। राजशेखर में शब्दों के सुविन्यास से चमत्कार उत्पन्न करने की अप्रतिम योग्यता थी। क्षेमेन्द्र ने राजशेखर की प्रशंसा करते हुये लिखा है – "शार्दूलक्रीडितेरेव प्राख्यातो राजशेखरः"।

क्षेमीश्वर

क्षेमीश्वर को राजशेखर के समकालीन माना जाता है। यह भी राजा महीपाल के आश्रय में रहते थे। इन्होंने चण्डकौशिक और नैषधानन्द नाटकों की रचना की। चण्डकौशिक में सत्य हरिश्चन्द्र की कथा नैषधानन्द में नल–दमयन्ती की कथा है।

चण्डकौशिक में उन्होंने एक अभिनव प्रकार की कथावस्तु को अपनाया है। जो इनकी रचनात्मक श्रेष्ठता का प्रमाण है।

इस प्रकार संस्कृत नाटकों के विकास की प्राचीन परम्परा समाप्त होती है। इसके पश्चात् अभिनव परम्परा का अर्विभाव हुआ, जिसमें साधारणतः उच्चकोटि की रचनाओं का अभाव सा दृष्टिगोचर होता है।

मध्यकालीन एवं अर्वाचीन रूपकों की परम्परा एवं कवि रूप गोस्वामी

चढ़ते समय के साथ यद्यपि संस्कृत भाषा का ह्रास हुआ, परन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि संस्कृत में रूपक साहित्य की परम्परा कभी विलुप्त नहीं हुई। नाटककारों को संस्कृत से इतना लगाव था अथवा नाटक के प्रेषकों का संस्कृत में इतना ममत्व था कि भारत की अन्य भाषाओं में 19वीं शती तक नाट्य साहित्य की साधारणतया रचना ही नहीं हुई और यदि हुई भी तो केवल नाममात्र के लिये। अब हम ऐसे नाटककारों का सूक्ष्म में परिचय प्रस्तुत करते है, जिन्होंने अभिनव परम्परा में संस्कृत नाटकों के विकास में योगदान दिया।

1. जयदेव ने 12वीं शती में रामायण की कथा पर आधारित 'प्रसन्नराघव' की रचना की।
2. केरल के राजकुमार रवि वर्मा ने 13वीं शती में 'प्रद्युम्नाभ्युदय' लिखा।
3. 17वीं शती में रूप कृष्ण ने 'कंसवध' की रचना की।
4. 18वीं शती में त्रिशांकुर के राम वर्मा ने "रूक्मिणी परिणय" लिखा।
5. 17वीं शती में सोमराज दीक्षित ने "श्री दामाचरित" में कृष्ण के दरिद्र मित्र श्रीदामा के प्रति उनके आत्मीय भाव का निदर्शन किया है।
6. क्षेमेन्द्र ने महाभारत की कथा पर "चित्रभारत" नामक नाटक की रचना की।
7. 11वीं शती में केरल के राजा कुलशेखर वर्मा ने "सुभद्रा धनंजय" नाटक की रचना की।
8. 12वीं शती में राजा वीसलदेव विग्रहराज ने "हरकेलि" नाटक लिखा।
9. 14वीं शती में बाणभट्ट ने "पार्वती परिणय" की रचना की।
10. 17वीं शती में जगज्जयोतिर्मल्ल ने "हरगौरीविवाह" की रचना की।

11. 14वीं शती में नेपाल के मणिक कवि ने "भैरवानन्द" लिखा।

12. 15वीं शती में हरिहर ने "प्रभावती परिणय" नाटक के अतिरिक्त भर्तृहरि निर्वेद" की रचना की।

उपर्युक्त नाटक रामायण और महाभारत की कथा का आधार लेकर लिखे गये कुछ नाटक ऐसे भी प्राप्त है जो ऐतिहासिक आधार पर लिखे गये है।

13. 1300 ई. के लगभग विद्यानाथ ने "प्रतिपरुद्र कल्याण" में अपने वारंगल के आश्रयदाता राजा का इतिहास दिया है।

14. 12वीं शती के उत्तरार्द्ध में सोमदेव ने चाहमान वंशीय राजा वीसल देव विग्रह राज पर आधारित "ललित विग्रह राज" नामक सुप्रसिद्ध नाटक लिखा।

15. 1219 से 1229 ई. तक के बीच जय सिंह सूरि ने "हम्मीर दर्शन" नाटक की रचना की। इसमें गुजरात पर आक्रमण करने वाले यवनराज हम्मीर के पराभव का चित्रण अभिप्रेत है।

16. गंगाधर ने "गंगादास–प्रताप विलास" में चम्पानीक–राजा के गुजरात के शाह मुहम्मद द्वितीय के साथ संघर्ष का वर्णन किया है।

17. 13वीं शती में हस्तिमल्ल ने "विक्रान्त कौरवम्, मैथिली कल्याण, अंजना पवंजय और सुभद्रा (नाटिका) की रचना की।

18. इसी परम्परा में 16वीं शती में महाकवि रूपगोस्वामी का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने "विदग्धमाधवम्", ललितमाधवम् की रचना की जिसमें राधाकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। ये बाल्यकाल से ही मेधावी होने के कारण संस्कृत के साथ–साथ अरबी और फारसी के भी विद्वान थे। इन्ही महाकवि तथा नाटककार "रूपगोस्वामी" के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का सर्वांगीण विवेचन ही हमारे इस ग्रन्थ का विषय है जिसका विशद वर्णन अगले अध्यायों में किया गया है।

मध्यकालीन संस्कृत नाटक

संस्कृत नाट्य साहित्य के इतिहास में लगभग 9वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक का समय मध्यकाल के रूप में अभिज्ञात हैं। संस्कृत–साहित्य में भवभूति के बाद का समय नाट्य साहित्य का अपकर्षकाल कहा जाता है किन्तु यह कहना कहाँ तक समीचीन है, इसका मूल्याङ्कन तत्कालीन कृतियों के आक्लन से किया जा सकता है। भवभूति के बाद भी मायुराज, मुरारि और राजशेखर जैसे नाटककार का आविर्भाव हुआ जिनके समय नाटकों का विकास अक्षुण्ण रूप से स्थिर रहा।

मध्यकाल के पूर्व संस्कृत नाट्य साहित्य में रूपकों का नाट्य शास्त्रीय स्वरूप सुदृढ़ हुआ किन्तु जिन कलात्मक प्रवृत्तियों का बीजारोपण या किञ्चिद् विकास उस समय हुआ उसका पूर्ण परिपारक मध्ययुग की कृतियों में दृष्टिगत हुआ। छाया नाटक जैसे रूपकों का जो बीजाधान भास के 'स्वप्नवासवदत्तम्' और 'प्रतिमा नाटकम्' में हुआ उसका ईषद् विकास 'कुन्दमाला' और 'उत्तररामचरितम्' में देखने को मिला किन्तु इसका पूर्ण विकास मध्ययुगीन नाटकों में विकसित हुआ। इनमें 'धर्माभ्युदयं, 'उल्लासराघव' 'दूताङ्गद' और 'कपट' नाटक इत्यादि उल्लेखनीय हैं। 'प्रबोध चन्द्रोदय' और 'मोहराज–पराजय' जैसे नाटकों का मध्ययुग के सम्यक् विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। ऐसी नाट्य कृतियों की अपेक्षा करना संस्कृत नाट्य साहित्य के विकास को मात्र विदूषित करना है। इसका नाट्य कला के विकास में अतीव महत्व है।

मध्ययुग में ऐसी बहुत सी नाट्य कृतियां प्रतीत हुई जिनका रसविलास एवं कथा–प्रपंच की कला–कुशलता और सौन्दर्य आदि की दृष्टि से अत्यन्त महत्व है।

इन रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का चाक्षुष चित्रण दर्शनीय है। ऐसी नाट्य कृतियों में लगभग 12वीं शताब्दी के राम यद्मुनि का 'प्रबुद्धरोहिणेयम्' विश्व–नाट्य वाङ्मय में अपने अभिनय कला कौशल के लिये प्रख्यात है। भगवदज्जुकीय नामक प्रहसन भी अपनी रसमयता से समस्त सामाजिकों के हृदय को भावाविभूत कर देने वाला उत्तम रूपक है।

---

1. हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी डॉ. एस. एन. दास गुप्त, वाल्यूम 4, पृ. 394

मध्यकाल का युग भारतीय सामाजिक–संचेतना का युग था। यह वह समय था जब सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक समुन्नति अवरूद्ध थी। सर्वत्र विप्लवकारी घटनाएं अपना अस्तित्व जमा रही थीं। लोगों में भय और निराशा का वातावरण व्याप्त था। ऐसे परिवेश में आवश्यक था कि वीरोत्तेजक और उत्साहवर्द्धक काव्यों का प्रणयन किया जाये जो सामाजिक सञ्चेतना से जुड़कर लोगों को साहस और धैर्य की प्रेरणा प्रदान करें। इसके लिये साहित्य सेवियों ने नाट्य–साहित्य से सम्बन्धित नाटकों में अभिनव संविधान, नवीन नाट्य विधाओं और नये प्रयोगों का आश्रय लेकर डिम, व्यायोग, समवकार इत्यादि रूपक के अन्य भेदों में रचना करना प्रारम्भ किया। इनसे वीरों को उत्साहित करने और समाज तथा संस्कृति को विध–नाटककारी शक्तियों को पराभूत करने की प्रेरणा प्राप्त हुई।

ऐसे साहित्य सेवियों में वत्सराज का प्रयास प्रशंसनीय है। जिन्होंने त्रिपुरदाह डिम किरातार्जुनीय–व्यायोग और समुद्रमन्थन समवकार जैसे रूपकों का प्रणयन किया। इनसे निरूत्साह लोगों को उत्साह और राष्ट्र रक्षा में निर्बल लोगों को बल मिला। वत्सराज ने राजाओं को विघटनकारी शक्तियों का विनाश करने के लिये संघ बनाने का निर्देश दिया और युद्ध–निनाद को समुत्थित करने हेतु समाज तथा राजाओं को मन्त्र प्रदान किया।

'औदार्य शौर्यरसिकाः सुखयन्तु भूपाः'।

ऐसे ही नये प्रयोगों में 'हनुमन्नाटक', 'बाल रामायण', 'अनर्घराघव' और 'वीणावासवदत्त' उत्कृष्ट रचनाएं हैं।

यह वह समय था जब लोग अपनी स्वतन्त्रता और भारतीय संस्कृति की सुरक्षा के लिये आत्म–बलिदान करने के लिये विवश थे। मध्ययुगीन काव्यों में भी जन–जागरण का स्वर गूंज रहा था। तत्कालीन त्याग और बलिदान का वर्णन मध्ययुगीन नाट्य कृतियों में सहजता से देखा जा सकता है। कवियों ने अपनी कला–कुशलता से घटनाओं और मानवीय आदर्शों को नाटकीय रूप देकर शौर्य–प्रदर्शन का सुन्दर वर्णन किया है।

ऐसे नाट्टकारों में 'वीरसूरि' का नाम धन्य है जिन्होंने 'हम्मीरमदमर्दन' जैसे ग्रन्थ में भारतीय वीरों का गुणगान किया है। इसके अतिरिक्त भी 'कौमुदी महोत्सव',

'विद्धशालभञ्जिका', 'वर्ण सुन्दरी', 'ललित विग्रहराज', 'मोहराज पराजय', 'पारिजातमञ्जरी' आदि उल्लेखनीय नाट्यकृतियां है जिनसे ऐतिहासिक घटनाओं का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। मध्ययुगीन नाट्य कृतियां आधुनिक चलचित्र जगत के लिये भी उपादेय कही जा सकती है क्योंकि रामचन्द्र के कौमुदी मित्रानन्द अथवा रामभद्र मुनि के प्रबुद्ध रोहिणेयम् में चलचित्र की मूलप्रवृत्तियां द्रष्टव्य है।(1)

इस प्रकार मध्य कालीन संस्कृत नाट्य–साहित्य का उपर्युक्त आक्लन करने पर यह ध्यातव्य है कि मध्य युग में संस्कृत नाटकों का विविध आयामों में प्रणयन किया गया। रूपक के लगभग सभी भेदों में रचनायें हुई। इन सबकी क्रमबद्ध सूची समयानुसार दर्शनीय है।

	महानाटक	**समय (लगभग)**	**नाटककार**
1.	हनुमन्नाटक (राम कथा 14 अंक)	नवम शताब्दी	दामोदर मित्र
2.	बाल रामायण	दशम शताब्दी	राजशेखर
3.	बाल भारत	दशम शताब्दी	राजशेखर
4.	संकल्प सूर्योदय	चतुर्दश शताब्दी	वेदान्त देशिक (वेंकटनाथ)
5.	महानाटक (रामकथा 9 अंक)	नवम शताब्दी	हनुमान
	नाटक		
1.	कौमुदी महोत्सवम्	नवम शताब्दी	अज्ञात स्त्री कवि (विज्जका)
2.	तापस वत्सराजम्	नवम शताब्दी	अनङ्ग हर्ष (मायुराज)
3.	आश्चर्य चूडामणि	नवम शताब्दी	शक्ति भद्र
4.	अनर्घराघवम्	नवम शताब्दी	मुरारि
5.	तपसी–संवरणम्	नवम शताब्दी	कुलशेखर वर्मन्
6.	सुभद्राधनञ्जयम्	नवम शताब्दी	कुलशेखर वर्मन्
7.	चण्डकौशिकम्	दशम शताब्दी	क्षेमेश्वर

1. मध्य कालीन संस्कृत नाटक : राम जी उपाध्याय

8.	ललित विग्रहराजम्	द्वादश शताब्दी	सोम देव
9.	हरिकेलि नाटक	द्वादश शताब्दी	विग्रहराजदेव
10.	नल विलास	द्वादश शताब्दी	रामचन्द्र
11.	सत्य हरिश्चन्द्रम्	द्वादश शताब्दी	रामचन्द्र
12.	रघुविलासम्	द्वादश शताब्दी	रामचन्द्र
13.	ययाति चरितम्	त्रयोदश शताब्दी	रूद्रदेव (राजा)
14.	वीणा वास वदत्तम्	त्रयोदश शताब्दी	– "
15.	हम्मीर–मद–मर्दनम्	त्रयोदश शताब्दी	जय सिंह सुरि
16.	प्रसन्न राघवम्	त्रयोदश शताब्दी	जय देव
17.	उल्लास राघवम्	त्रयोदश शताब्दी	"
18.	प्रताप रूद्र कल्याणम्	त्रयोदश शताब्दी	विद्यानाथ
19.	विक्रान्त कौरव	त्रयोदश शताब्दी	हस्तिमल्ल
20.	मैथिला कल्याणम्	त्रयोदश शताब्दी	हस्तिमल
21.	अञ्जनापवनञ्जयम्	त्रयोदश शताब्दी	हस्तिमल
22.	प्रद्युम्नाभ्युदयम्	चतुर्दश शताब्दी	रविवर्मा
23.	भैरवानन्दम्	चतुर्दश शताब्दी	मणिक
24.	ज्योति प्रभाकल्याणम्	पञ्चदश शताब्दी	ब्रह्मसूरि
25.	पार्वती–परिणयम्	पञ्चदश शताब्दी	वामनभट्ट बाण
26.	गङ्गादास प्रताप विलासम्	पञ्चदश शताब्दी	गंगाधर
27.	भर्तृहरि निर्वेदम्	पञ्चदश शताब्दी	हरिहर
28.	मुरारि–विजयम्	पञ्चदश शताब्दी	जीवरामयाज्ञिक
29.	विदग्धमाधवम्	षोडश शताब्दी	रूपगोस्वामी
30.	ललितमाधवम्	षोडश शताब्दी	रूपगोस्वामी
	प्रतीक नाटक		
1.	प्रबोध चन्द्रोदयम्	एकादश शताब्दी	कृष्णमित्र

2.	मोहराज पराजयम्	द्वादश शताब्दी	यशपाल (जैन विद्वान्)
3.	मल्लिका मकरन्दम्	द्वादश शताब्दी	राम चन्द्र गुण चन्द्र
4.	प्रबुद्ध रोहिणेयम्	द्वादश शताब्दी	उद्दण्ड
	व्यायोग		
1.	कल्याण सौगन्धिकम्	नवम शताब्दी	नीलकण्ठ
2.	निर्भयमीय	द्वादश शताब्दी	रामचन्द्र
3.	पार्थ–पराक्रम्	द्वादश शताब्दी	प्रहलादन
4.	धनञ्जय–विजय	द्वादश शताब्दी	कचनाचार्य
5.	किरातार्जुनीयम्	त्रयोदश शताब्दी	वत्सराज
6.	सङ्खपराभवम्	त्रयोदश शताब्दी	–
7.	सौगन्धिकाहरणम्	त्रयोदश शताब्दी	विश्वनाथ
8.	भीम विक्रम	चतुर्दश शताब्दी	मोक्षादित्य
9.	नरकासुर विजयम्	पञ्चदश शताब्दी	
	प्रहसन		
1.	भगवदज्जुकीयम्	एकादश शताब्दी	–
2.	लटकमेलकम्	त्रयोदश शताब्दी	वत्सराज
3.	धूर्तसमागम	चतुर्दश शताब्दी	ज्योतिरेश्वर
	भाण		
1.	कर्पूर चरित	त्रयोदश शताब्दी	वत्सराज
2.	विटनिद्रा	चतुर्दश शताब्दी	
3.	श्रृङ्गारभूषण	पन्चदश शताब्दी	वामनभट्ट बाण
4.	दानकेलिकौमुदी (भणिका)	षोडश शताब्दी	रूपगोस्वामी
	ईहामृग		
1.	रुक्मिणी हरणम्	त्रयोदश शताब्दी	वत्सराज

1.	त्रिपुरदाहम्	त्रयोदश शताब्दी	वत्सराज
	समवकार		
1.	समुद्रमन्थनम्	त्रयोदश शताब्दी	वत्सराज
	नाटिका		
1.	विद्धशालमञ्जिक	दशम शताब्दी	राजशेखर
2.	कर्ण सुन्दरी	एकादश शताब्दी	विल्हण (नाटिका)
3.	ऊषा रागोदय	त्रयोदश शताब्दी	रूद्रदेव (राजा)
4.	पारिजात मञ्जरी	त्रयोदश शताब्दी	मदन
5.	सुभद्रा	त्रयोदश शताब्दी	हस्तिमल्ल
6.	रम्भा मञ्जरी	त्रयोदश शताब्दी	
7.	कुवलयावली	चतुर्दश शताब्दी	
8.	चन्द्र कला	चतुर्दश शताब्दी	विश्वनाथ महापात्र
9.	कनक लेखा–कल्याणम्	पंचदश शताब्दी	वामनभट्ट बाण
10.	वृष भानुजा	पंचदश शताब्दी	गोकुलदास
	ऐतिहासिक रूपक		
1.	कौमुदी महोत्सव	नवम शताब्दी	
2.	विद्धशालमञ्जिका	दशम शताब्दी	
3.	कर्ण सुन्दरी	एकदाश शताब्दी	
4.	ललित विग्रह राजम्	द्वादश शताब्दी	
5.	मोहराज पराजय	द्वादश शताब्दी	
6.	पारिजातमञ्जरी	त्रयोदश शताब्दी	
7.	हम्मीर–मद–मर्दनम्	त्रयोदश शताब्दी	
8.	प्रताप रूद्र कल्याणम्	त्रयोदश शताब्दी	
9.	गंगा दास प्रतापविलासम्	पञ्चदश शताब्दी	
10.	शङ् खपरा भवम्	त्रयोदश शताब्दी	

11.	वसुमतीमानविक्रमम्	पञ्चदश शताब्दी

छाया नाटक

1.	हनुमन्नाटक	नवम शताब्दी
2.	धर्माभ्युदय	त्रयोदश शताब्दी
3.	दूताङ्यम्	त्रयोदश शताब्दी
4.	उल्लासराघव	त्रयोदश शताब्दी
5.	कमलिनी राजहंस	चतुर्दश शताब्दी
6.	सुभद्रा परिणयनम्	पञ्चदश शताब्दी
7.	रामाभ्युदय	पञ्चदश शताब्दी
8.	पाण्डवाभ्युदयम्	पञ्चदश शताब्दी
9.	शामा मृतम्	पञ्चदश शताब्दी

प्रथम अध्याय

- ‘विदग्धमाधवम्’ के प्रणेता ‘श्री रूपगोस्वामी’ का जीवन परिचय, जीवन काल
- ‘श्री रूपगोस्वामी’ का पाण्डित्य एवं व्यक्तित्व समसामयिक सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का उनके जीवन पर प्रभाव

प्रथम अध्याय

1. 'विदग्धमाधवम्' के प्रणेता श्री रूपगोस्वामी का जीवन वृत्त

उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर रूपगोस्वामी को बंगाल देश का निवासी माना गया हैं। भक्ति रत्नाकर के अनुसार पूर्वी बंगाल के जैसोर के समीप फतेयाबाद में इनका जन्म स्थान था। इस स्थान पर लगभग चौंदहवीं शताब्दी के अन्त में रूप गोस्वामी के पूर्वज आकर बसे थे, इसके पूर्व इनके पूर्वज कर्नाटक प्रदेश के निवासी थे जो भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण के रूप में प्रतिष्ठित थे।[1] रूप गोस्वामी के भतीजे श्री जीव गोस्वामी ने 'लघुतोषणी' नामक ग्रन्थ में अपने पूर्वजों का सविस्तार वर्णन किया हैं। इसी के आधार पर रूप गोस्वामी के जीवन वृत्त का ज्ञान परवर्ती मनीषियों के लिये अत्यन्त सुलभ हो गया। चैतन्य–चरितामृत' और चैतन्य–चरितावली जैसे ग्रन्थों में श्री रूप गोस्वामी के जीवन के विविध पक्षों का अध्ययन किया जा सकता हैं।[2]

जगद्गुरू सर्वज्ञ, रूपगोस्वामी के वंश–वृक्ष के मूलाधार माने जाते हैं। इनका जन्म कर्नाटक के भारद्वाज गोत्रीय–ब्राह्मण परिवार में सम्पन्न हुआ था। उनके एक पुत्र हुआ जिसका नाम अनिरूद्ध था। अनिरूद्ध के दो पुत्र हुये; उनके नाम थे रूपेश्वर और हरिहर। रूपेश्वर अपने भ्राता हरिहर द्वारा घर से निष्कासित कर दिये जाने पर कर्नाटक प्रदेश को छोड़कर पूर्व की ओर शिक्षेश्वर के राज्य में पहुँच गये। वहीं पर उनके पद्मनाभ नाम का एक पुत्र हुआ जो बड़ा होने पर अपने प्रवास–स्थल को परिवर्तित कर बंगाल प्रदेश में प्रविष्ट हुआ और वहीं भागीरथी तट के पास नवहट्ट नामक स्थान पर निवास करने लगा। कुछ ही समय बाद पद्मनाभ दनुज–मर्दन राज गणेश के शासन में मंत्री पद पर नियुक्त हो गये। यह भी बलिष्ठ शासक था जिसने 1405 ई. में समसुद्दीन द्वितीय को पराजित किया था।

पद्मनाभ के पाँच पुत्र और आठ कन्यायें हुई जिनके पुरुषोत्तम, जगन्नाथ, नारायण, मुरारि और मुकुन्ददेव जैसे नाम रखे गये। मुकुन्ददेव सबसे कनिष्ठ पुत्र थे। इनके

---

1. चैतन्य–चरिताबली–प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, खण्ड–4, पृ. 38
2. चैतन्य चरितामृत

भी एक पुत्र हुआ जिसका नाम कुमारदेव था। कुछ दिनों बाद कुमारदेव भी नवहट्ट नामक स्थान का परिवर्तन कर पूर्वी बंगाल के जैसोर के समीप फतेयाबाद में जाकर बस गये। वहीं पर मधयपुर निवासी हरिनारायण विशारद की पुत्री रेवती देवी से इनका पाणि ग्रहण संस्कार भी हुआ। रेवती देवी से तीन पुत्र उत्पन्न हुये। उनके नाम थे – अमर, सन्तोष और अनूप। यही तीनों नाम आगे चलकर सनातन, रूप और बल्लभ के रूप में अभिज्ञात हुये।

जीवगोस्वामी बल्लभदेव के ही पुत्र थे जिन्होंने वैष्णव सम्प्रदाय की कृष्ण–भक्ति से प्रभावित होकर 'लघुतोषणी' नामक ग्रन्थ की रचनाकर अपने पूर्वजों के व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व को प्रकाश में लाने का पूर्ण प्रयास किया।

अमर, सन्तोष और अनूप इन तीनों पुत्रों की प्रतिभा से प्रभावित होकर कुमारदेव ने इन्हें सुशिक्षित कराने का संकल्प लिया और तत्कालीन आचार्य प्रवर 'सर्वानन्दसिद्धान्त–वाचस्पति' के संरक्षण में अपने पुत्रों को शिक्षार्जन हेतु समर्पित कर दिया। तीनों सहोदर अपने आचार्य के शिष्यत्व में संस्कृत भाषा का सम्यक् अध्ययन कर सुयोग्य विद्वान हो गये। इनके गुरू सर्वानन्द सिद्धान्त वाचस्पति अपने समय के मूर्धन्य तर्कशास्त्री थे। ये नवहट्ट में ही निवास कर रहे थे।

जिस समय रूपगोस्वामी का आविर्भाव हुआ, बंगाल में मुस्लिम साम्राज्य का शासन प्रभावी था। अतः शासन–कार्य में अरबी और फारसी भाषा का प्रयोग तथा प्रभाव अधिक था। कुमारदेव ने अपने पुत्रों को संस्कृत–शिक्षा ग्रहण कर लेने के पश्चात अरबी और फारसी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराने हेतु सैयद फखरूद्दीन से निवेदन किया। यह उस समय सप्तग्राम के भूमि अधिकारी थे। इन्हीं के शिष्यत्व को प्राप्तकर रूपगोस्वामी सहित तीनों भाइयों को अरबी फारसी की भी शिक्षा प्राप्त हुई। संस्कृत, अरबी और फारसी तीनों भाषाओं में निष्णात यह विद्वतत्रयी सर्वत्र सम्मानित हुई।

संयोगवश तत्कालीन गौड़ाधिपति अलाउद्दीन हुसेनशाह के राजमन्त्री श्री मालाधर वसु से रूपगोस्वामी और सनातन का सम्पर्क हुआ। रूपगोस्वामी और सनातन की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा एवं पाण्डित्य से मालाधर वसु बहुत ही प्रभावित हुये और सनातन सहित रूपगोस्वामी का हृदय से स्वागत किया। मालाधार वसु स्वयं भी गुणवान

था; उसने भागवत का बंगाली में अनुवाद किया था जिससे अभिभूत होकर हुसेन शाह ने 'गुणराज खान' की उपाधि से विभूषित किया था। गुणग्राही मालाधर वसु ने रूप और सनातन का हुसैनशाह से परिचित कराने का प्रबन्ध किया और उन्हें नबाब के दरबार में नियुक्त करा दिया। हुसैनशाह उनकी कर्त्तव्य निष्ठा से अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उनकी मन्त्री पद पर नियुक्ति कर दी।[1]

सनातन और रूप जिस समय हुसेनशाह द्वारा मन्त्री पद पर नियुक्त किये गये उस समय उनका नाम अमर और सन्तोष ही था। हुसेनशाह ने ही इनका यह नाम परिवर्तन कर सनातन को साकिर मलिक रूप को दबिरखास के नाम से सम्बोधित किया। सनातन हुसेनशाह के दरबार में प्रधानमंत्री और रूप गृहमन्त्री के प्रतिष्ठित पद पर आसीन होकर निरन्तर श्रीवृद्धि करते रहे। डॉ. एस. एन. दास गुप्त ने हुसेनशाह द्वारा उनके नाम परिवर्तन के साथ ही साथ हिन्दू धर्म को परिवर्तन कर इस्लाम धर्म स्वीकार करने का भी उल्लेख किया हैं।[2]

इस्लामी धर्म के प्रभाव में इनके व्यक्तित्व पर भी छाप पड़ना स्वाभाविक था, तथापि संस्कृत भाषा के प्रति इनकी सहजता और अनुराग प्रियता अक्षुण्ण ही रही। अपने राजनैतिक जीवन में सनातन और रूप साकिर मलिक और दबिरखास के नाम से ही लोकप्रिय हुये। शनैः शनैः इनकी स्थिति सुधरती गयी और इन्होंने अपने धन से 'रामकेलि' नामक स्थान पर एक सुन्दर शाही महल का निर्माण कराया। यह रामकेलि नामक स्थान गौड़ाधिपति हुसेनशाह की राजधानी 'मालदेह' के दक्षिण–पश्चिम की ओर लगभग 10 मील की दूरी पर स्थित था। यहीं पर वे दोनों भाई अपने विलासमय राजसी जीवन को व्यतीत करते हुये कई वर्षों तक निवास करते रहे। 1516 ई. के लगभग इन्होंने हुसेनशाह का दरबार परित्याग करने के पश्चात इस स्थान का भी विसर्जन कर दिया।

यह वह समय था जब चैतन्य महाप्रभु अपनी कृष्ण भक्ति रूपी ज्ञान ज्योति से इस्लाम धर्म की विसंगतियों से संत्रस्त हिन्दू धर्म को आलोक प्रदान कर रहे थे। और

---

1. एडवान्स्ड हिस्टरी ऑफ इण्डिया – डॉ. कालीकिंकर दत्त बाल्यूम–दो, पृ. 346–347
2. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी – डॉ. एस. एन. दास गुप्त बाल्यूम – चार पृष्ठ–394

यत्र–तत्र परिभ्रमण करते हुये कृष्ण–भक्ति का प्रचार कर रहे थे। इसी बीच वृन्दावन–यात्रा पर जाते हुये एक दिन उनका पर्दापण 'रामकेलि' में भी हुआ। वहाँ पहुँचने पर अन्य बहुत से अनुयायियों के साथ महाप्रभु चैतन्य को 'रामकेलि' के वासियों द्वारा आतिथ्य और अभिनन्दन से सम्मानित किया गया। महाप्रभू चैतन्य के आगमन को सुनकर सनातन और रूप भी गुप्त ढंग से उनसे मिले और उनकी भक्ति भावना से अत्यन्त अभिभूत हुये। यह समय लगभग 1514 ई. का रहा होगा।

महाप्रभू के प्रथम साक्षात्कार से ही रूप गोस्वामी अत्यधिक प्रभावित हो गये और उन्होंने उनका अनुयायी बनने का संकल्प कर लिया रूप गोस्वामी ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का संग्रह करके अपने अनुचरों के साथ फतेयाबाद के लिये प्रस्थान कर दिया। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का आधा हिस्सा गरीबों को दान करके आधी सम्पत्ति को अपने कुटुम्ब के भरण पोषण हेतु सुरक्षित कर दिया : कुछ शेष रकम (लगभग दस हजार की) को एक व्यापारी के पास इसलिये जमा कर दी जिससे सनातन को यथावसर वह काम आ सके। इसके बाद वह गौड़ प्रदेश गये ही नहीं, केवल सनातन ही अकेले नबाब के दरबार में पहुँचे। रूप (दबिर ख़ास) को साकिर मलिक के साथ न पाकर नबाब सशंकित रहने लगा और साकिर मलिक को भी विशेष प्रताड़न के साथ संरक्षित किया। साकिर मलिक भी नबाब के बन्धन से मुक्त होना चाहते थे किन्तु नबाब हुसेन शाह ने उनकी ऐसी मानसिकता समझ कर कारागार में डाल दिया।

इधर दबिर ख़ास महाप्रभू चैतन्य के पुनर्दर्शन हेतु उत्कण्ठित हुये और प्रयाग में प्रभू के आगमन की सूचना पाकर अपने अनुज अनूप (वल्लभ) के साथ प्रयाग नगर में पदार्पण किया। प्रयाग (इलाहाबाद) के दशाश्वमेघ घाट पर सैकड़ों भक्तों से परावृत्त महाप्रभू के चारों ओर आनन्दमय नृत्य हो रहा था। दबिर ख़ास और अनूप को देखकर महाप्रभू बहुत ही प्रसन्न हुये और उन्होंने उनसे सनातन का भी कुशल–क्षेम पूछा। महाप्रभु के द्वारा साकिर मलिक (सनातन) के सन्दर्भ में पूछे जाने पर दबिर ख़ास (रूप) ने नबाब हुसेनशाह द्वारा बन्दी बनाये जाने का वृत्तान्त कह सुनाया तथा सेवानिवृत्ति पाने की विवशता से क्षुब्ध साकिर मलिक (सनातन) का समाचार सुनकर महाप्रभू ने दबिर ख़ास को

आश्वस्त किया और सनातन को शीघ्र ही बन्धन से मुक्ति होने की सूचना दी। महाप्रभू ने दबिर ख़ास (रूप) को अनुज सहित अपने पास कुछ दिनों तक रूकने का आदेश भी दिया। इस प्रकार महाप्रभू के आदेश को शिरोधार्य कर रूप गोस्वामी ने अनुज सहित उनका साक्षात् दण्डवत किया। रूप की अपने प्रति अनन्य निष्ठा से महाप्रभू अत्यन्त प्रभावित हुये और उसकी कुशाग्र प्रतिभा की परख पाकर अपना शिष्यत्व प्रदान करने हेतु प्रेरित हुये। अस्तु, दस दिनों तक महाप्रभू ने रूप गोस्वामी की भक्ति के गूढ़तम तत्वों का सविस्तार परिज्ञान कराया। तत्पश्चात रूप गोस्वामी ने स्वयं उन्हीं के समक्ष यथाश्रुत भत्ति के उपदेश को तथैव विवेचन किया। भक्ति के विविध सोपानों को रूपगोस्वामी के मुख से सुनकर महाप्रभू ने उनकी योग्यता और सामर्थ्य का विधिवत् आंकलन कर लिया और रूपगोस्वामी को वृन्दावन में जाकर वहाँ के दर्शनीय स्थलों को देखने एवं वहीं पर निवास करने की आज्ञा दी। तदनन्तर स्वयं की भेंट पुनः पुरी में होने की सूचना देकर महाप्रभू वहाँ से विदा हो लिये।

रूपगोस्वामी से विदा हो लेने के बाद दूसरे दिन महाप्रभू ने वाराणसी को प्रस्थान किया। जहाँ सनातन के आगमन की उन्हें प्रतीक्षा करनी थी। सनातन महाप्रभू की कृपा से अपने कारागार अधीक्षक की सहायता से मुक्त हो गये और कारागार से मुक्त होने के बाद वह स्वयं भी महाप्रभू चैतन्य के दर्शन हेतु अग्रसर हुये। सौभाग्यवश वाराणसी में महाप्रभू के दर्शन उन्हें प्राप्त हुये। महाप्रभू ने सनातन को रूप और अनूप के सम्बन्ध में भी सूचना दी। महाप्रभू ने सनातन को भी भक्ति–दर्शन के गूढ़तम तत्वों का उपदेश दिया और उन्हें भी वृन्दावन में ही निवास करने का आदेश दिया। महाप्रभू की आज्ञा शिरोधार्य कर सनातन वृन्दावन चले गये और जीवन पर्यन्त वहीं पर निवास करते रहे। वृन्दावन में रूप और सनातन की पुनः भेंट हुई।

उधर महाप्रभू की आज्ञा पाकर रूप गोस्वामी अपने अनुज के साथ वृन्दावन पहुँचे। वहाँ पर उनकी भेंट गौड़ के भूतपूर्व महाराज सुबुद्धिराय से विश्रान्त घाट पर अचानक हो गयी जिनके द्वारा इनका आदर सत्कार किया गया और वृन्दावन के समस्त रमणीय स्थलों का परिचय कराया गया साधु–वेश धारण किये गये रूप गोस्वामी वृन्दावन

की गली–गली में कृष्ण–भक्ति का प्रचार करने लगे इस प्रकार वृन्दावन में रूप और सनातन ने महाप्रभू चैतन्य की प्रेरणा से लुप्तप्राय कृष्ण की केलि क्रीड़ा को पुर्नजीवित किया।

वैष्णव सम्प्रदाय में रूप का स्मरण सनातन से पूर्व करने की परम्परा हैं यद्यपि सनातन रूप गोस्वामी के अग्रज हैं तथापि महाप्रभू से सर्वप्रथम दीक्षा ग्रहण करने के कारण सनातन से पहले रूप गोस्वामी का नाम ग्रहण किया जाता है। रूप और सनातन ये दोनों नाम महाप्रभू चैतन्य द्वारा रखे गये थे। रामकेलि में जब महाप्रभू से इनका प्रथम साक्षात्कार दबिर ख़ास (रूप) और शकिर मलिक (सनातन) के रूप में हुआ था तभी महाप्रभू ने इनकी भक्ति–भावना से प्रभावित होकर इनके इस्लामी नामों का परिवर्तन कर रूप और सनातन के नाम से सम्बोधित किया था। वैष्णव सम्प्रदाय में यही नाम लोकप्रिय और चरितार्थ हुआ। प्रयाग में महाप्रभू चैतन्य से भक्ति के आध्यात्मिक गूढ़ तत्वों को प्रथम शिष्य के रूप में उपदेश प्राप्त करने के कारण रूपगोस्वामी सनातन से श्रेष्ठ माने जाते है और सनातन से पहले रूप का नाम सङ्कीर्तन किया जाता है।

वृन्दावन में कुछ समय व्यतीत कर लेने के पश्चात रूपगोस्वामी ने जगन्नाथपुरी में पूर्व नियोजित सूचना के अनुसार महाप्रभू के दर्शनार्थ पुनः प्रस्थान किया। अपने अनुज अनुपम सहित वह पुरी–यात्रा में जा ही रहे थे कि मार्ग में ज्वर–पीड़ा से ग्रस्त अनुपम का देहावसान हो गया। भाई की मृत्यु से विक्षुब्ध रूप गोस्वामी जब जगन्नाथपुरी पहुँचे तो सर्वप्रथम ही हरिदास जी के निवास स्थान पर रूके। रूपगोस्वामी अपनी पुरी–यात्रा में यह विचार बनाकर चले थे कि मार्ग में गौड़ प्रान्त में पहुँचकर अन्य गौड़ीय–भक्तों के साथ ही पुरी जायेंगे किन्तु विधि की विडम्बनावश अपने अनुज के देहावसान से वह अकेले ही गंगा के तट से होते हुये नीलांचल पहुँचे। गौड़ीय भक्त उनके पहले ही पहुँच चुके थे। नीलाँचल पहुँचने के पूर्व रूप गोस्वामी अपनी यात्रा के बीच ही कृष्ण–लीला को नाटक के रूप में वर्णन करने की भूमिका तैयार कर रहे थे। अपने भावों को शब्दों में सुंगुम्फित करते हुये उनको लिखते भी जाते थे। संयोग से सत्यभामापुर नामक एक गांव में एक रात्रि विश्राम

करते हुये उनको यह स्वप्न हुआ जिसमें एक दिव्य सुन्दरी उनसे कह रही थी कि हे रूप तुम मेरा नाटक पृथक भाव से लिखो, तुम्हारा यह नाटक अति सुन्दर होगा। रूपगोस्वामी ने इस स्वप्न–दर्शन पर विचार किया और उन्होंने यह अनुमान किया कि यह तो साक्षात् देवी सत्यभामा जी ही थीं इन्होंने अपनी बृजलीला का पृथक नाटक के रूप में वर्णन करने की प्रेरणा प्रदान की है। मैंने तो कृष्ण की ब्रजलीला और द्वारका लीला को एक साथ ही एक ही नाटक में वर्णन करने की रूपरेखा तैयार की थी इसी विचार मुद्रा में वह नीलांचल में श्री हरिदास के निवास स्थान पर पहुँचे श्री हरिदास का यही स्थान 'सिद्ध बकुलतला' नाम से भी प्रख्यात है। श्री हरिदास ने रूप गोस्वामी को उनके आगमन की पूर्व सूचना से अवगत कराया। महाप्रभू ने रूप के आगमन की सूचना पहले से ही बता दी थी।

महाप्रभू प्रतिदिन जगन्नाथ जी के प्रातः कालीन मङ्गला के दर्शन करके श्री हरिदास के निवास स्थान पर जाते थे। श्री हरिदास और रूपगोस्वामी के वार्तालाप चलते हुये ही महाप्रभू का आगमन हुआ। श्री हरिदास ने उनको दण्डवत प्रणाम करने के पश्चात् श्री रूप द्वारा उनके दण्डवत किये जाने का निवेदन किया। महाप्रभू ने श्री हरिदास का आलिङ्गन करके श्री रूप का भी आलिङ्गन किया। तत्पश्चात् तीनों लोग एक स्थान पर बैठ गये। महाप्रभू ने श्री रूप का कुशल इत्यादि पूँछा और फिर सनातन के सम्बन्ध में भी जिज्ञासा प्रकट की। श्री रूप ने महाप्रभू को बताया कि सनातन से तो उनकी भेंट हुई ही नही, वह तो सीधे गङ्गा के तट से होते हुये आये हैं। श्री रूप ने अपने भ्राता अनुपम के निधन का भी समाचार कह सुनाया। श्री रूप को प्रयाग में राजपथ की ओर से सनातन के वृन्दावन जाने का समाचार मिला था रूपगोस्वामी के इस सम्पूर्ण वृत्तान्त को सुनकर महाप्रभू अन्य भक्तों से भेंट करने हेतु रूप को वहीं रूकने का आदेश देकर चले गये। दूसरे दिन महाप्रभू स्वयं अपने भक्तों के साथ रूपगोस्वामी के पास पहुँचे रूपगोस्वामी ने महाप्रभू सहित समस्त भक्तों की चरण–वन्दना की। रूपगोस्वामी की ऐसी विनत–भावमयी श्रद्धा से समस्त भक्त–सम्प्रदाय प्रभावित हो गया और उन सबने श्री रूप का आलिङ्गन किया। महाप्रभू ने भी अद्वैताचार्य और श्री नित्यानन्द से श्री रूपगोस्वामी को तन–मन से शुभाशीष देने का अनुरोध किया।

इस प्रकार रूपगोस्वामी वही श्री हरिदास के वासस्थान पर निवास करते थे और महाप्रभू के प्रतिदिन दर्शन करने के साथ–साथ श्री कृष्ण की लीलाओं का उनके द्वारा श्रवण करते हुये आनन्दित रहते थे।

रूपगोस्वामी अत्यन्त विनम्र और श्रद्धालु प्रकृति के थे रथ यात्रा के एक दिन पूर्व महाप्रभू ने समस्त भक्तों के साथ 'गुण्डिचा मन्दिर' का मार्जन किया और तदनन्तर आई–टोटा नामक उपवन में जाकर फल–फूल शाकादि का भोजन भी किया। श्री रूप और हरिदास अपने को अस्पृश्य समझकर समस्त लोगों से अलग एक स्थान पर बैठ गये, और सभी के भोजन कर लेने के बाद श्री गोविन्द जी के द्वारा महाप्रभू का उच्छिष्ट प्रसाद पाकर दोनों प्रसन्नचित्त हो गये।

श्री रूप की ऐसी विनत–भावना से अभिभूत हो अन्तर्यामी महाप्रभू चैतन्य एक दिन श्री रूप से मिलने हेतु हरिदास के निवास–स्थान में पहुँचे और वहीं पर बैठ गये। श्री कृष्ण–लीला के वर्णन–प्रसङ्ग में उन्होंने रूप गोस्वामी से यह कहा कि–हे रूप ब्रजबिहारी श्री कृष्ण को ब्रज से बाहर न ले जाना श्री कृष्ण ब्रज को छोड़कर कहीं बाहर नहीं जाते हैं। महाप्रभू के इस कथन के अभिप्राय को श्री रूप तत्काल समझ गये और अपने पूर्व सत्यभामा के स्वप्न–दर्शन का अनुसरण करते हुये भाव विभोर हो उठे। श्री रूप ने भगवान कृष्ण की लीलाओं को नाटक के रूप में वर्णन करने का समाचार यद्यपि महाप्रभू से नहीं बताया तथापि सर्वज्ञ शिरोमणि ने उनके अन्तर्मन की भावनाओं का ज्ञान करके श्री रूप को श्री कृष्ण की ब्रज और द्वारका लीलाओं का पृथक–पृथक वर्णन करने का सुझाव दिया श्री रूप ने श्री कृष्ण की समस्त लीलाओं को एक ही साथ एक ही नाटक में वर्णन करने का विचार बनाया था महाप्रभू के इस सुझाव से रूपगोस्वामी अत्यन्त आकृष्ट हुये और महाप्रभू द्वारा अपने भावों को समझ लेने से सङ्कुचित भी हुये। महाप्रभू ने रूपगोस्वामी से श्री कृष्ण की विविध लीलाओं के अलग–अलग महत्वों का भी वर्णन किया इनका विवेचन कृष्ण की लीलाओं से सम्बद्ध नाट्य कृतियों के वर्णन–प्रसङ्ग में पुनः करेंगे।

श्री जगन्नाथ जी की रथ यात्रा का दर्शन करते हुये रूपगोस्वामी ने महाप्रभू की प्रेमोन्मतता भी देखी और रथ के आगे–आगे चलते हुये उनकी नृत्य लीला से अत्यन्त

प्रभावित हुये। महाप्रभू श्री जगन्नाथ जी के ध्यान में तन्मय होकर कुछ गुनगुना भी रहे थे रूपगोस्वामी ने उस गुन गुनाहट को सुना। महाप्रभू एक श्लोक[1] का पाठ करते थे जिसका प्रसङ्गभाव इस प्रकार था ....

'एक नायिका अपनी सखी से कहती है कि जिसने मेरी कौमार्यवस्था का हरण कर लिया था, वही अब मेरा वर है अर्थात् उसी ने मेरे साथ विवाह करके मुझे पत्नी–रूप में अङ्गीकार कर लिया है। (उसके साथ कौमारावस्था में प्रथम मिलने के समय जो चैत्रमास की रात्रि थी, अब भी) वही चैत्रमास की रात्रि है। (प्रथम मिलन के समय की भांति) प्रफुल्लित कुसुमों की सुगन्धित वायु अब भी कदम्ब–वन की ओर से मन्द–मन्द प्रवाहित हो रही है। मैं भी वही हूँ तथापि उसी रेवा नदी के तट पर वेतसी–वृक्ष के नीचे (तत्कालीन) सुरत–कौशलमय क्रीड़ा के लिये मेरा मन उत्कण्ठित हो रहा है। अर्थात् उस समय मिलन में जो सुख मिला था अब इस मिलन में वह सुख मुझे नहीं प्राप्त हो रहा है।

रूपगोस्वामी ने महाप्रभू के मुख से उक्त भावों से युक्त श्लोक का श्रवण किया और उसके अन्तस्थ भावों को समझकर तदनुकूल भावों से युक्त स्वयं भी एक दूसरे श्लोक की रचना की[2] जिसके भावानुसार, कुरूक्षेत्र में श्री श्याम सुन्दर के साथ मिलन होने के पश्चात् श्री राधा जी अपनी एह प्रिय सहचरी से कहती है – 'हे सहचरी' (जिन्होंने मेरे साथ वृन्दावन में विहार किया था) वे श्री कृष्ण यही हैं, जो अब मुझे कुरूक्षेत्र में मिले हैं एवं में भी वही राधा हूँ दोनों का यह सुगम सुख भी ठीक वैसा ही है तथापि जहाँ क्रीड़ा करते–करते श्री कृष्ण अपनी मधुर–मुरली पञ्चम स्वर में बजाते थे, यमुना के पुलिन अवस्थित उसी वृन्दावन के लिये मेरा मन व्याकुल हो रहा है।

महाप्रभू जिस श्लोक को गुनगुना रहे थे उसमें उनकी प्रेम भक्ति का व्यङ् यथार्थ सङ्केतिक था जिसे रूपगोस्वामी ने समझ लिया और उसी के अनुरूप अपना भी श्लोक लिख लिया। रूपगोस्वामी ने जो भाव समझा उसमें महाप्रभू स्वयं राधा के रूप में प्रदर्शित किये गये है। जिस प्रकार राधा श्री कृष्ण के प्रेम में एकाग्र–भाव से तन्मय होकर उन्हीं में

1. चैतन्य चरितामृतम्, पृ. 13
2. 'प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचारि कुरूक्षेत्र मिलित – स्तथाहं स राधातदिदमुमयोः सह–गम सुखम्।' चैतन्य चरितामृतम् प्रथम परिच्छेद श्लोक 387

आत्मसात् हो जाती है उसी प्रकार महाप्रभू भी राधामय होकर श्री कृष्ण की प्रेम भक्ति में अपने आप को पूर्णतया समर्पित कर देते हैं।

रूपगोस्वामी की इस प्रेमभाव भक्ति से अभिभूत हुये अन्तर्यामी महाप्रभू एक दिन श्री रूप के निवास पर पहुंचे। रूपगोस्वामी ने अपने उस श्लोक को एक तमाल–पत्र पर अंङ्कित करके अपनी झोपड़ी के एक कोने में छिपाकर रख दिया था। सर्वज्ञ शिरोमणि महाप्रभू की दृष्टि उसी तमाल–पत्र पर गयी और वह स्वयं उसे निकाल कर पढ़ने लगे। उस श्लोक को पढ़कर महाप्रभू भावाविभोर हो उठे और रूपगोस्वामी की उस प्रकार की अद्‌भुत भाव–श्रद्धा से भाव–विह्‌वल हो गये श्री रूप उस समय समुद्र–स्नान करने हेतु गये हुये थे, जब वह अपने आवास पर आये तो महाप्रभू को देखकर अत्यन्त विस्मित हुये और वह उनका साक्षात् दण्डवत करने लगे। महाप्रभू ने रूप को उठाकर अंगों से लिपटा लिया और एक चपेटा देते हुये कहने लगे कि–रूप! तुमने मेरे अन्तर्मन की भाव–भक्ति के गूढ तत्वों को कैसे जान लिया। इतना कहते हुये महाप्रभू ने श्री रूप को दृढ़तापूर्वक आलिङ्गन किया! उस श्लोक को लेकर महाप्रभू स्वरूप दामोदर के पास गये और उनसे रूप द्वारा अपने हृदय की बात जान लेने का वृत्तान्त कह सुनाया। श्री स्वरूप दामोदर ने श्री रूप पर उनकी कृपा का वर्चस्व बताकर आह्‌लादित किया। महाप्रभू ने श्री स्वरूप दामोदर से रूप गोस्वामी के प्रथम मिलन से लेकर उस समय तक की सम्पूर्ण घटनाओं का परिचय दिया और उसकी पात्रता के सन्दर्भ में भी पूर्ण अभिज्ञान कराया। महाप्रभू ने प्रयाग में भक्ति के गूढ़ तत्वों का उपदेश दिये जाने का वृत्तान्त भी बताया। इस प्रकार महाप्रभू ने भी स्वरूप दामोदर से भी यह अपेक्षा की कि वह श्री रूप को भक्ति–रस के तत्वों का उपदेश दें क्योंकि श्री कृष्ण का ही भक्ति रस में सुचारू रूप से वर्णन करने में वह पूर्णरूपेण समर्थ और योग्य थे। श्री रूप पर महाप्रभू की ऐसी अनुकम्पा का पूर्वाभास स्वरूप दामोदर को श्लोक देखते ही हो गया था। अस्तु, महाप्रभू से श्री रूप के प्रति उनके स्नेह–भाव को देखकर स्वरूप–दामोदर ने 'फलेन फल कारणमनुमीयते' का अनुमान करके महाप्रभू की बातों का पूर्ण समर्थन किया।

श्री जगन्नाथ जी की रथ यात्रा के चार–मास व्यतीत कर लेने के पश्चात, अन्य

गौड़ीय वैष्णव–भक्त स्वदेश लौट गये किन्तु रूप गोस्वामी श्री हरिदास के पास ही रूके रहे। एक दिन महाप्रभू ने पुनः उनके निवास स्थान पर अचानक पदार्पण किया। उस समय रूपगोस्वामी नाटक लिख रहे थे महाप्रभू का आगमन देखकर उन्होंने उनका चरण–वन्दन किया और महाप्रभू भी उन दोनों लोगों का आलिङ्गन करके आसन पर विराजमान हो गये।

महाप्रभू ने रूप से उनके लेखन की जिज्ञासा की। महाप्रभू स्वयं एक पन्ना उठाकर पढ़ने लगे। रूपगोस्वामी द्वारा प्रणीत मोतियों जैसे अक्षर को देखकर महाप्रभू अत्यन्त प्रसन्न हुये और उस पन्ने पर लिखे गये श्लोक की प्रशंसा करने लगे। वह श्लोक पढ़कर महाप्रभू प्रेमाविष्ट हो गये। रूपगोस्वामी उस समय विदग्ध् माधवम्[1] नाटक की रचना कर रहे थे उसी में वह श्लोक था जिसे पढ़कर महाप्रभू गद्‌गद हो उठे।

एक दिन पुनः महाप्रभू रूपगोस्वामी से मिलने हेतु उनके आवास पर आये। इस बार उनके साथ में श्री सार्वभौम जी, श्री रामा नन्द जी तथा श्री स्वरूप दामोदर भी आये थे। महाप्रभू ने उन सबके समक्ष रूपगोस्वामी का गुण–कीर्तन किया और उनसे उनके द्वारा रचित 'प्रियः सौऽयं' तथा 'तुण्डे ताण्डविनी' इन दोनों श्लोकों को सुनाने का आग्रह किया। रूपगोस्वामी ने सङ्कोच करते हुये महाप्रभू की आज्ञा का पालन किया और अपने उन श्लोकों को सुनाया जिसे सुनकर सभी भक्तों को परम आनन्द प्राप्त हुआ। सभी ने उन श्लोकों की भूरि–भूरि प्रशंसा भी की। रूपगोस्वामी ने महाप्रभू की प्रसाद प्रेरणा को ही प्रधान मानते हुये अपनी नाट्य कृतियों के अन्य श्लोकों का भी पाठ किया। समस्त भक्त–गण उनके मधुर काव्य पाठ से मुग्ध हो गये और रूपगोस्वामी को अपने तन मन से शुभाशीष देते हुये भी कृष्ण की रसमयी लीलाओं को वर्णन करने की मंगलकामना की।

इस प्रकार नीलांचल प्रदेश में महाप्रभू के साथ रूपगोस्वामी ने अपने कई महीने व्यतीत किये और फिर उनकी ही आज्ञा शिरोधार्य कर वृन्दावन वापस चले आये। महाप्रभू ने ही वृन्दावन में निवास करने की आज्ञा दी और वहीं पर कृष्ण की विविध लीलाओं का

---

1. तुण्डे ताण्डविनी .... वर्णयत् – विदग्धमाधवम् रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, श्लोक संख्या 16, पृ. 16

वर्णन करने का आदेश दिया।

महाप्रभू ने इनका प्रेमालिङ्गन किया और वृन्दावन के प्रस्थान हेतु आदेश दिया जगन्नाथपुरी से वृन्दावन आने पर रूपगोस्वामी अपने अग्रज सनातन गोस्वामी से मिले और उनके साथ वहीं पर नन्द ग्राम में वह निवास करने लगे। वहीं पर उन्होंने भक्तिपरक विविध ग्रन्थों का प्रणयन किया और मध्यकालीन संस्कृत साहित्य में कला और दर्शन की एक नवीन धारा प्रवाहित की। गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय में रूप गोस्वामी 'प्रभुपाद' की संज्ञा से अभिहित हुये और गोराङ्ग महाप्रभु के भक्तिपरक सिद्धान्तों के प्रवर्तक सिद्ध हुये। वृन्दावन में ही निवास करते हुये उन्होंने राधाकृष्ण की विविध लीलाओं का प्रतिपादन किया और वहीं पर उनकी सांसारिक जीवन लीला भी समाप्त हो गयी उनकी जीवन लीला समाप्त होने से 27 दिन पूर्व उनके अग्रज सनातन गोस्वामी की भी जीवन लीला समाप्त हो चुकी थी यह समय लगभग 1564 ई. का रहा होगा। रूपगोस्वामी की समापन तिथि अत्यन्त विवादास्पद है इसका विस्तृत विवेचन रूपगोस्वामी की स्थिति काल के निर्धारण प्रसङ्ग में विहित हैं।

जीवन काल

रूपगोस्वामी की निश्चित जन्म–तिथि के अभाव में उनका काल–निर्धारण करना अत्यन्त विवादास्पद है। सामान्यतः उन्हें सोलहवीं शताब्दी का प्रतिष्ठित आचार्य होने का गौरव प्राप्त है। अतः और बहिः साक्ष्यों के आधार पर रूपगोस्वामी के स्थितिकाल से सम्बन्धित साक्ष्य दो रूपों में प्राप्त किये जाते है :–

(1) ऐतिहासिक साक्ष्य और (2) साहित्यिक साक्ष्य

ऐतिहासिक साक्ष्य रूप गोस्वामी के प्रारम्भिक एवं राजनीतिक जीवन की ओर सङ्केत कराते है। इन्हें हम बहिः साक्ष्य के रूप में प्रमाण मान सकते है। साहित्यिक साक्ष्य रूपगोस्वामी के जीवन की साहित्य से परिचित कराने में महत्वपूर्ण योगदान रखते है।

ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार रूपगोस्वामी गोड़ाधिपति जलालुद्दीन हुसेनशाह के दरबारी मंत्री थे।[1] हुसेनशाह उस समय बंगाल के नबाब पद पर अधिष्ठित थे। इतिहासकारों ने उनका काल 1493 ई. से 1518 ई. तक माना है। इसी अवधि में रूपगोस्वामी का हुसेनशाह के दरबार में पदार्पण हुआ। इनका यह पदार्पण किस समय हुआ, यह निश्चय करना अत्यन्त विवादास्पद है।

द्वितीय साक्ष्य के आधार पर रूपगोस्वामी को महाप्रभू चैतन्य का परम प्रिय शिष्य कहा गया है। उनका यह शिष्यत्व रूप गोस्वामी ने हुसेनशाह का दरबार परित्याग करने के पश्चात ही प्राप्त किया था इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रूपगोस्वामी ने महाप्रभू चैतन्य का शिष्यत्व 1518 ई. के पूर्व ही प्राप्त किया होगा क्योंकि हुसेनशाह का शासन 1518 ई. तक ही माना गया है।

रूपगोस्वामी जिस समय हुसेनशाह के दरबार में प्रविष्ट थे उस समय वह पूर्णतया अपनी शिक्षा समाप्त कर चुके थे। संस्कृत, अरबी और फारसी तीन भाषाओं में निष्णात होने के बाद ही उनकी भेंट मालाधर वसु से हुई थी जो कि हुसेनशाह के दरबार के ही एक मंत्री थे। 'गुणराज' की उपाधि से विभूषित मालाधर ने रूपगोस्वामी की प्रतिभा से प्रभावित होकर हुसेनशाह के सम्मुख प्रस्तुत किया और उसी दरबार में उन्हें भी एक

1. हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी डॉ. एस. एन. दास गुप्त, वाल्यूम 4, पृ. 394

मन्त्री के पद पर नियुक्त किया। इस समय रूपगोस्वामी की अवस्था 20 वर्ष से कम न रही होगी यदि हुसेनशाह के दरबार में रूपगोस्वामी के कालयापन का अनुमान किया जाये तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनके जीवन के 8–10 वर्ष हुसेनशाह के दरबार में अवश्य व्यतीत हुये होंगे। उनकी सुविख्यात् लोकप्रियता एवं धनाढ्यता की स्थापना में भी 10 वर्ष से अधिक नहीं रहे होंगे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चैतन्य महाप्रभु से दीक्षा ग्रहण करने के समय उनकी अवस्था लगभग 30 वर्ष की रही होगी। इस अनुमान के आधार पर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि रूपगोस्वामी ने लगभग 1515 ई. के आसपास हुसेनशाह के दरबार का परित्याग किया होगा और इस परित्याग के कुछ ही महीने बाद उन्होंने चैतन्य महाप्रभु का शिष्यत्व प्राप्त किया होगा।

उपर्युक्त मान्यता के आधार पर 1515 ई. से 30 वर्ष पूर्व यदि रूपगोस्वामी का जन्मकाल निर्धारित किया जाये तो यह समय 1485 ई. रहा होगा।

बहिः साक्ष्यों में बहुत से ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनमें रूपगोस्वामी के स्थितिकाल को निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने रूपगोस्वामी का स्थितिकाल 1492 ई. से 1591 ई. माना है इनके अनुसार श्री रूप का जन्म 1491 ई. में हुआ था।[1]

श्री प्रभू दत्त ब्रह्मचारी के अनुसार रूपगोस्वामी का जन्म अनुमानतः सम्वत् 1545 (1488 ई.) के आसपास हुआ होगा।[2]

आचार्य बलदेव उपाध्याय और प्रभु दत्त ब्रह्मचारी द्वारा निर्धारित उक्त तिथियों में केवल चार वर्ष का अन्तर है। दोनों तिथियों से रूपगोस्वामी के 15वीं शताब्दी के अवसान में होने का निश्चय स्पष्ट होता है।

इन प्रमाणों के अतिरिक्त यदि हम महाप्रभू चैतन्य के जन्मकाल पर दृष्टिपात करें तो भी रूपगोस्वामी को 15वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में स्थापित किया जा सकता है। महाप्रभू का जन्म 1485 ई. में हुआ था।[3]

---

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय – भागवत सम्प्रदाय, पृ. 500
2. प्रभूदत्त ब्रह्मचारी – चैतन्य चरितावली
3. आचार्य बलदेव उपाध्याय – भागवत सम्प्रदाय, पृ. 500

रूपगोस्वामी महाप्रभू के शिष्य थे। उनकी दीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् ही उन्होंने भक्ति–मार्ग को अपनाकर भक्ति–परक ग्रन्थों का प्रणयन किया था इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री रूप का जन्म महाप्रभू चैतन्य के जन्म के बाद ही हुआ होगा। इस आधार पर उनका स्थितिकाल 1485 ई. के बाद ही स्वीकार किया जा सकता है।

रूपगोस्वामी के स्थितिकाल के सन्दर्भ में उपर्युक्त ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित किया जा सकता है कि उनका समय 15वीं शताब्दी के अवसान से प्रारम्भ होकर 16वीं शताब्दी के मध्यकाल तक रहा होगा।

कतिपय विद्वानों ने साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर भी रूपगोस्वामी के स्थिति–काल को निर्धारित करने का प्रयास किया है। इस सन्दर्भ में रूपगोस्वामी की कृतियों को साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। विद्वानों की यह मान्यता है कि रूपगोस्वामी की कुछ ऐसी रचनायें हैं जिनका प्रणयन महाप्रभू चैतन्य के शिष्यत्व ग्रहण करने के पूर्व किया गया था और कुछ रचनाएं उनके शिष्यत्व ग्रहण करने के पश्चात् प्रणीत हुई थीं। ऐसे विद्वान् रूपगोस्वामी की उन रचनाओं को, जिनमें महाप्रभू की साक्षात् वन्दना नहीं की गयी, श्री रूप के शिष्यत्व ग्रहण करने के पूर्व प्रणीत हुई मानते हैं और जिन कृतियों में महाप्रभू चैतन्य की साक्षात् वन्दना की गयी है, उन्हें उनकी दीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् प्रणीत हुई स्वीकार करते हैं। इस प्रकार की अवधारणा वस्तुतः कोरी–कल्पना सिद्ध होती है। उक्त मत के मानने वाले विद्वानों में प्रो. बाबूलाल शुक्ल का स्थान प्रमुख है। इनके मतानुसार रूपगोस्वामी का स्थिति–काल शक 1395 (1476 ई. से शक 1475 (1553 ई.) तक स्वीकार किया गया है।[1]

प्रो. शुक्ल महोदय ने रूपगोस्वामी की 'दान केलि कौमुदी' की रचना 1495 ई. में निर्धारित की है और इसे रूपगोस्वामी की प्रथम रचना होने की मान्यता दी है। इसे वह महाप्रभू चैतन्य से दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व प्रणीत हुई मानते हैं क्योंकि इसमें महाप्रभू की साक्षात् वन्दना नहीं की गयी।[2]

1. ललित माधवम् – टीका प्रो. बाबूलाल शुक्ल, चौखम्भा प्रकाशन, पृ. 13
2. ललित माधवम् – टीका वही, पृ. 12

इसी प्रकार नाटक चन्द्रिका को भी प्रो. शुक्ल ने महाप्रभू से दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व की कृति माना है।[1]

प्रो. बाबूलाल शुक्ल की उपर्युक्त मान्यता पूर्णतयः निर्मूल सिद्ध होती है 'दान केलि कौमुदी' की रचना रूपगोस्वामी ने 1549 ई. में की थी। इसका प्रमाण दान केलि कौमुदी की पुष्पिका में स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है।[2]

नाटक चन्द्रिका के सन्दर्भ में भी प्रो. शुक्ल की मान्यता स्वीकार नहीं की जा सकती इसकी रचना 'विदग्धमाधवम्' एवं 'ललितमाधवम्' नामक नाटकों की रचना के बाद ही हुई होगी क्योंकि इन्हीं नाट्य कृतियों से ही रूपगोस्वामी ने अपने लक्षण ग्रन्थ नाटक चन्द्रिका में उद्धरण दिये हैं। इन नाट्य कृतियों की रचना श्री रूप ने महाप्रभू से दीक्षा प्राप्त करने के बाद ही की थी।

विदग्ध माधवम् और ललित माधवम् का प्रत्यन क्रमशः 1532 ई. एवं 1537 ई. में किया गया था इनका रचनाकाल स्वयं रूपगोस्वामी ने ही पुष्पिका में स्पष्ट कर दिया है।[3]

उपर्युक्त विविध मत–मतान्तरों से रूपगोस्वामी के स्थितिकाल का प्रारम्भिक और मध्यम काल तो निश्चित किया जा सकता है किन्तु उनके अवसान काल का निश्चिय करना अत्यन्त संदिग्ध है। इस सम्बन्ध में भी विविध विचार–धाराएं उल्लेखनीय है।

अधिकांश विद्वान् रूपगोस्वामी का अन्तिम समय 1564 ई. मानते है। आचार्य बलदेव उपाध्याय रूपगोस्वामी को अन्तिम काल का निर्धारण 1591 ई. में स्वीकार करते है। अपने–अपने मत के समर्थन में विविध विद्वानों की अलग–अलग मान्यताएं हैं।

---

1. नाटक चन्द्रिका – भूमिका प्रो. बाबूलाल शुक्ल द्वारा चौखम्भा प्रकाशन, पृ. 22
2. ग्रथितासुमनस्सुखदा यस्य निदेशेन भणिका स्रगियम्।
   तस्य मम प्रिय सुहृदः कण्ठतटीं क्षणमलङ् कुरुताम्।। ?
   गते मनुशते शाके चन्द्रस्वर समन्विते।
   नन्दीश्वरे निवसता भाणिकेयं विनिर्मिता।।2।।
   दानकेलिकौमुदी – टीका – दक्षतर सुरेन्द्र नाथ शास्त्री, भारती रिसर्च इन्स्ट्टियूट (भारती भवन) इन्दौर (म. प्र.) वि. सं. 2039
3. विदग्धमाधवम् – टीका पं. रमाकान्त झा, चौखम्भा प्रकाशन
   ललितमाधवम् – टीका प्रो. बाबूलाल शुक्ल, चौखम्भा प्रकाशन

जो विद्वान् रूपगोस्वामी का अन्तिम समय 1564 ई. स्वीकार करते हैं, उनकी मान्यता है कि 1550 ई. तक उनके ग्रन्थों को प्रणयन का सङ्केत उपलब्ध होता है। 'उत्कलिकामञ्जरी' और 'राधाकृष्ण गणोद्देश–दीपिका' श्री रूप की अन्तिम रचनाएं मानी जाती हैं। उत्कलिका मञ्जरी की पुष्पिका में 1550 ई. में रचना–तिथि स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य हैं।[1]

1550 ई. के पश्चात् रूपगोस्वामी की किसी भी साहित्यिक कृति का साक्ष्य नहीं उपलब्ध होता। श्री प्रभूदत्त ब्रह्मचारी ने 'वृन्दावन की यात्रा' नामक पुस्तक को आधार मानकर रूपगोस्वामी के गोलोकवास की तिथि विक्रम सम्वत 1620 (1563) ई. की श्रावण शुक्ल द्वादशी प्रतिपादित की हैं।[2]

बंगाली वैष्णव साहित्य के अनुसार श्री रूप का अवसान काल 1563 या 65 ई. में माना गया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि रूपगोस्वामी का गोलोकवास लगभग 65 वर्ष की अवस्था में हुआ होगा।

उपर्युक्त मतों से भिन्न कुछ ऐसे साक्ष्य उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर रूपगोस्वामी का देहावसान 1591 ई. के लगभग स्वीकार किया जाता है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय एक ऐतिहासिक साक्ष्य को प्रमाण मानकर 1591 ई. में श्री रूप का अन्तिम काल निर्धारित करते है। इस मत के अनुसार मान सिंह द्वारा विनिर्मित गोविन्द जी के मन्दिर के शिलालेख को प्रमाण मानकर यह प्रतीत होता है। कि इसका निर्माण रूपगोस्वामी के शिष्य मान सिंह ने ही अपने गुरू की आज्ञा मानकर ही कराया था इस मन्दिर का निर्माण लगभग 1590 ई. में कराया गया था।[3] 1592 ई. में श्री रूप के अनुपस्थित होने का प्रमाण उपलब्ध होता है। 1592 ई. में श्री निवासाचार्य जब वृन्दावन की यात्रा करने गये, तब तक मन्दिर का निर्माण पूर्ण हो चुका था और उनकी भेंट गोस्वामी बन्धुओं श्री रूप और सनातन से नहीं हो सकी थी। इस आधार पर रूपगोस्वामी का अन्तिम

---

1. चन्द्राश्व भुवने शाके पौषे गोकुल वासिना।
   इयमुत्कलिका पूर्व वल्लरी निर्मिता मया।। – उत्कलिका वल्लरी पुष्पिका
2. श्री चैतन्य चरितावली – प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, पंचम खण्ड, पृ. 243
3. भागवत सम्प्रदाय – आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ. 509–510

समय 1591 ई. निर्धारित होता है। रूप और सनातन मान सिंह के गुरू बताये गये है।[1]

एक अन्य प्रमाण के अनुसार रूपगोस्वामी के भतीजे श्री जीव गोस्वामी ने जिस समय लघुतोषणी की रचना की थी उस समय गोस्वामी द्वय जीवित थे लघुतोषणी की रचना 1583 ई. में की गयी थी। इस साक्ष्य से भी श्री रूप का अन्तिम काल 1591 ई. में प्रमाणित किया जा सकता है।

रूपगोस्वामी भक्त कवयित्री मीरा के भी दीक्षा गुरू कहे गये हैं।

उपर्युक्त विविध मतों का अनुशीलन करने पर यह निर्णय नहीं हो पाता कि रूपगोस्वामी का अवसान काल कब निश्चित किया जाये। जहाँ तक उनके प्रारम्भिक काल का सम्बन्ध है वह 15वीं शताब्दी का अन्तिम चरण निश्चित हो जाता है। उनकी निश्चित जन्मतिथि के अभाव में अनुमानतः 15वीं शताब्दी का अवसान ही उनको स्थिति–काल का प्रारम्भिक चरण कहा जा सकता है।

रूपगोस्वामी के स्थिति–काल के अवसान के सन्दर्भ में यदि हम 1565 ई. तक ही उनका समय मानें तो केवल यही प्रमाण माना जा सकता है कि 1550 ई. के पश्चात् रूपगोस्वामी की किसी कृति का उल्लेख नहीं उपलब्ध होता। सारस्वत साधना में समर्पित एक ऐसे व्यक्तिव से साहित्य–सर्जना से असम्पृक्त होना मात्र उसकी अनुपस्थिति ही कही जा सकती है। इस आधार पर रूपगोस्वामी का अवसान काल 1565 ई. स्वीकार करना सामान्यतः उपयुक्त ही हैं।

इस मत से भिन्न यदि हम रूपगोस्वामी का अन्तिम समय 1591 ई. मानें तो यह सन्देह अवश्य हो सकता है कि 1550 ई. के पश्चात् 40 वर्षों का जीवन कैसे व्यतीत हुआ होगा। रूपगोस्वामी के 1550 ई. के पश्चात् किसी प्रमाणिक कर्तृत्व के अभाव में 1591 ई. की तिथि निर्धारित करना अनौचित्यपूर्ण अवश्य है। 40 वर्षों के अन्तराल में उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व की शून्यता उनकी उपस्थिति की मान्यता में बाधा अवश्य है।

1488 ई. से 1591 ई. तक का काल रूपगोस्वामी के जीवन के सौ वर्षों की महत्वपूर्ण अवधि है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस अवधि में भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली थी।

1. चैतन्य एण्ड हिज रेंज – राय बहादुर दिनेश चन्द्र सेन, पृ. 318

1488 ई. से सिकन्दर लोदी का शासन माना जाता है और 1605 ई. तक अकबर महान का शासन समाप्त होता है। मान सिंह इस अकबर महान के ही नवरत्नों में एक रत्न था। अकबर के शासनकाल में रूपगोस्वामी के होने का यही प्रमाण है कि वह उनके मंत्री मान सिंह के गुरू थे।[1] यदि इनके द्वारा निर्मित मन्दिर के शिलालेख को केवल कालाङ्कन की प्रामाणिकता की दृष्टि से अन्वेषण–सापेक्ष माने तो। रूपगोस्वामी का अवसान 1591 ई. स्वीकार किया जा सकता है।[2] वैष्णव ग्रन्थ अधिकांशतः रूपगोस्वामी को 1565 ई. तक ही स्वीकार करते है।

इस प्रकार रूपगोस्वामी का स्थितिकाल 15वीं शताब्दी के अंतिम चरण से 16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अनुमानतः स्वीकार किया जा सकता है। अधिकांश प्रमाण उन्हें 16वीं शताब्दी की अमूल्य साहित्यिक निधि स्वीकार करते हैं।

---

1. चैतन्य एण्ड हिज रेंज – राय बहादुर दिनेश चन्द्र सेन, पृ. 318
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी – टीका पं. रमाकान्त झा, पृ. 24

मध्य युगीन सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियां

भारतीय इतिहास में साम्राज्य विस्तार और शासन सत्ता के कुशल संचालन और संगठित शक्ति के समन्वय में जो श्रेय मौर्य और गुप्त साम्राज्य को प्राप्त हुआ वह काल के प्रवाह में कवलित होने से बच न सका और स्थिति यह हुई कि जगह–जगह पर छोटी–छोटी सामन्तवादी शक्तियां अपना–अपना वर्चस्व स्थापित करने लगीं। परिणाम यह हुआ कि शासन सत्ता के लोभ में समाज में लोक कल्याण की भावना का ह्रास होने लगा। हर्ष और गुर्जर प्रतिहारों जैसे शासकों ने कुछ हद तक छिन्न भिन्न शक्तियों को संगठित करने का यथासम्भव प्रयत्न किया किन्तु वह भी विघटनकारी शक्तियों का पूर्ण दमन करने में सफल न हो पाये। फलतः क्षेत्रीय स्वरूप और स्थानीय शक्तियों का तेजी से विकास होने लगा जिससे अरक्षा और अनिश्चितता की स्थिति पनपने लगी। केन्द्रीय सत्ता को शिथिलता के कारण सामन्तवाद की प्रवृत्ति बढ़ने लगी।

इन्हीं परिस्थितियों में विदेशी आक्रमणों का भी सूत्रपात होने लगा जिनके समक्ष निर्णय, नेतृत्व और कार्यान्वयन के गुणों का प्रायः अभाव ही रहा। साथ ही भारतीय जीवन, समाज, धर्म, राजनीति और प्रशासन सम्बन्धी अनेक शिथिलताओं के साक्षात्कार भी होने लगे। इस प्रकार के संक्रमण के युग को हिन्दू भारत के अन्त का युग अथवा मध्य काल के प्रारम्भ का युग जैसे अनेक प्रकारों से सम्बोधित किया जाने लगा।

इस्लामी आक्रमणों के प्रभाव में हिन्दुओं का न केवल ह्रास हुआ अपितु वे अपनी मान रक्षा के लिये भी मजबूर हो गये। ऐसे ही समय में भक्ति आन्दोलन जैसी विभीषिका में अनेक साधु सन्त एवं समाज सुधारकों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अपने अथक प्रयास से समाज के आततायी शासकों को सदुपदेश देने का प्रयत्न किया। किन्तु हिन्दू समाज पर मुस्लिम प्रभाव का आतङ्क निरन्तर श्री वृद्धि को प्राप्त करता रहा।

ऐसी परिस्थितियों की चरमोन्नति मध्यकाल में विशेष रूप से देखी जा सकती है। इस युग की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों पर विशेष प्रकाश डालना शोधकर्त्ता का अभीष्ट प्रयोजन इसलिये है क्योंकि इसी युग में रूपगोस्वामी का आविर्भाव हुआ था जिनकी नाट्य कृतियों पर शोध सम्बन्धी व्यापक वर्णन अगले अध्यायों में किया

जायेगा। उसी की पृष्ठभूमि के लिये तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों पर दृष्टिपात कर लेना परम अपेक्षित है।

रूपगोस्वामी का जिस समय आविर्भाव हुआ वह लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी का अवसान था। यह वह समय था जब सम्पूर्ण भारत छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त हो चुका था और शनैः शनै दिल्ली का शासन ह्रासोन्मुख हो रहा था इस समय गुजरात, मालवा और खान देश मध्य युग के ऐसे शक्तिशाली राज्य थे जिन पर लोगों की दृष्टि लगी हुई थी मुसलमानों के मध्य अन्तर्द्धन्द का वातावरण विद्यमान था। लोग आपसी खींचातानी में व्यस्त होकर स्वार्थ–सिद्धि के पीछे देश और जन कल्याण की भावना से विमुख हो रहे थे।

दिल्ली में अफगान सरदारों का प्राबल्य था। तत्कालीन अन्य प्रभावी शक्तियां दिल्ली के अफगान सरदारों के विरूद्ध एकजुट होकर सामना करने हेतु तत्पर थीं। अफगान सरदार इब्राहिम लोदी का शासन क्षेत्र दिल्ली, आगरा, वियाना, चन्देरी और कुछ आस–पास के राज्यों तक सीमित था। पंजाब पर दौलत खां, उसके पुत्र गाजी खां और दिलावर खां का आधिपत्य था।

इब्राहिम लोदी का वर्चस्व देखकर अन्य राज्य सशङ्कित होकर उससे स्वतन्त्र होने का उपाय खोज रहे थें पश्चिम में सिन्धु और मुल्तान तथा पूरब में जोनपुर, बंगाल, उड़ीसा स्वतन्त्र राज्य के रूप में कायम हो चुके थे मध्य में मुसलमानों के अधिकार में मालवा और खान देश के दो सशक्त राज्य थे। उत्तर और मध्य में राजपूत रियासतें विद्यमान थीं। दिल्ली की ह्रासोन्मुख स्थिति के कारण और अन्तर में मुसलमानों के पारस्परिक संघर्षों से मालवा और खान देश पर मध्य क्षेत्र के मुसलमानों का बोलबाला था।

ऐसे ही परिवेश में जोनपुर का राज्य, जो उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में स्थित था, एक शक्तिशाली राज्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। यहां के बादशाह दिल्ली से अफगान सरदारों को पराभूत करने के लिये पूरा प्रयास कर रहे थे।

1491 ई. में सिकन्दर लोदी ने बिहार पर अधिकार कर जोनपुर के अन्तिम शासक हुसैनशाह को भी विजय कर लिया हुसैनशाह को विवश होकर बंगाल के शासक के यहां शरण लेनी पड़ी।

इधर बिहार में दरिया खां लोहानी ने नेतृत्व में दिल्ली के शासन के विरूद्ध संघर्ष छेड़ा गया और अनेक बार वहां के सैनिकों का दमन किया गया उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र ने उत्तरदायित्व को सम्भाला और पूर्ववत् दिल्ली के विरूद्ध संघर्ष जारी रखा। बंगाल पर से दिल्ली का अधिकार फिरोजशाह तुगलक के समय ही विलग हो गया था अब इलियास शाह के पुत्र सिकन्दर ने समूचे बंगाल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था।

16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुसैनी वंश अपनी शक्ति सुदृढ़ कर रहा था। इस वंश के पहले शासक अलाउद्दीन हुसैन शाह (1493–1519) ने अपनी महत्वाकांक्षी प्रवृत्ति का विस्तार करते हुये सम्पूर्ण बंगाल पर अपना वर्चस्व स्थापित किया और बंगाल के योग्य शासकों में स्वनाम धन्य किया। उसने बंगाल में कई इमारतों का निर्माण भी कराया। बाबर ने अपने रोजनामचे में हुसैनशाह को हिन्दुस्तान का एक योग्य शासक माना है।[1] यह वह सम्राट था जिसने हिन्दू और मुसलमानों के आपसी अन्र्द्वन्द के वातावरण में दोनों को एक दूसरे के धर्म के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने की प्रेरणा प्रदान की और पारस्परिक सद्भावना का भाव जगाकर एक दूसरे को निकट लाने का प्रयास किया। इसी सम्राट के दरबार में रूप और सनातन दोनों भाइयों को सेवा करते हुये चैतन्य महाप्रभु के दर्शन प्राप्त हुये और उन्हीं से दीक्षा प्राप्त कर उन्होंने भारत में नवीन धर्म स्थापित करने का संकल्प लिया।

मध्ययुग में फारसी साहित्य का भी अभ्युदय हुआ। अल्बरूनी जिसका समय लगभग 10वीं शताब्दी था, संस्कृत से अरबी में अनुवाद किया। 14वीं शताब्दी में फिरोजशाह तुगलक के समय भी दर्शन, फलित ज्योतिष और शकुन सम्बन्धी ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद कराने के लिये आदेश दिये गये मुसलमानों के वर्चस्व में हिन्दू साहित्यकारों को साहित्य सृजन करने का अधिक अवसर नहीं मिल पाता था फिर भी जहां मुसलमानों का प्रभाव कम था, संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में उच्चकोटि के ग्रंथों का प्रणयन किया गया। रामानुज ने ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखकर भक्ति–सिद्धान्त की जो पुष्टि की वह अपने आप में बेजोड़ है। 12वीं शताब्दी में जयदेव ने 'गीतगोविन्द' की रचनाकर राधाकृष्ण की ब्रजलीलाओं, उनके प्रेम, वियोग और चिर मिलन का जो वर्णन किया है वह संस्कृत–साहित्य में गीति

काव्य के रूप में अनुपम देन है। मुसलमानों से अप्रभावित स्थानों में नाट्य साहित्य का भी विकास हुआ। 'ललित विग्रह राज', 'हरिकेलि नाटक', 'पार्वती परिणय', 'विदग्धमाधवम्', 'ललितमाधवम्', 'दानकेलि कौमुदी' इस युग की उत्कृष्ट नाट्य कृतियां हैं।

कृष्ण कथाश्रित नाटकों की पृष्ठभूमि

संस्कृत नाटकों के उद्भव और विकास में कृष्ण कथा अत्यन्त उपादेय हैं, संस्कृत नाट्य वाङ्मय के उद्भावक तत्वों में धार्मिक नाटकों को मानने वालों का एक ऐसा विद्वद्–वर्ग है जो धर्म से ही नाटकों की उत्पत्ति स्वीकार करता है। ऐसे विद्वानों में प्रो. लेवी, डॉ. रिजवे जैसे पाश्चात्य मनीषियों का स्थान प्रमुख है। ये विद्वान् संस्कृत–नाटकों की धार्मिक उत्पत्ति मानते हैं। धर्म प्रदान देश भारत में वैदिककाल से ही लौकिक जीवन में धार्मिक चेतना का जागरण होता रहा। भारतीय संस्कृत नाट्य वाङ्मय के उद्भव और विकास में वैदिक वाङ्मय से लोक चेतना और धार्मिक चेतना दोनों को प्रभूत प्रेरणा प्राप्त हुई। धार्मिक उत्सवों और अनुष्ठानों से सम्बद्ध दिव्य पुरुषों से अनुप्राणित भारतीयों में भक्ति–भावना और धार्मिक चेतना की जो भावना जगी वही लोकानुकृति का आश्रय लेकर नाट्यतत्त्वों में प्राण शक्ति के रूप में प्रेरित होती रही। यात्रा, राम लीला, होलिकोत्सव और दुर्गा–पूजा जैसे धार्मिक उत्सवों में देवी–सम्बन्ध समझकर ही लोगों ने इनके प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित की और तदनुकूल आचरण करने की प्रेरणा प्राप्त की।

संस्कृत साहित्य में धर्म–प्रधान कृष्ण–कथाश्रित नाटकों का उल्लेख सर्वप्रथम पतञ्जलि के महाभाष्य में मिलता है।[1] इसमें 'कंसवध' और 'बालिवध' नामक दो नाटकों में कृष्ण चरित्र का परिचय प्राप्त होता है।

'कंसवध' में रङ्गमञ्च पर पहुंच कर कृष्ण सर्वप्रथम अपने विरोधी मामा कंस के अनुयायियों का वध करते है तत्पश्चात कंस का, डॉ. कीथ ने इस नाटक को हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु के संघर्ष का प्रतीक माना है।[2]

पतंजलि के महाभाष्यानुसार, कंस वध में कृष्ण को रक्त वर्ण और कंस या बलि तथा उसके अनुचारों को काले वर्ण से सम्बोधित किया गया है।[3] कंस वध के समय रंगमंच

---

1. महाभाष्य – पतञ्जलि – 3।1।26।
2. संस्कृत ड्रामा – कीथ,–हिन्दी अनुवाद : उदय भानु सिंह, पृ. 28
3. केचिद् कंसभक्ता : भवन्ति, केचिद् वसुदेव भक्तः। वर्णान्यंत्व–खलु केचिद् कालमुखाः भवन्ति, केचिदक्तः मुखाः। – पंतजलि महाभाष्य–3।1।26

पर वासुदेव, देवकी आदि सभी लोग वहाँ उपस्थित रहते हैं। तदनन्तर कृष्ण का गोपियों के साथ प्रेम प्रसंग चलता है और उनके साथ में उनका रास नृत्य होता है।

कृष्ण परक भक्ति और तदनुकूल आचरण की प्रवृत्ति संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत और शौर सेनी भाषाओं में अवलोकनीय है। इस सन्दर्भ में लोगों की मान्यता है कि जिन लोगों के मध्य नाटक का स्वरूप सर्वप्रथम निश्चित हुआ, उनकी सामान्य भाषा शौर सेनी प्राकृत थी। यह परम्परावर्ती काव्यों में भी देखी गयी। मुस्लिम आक्रमण के पश्चात् मध्यकाल में मथुरा इत्यादि में जब कृष्ण–भक्ति का पुनर्जागरण हुआ तो वह ब्रजभाषा ही थी। इसके पूर्व उस स्थान की भाषा शौर सेनी प्राकृत थी जिसके उद्धरण संस्कृत नाटकों में प्रायः उपलब्ध होते हैं।

कृष्ण भक्ति की यह लोकप्रियता तत्कालीन यामा का महत्व अद्यापि विद्यमान है। बंगाल की यात्राओं में राधाकृष्ण की प्रणय–लीला, गोपियों का कृष्ण के प्रति आत्मिक–अनुराग और कृष्ण के वीरता पूर्ण कार्यों के वर्णन इत्यादि से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका नाटकीय शैली में प्रस्तवन प्राचीन काल से ही प्रचलित होता रहा है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रसंगों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कृष्ण जैसे दिव्य पुरुषों से प्रेरणा प्राप्त कर उनकी अनुकृति लौकिक जगत में नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किये जाने की पुरातन परम्परा रही है और इन्हीं के आधार पर संस्कृत नाटकों का प्रणयन भी होता रहा।

संस्कृत–साहित्य में कृष्ण–कथा से समन्वित नाटकों में सबसे पहला और प्रामाणिक नाटक 'बालचरित' उपलब्ध हुआ है। इसकी रचना भास ने कृष्ण चरित्र का आश्रय लेकर ही किया है। इस नाटक में कुल पांच अंक है। और कृष्ण के जन्म से लेकर कंस वध तक की कथा का पूरा वर्णन है। ऐसा प्रतीक होता है कि भास ने इस नाटक में महाभाष्यकालीन 'कंसवध' का पूर्ण अनुकरण किया है क्योंकि इस नाटक में भी नाट्य शास्त्रीय नियमों का पालन नही किया गया। रंगमंच पर वध निषेध और संस्कृत नाट्य की सुखान्त परम्परा जैसी विधियों का इन नाटकों में उल्लघंन किया गया है। भास के इस

नाटक से संस्कृत नाट्य वाङ्मय में कृष्ण–कथाश्रित नाटकों की पुरातन परम्परा का परिचय प्राप्त होता है। भास ने इस नाटक में कृष्ण को कथापुरुष मानकर सर्वप्रथम उन्ही की वन्दना की है।

'दूतवाक्यम्' भास द्वारा प्रणीत एक अन्य एकाङ्की है जिसमें महाभारत के युद्ध में पूर्व श्री कृष्ण कौरवों के पास सन्धि प्रस्ताव लेकर जाते हैं किन्तु विफल मनोरथ होकर वापस चले आते हैं। इस एकांकी का यही प्रतिपाद्य विषय है।

भास के बाद संस्कृत–नाट्य–साहित्य में कृष्ण–चरित से सम्बन्धित नाटकों में भट्ट नारायण का 'वेणीसंहार' महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। इस नाटक के शुभारम्भ में श्री कृष्ण दूत बनकर कुरूराज की सभा में जाकर सन्धि प्रस्ताव का निवेदन करते हैं किन्तु दुर्योधन श्री कृष्ण को बन्दी बना लेते है। इस अपमान से क्षुब्ध पाण्डव लोग भगवान श्री कृष्ण की भगवत्ता का गुणगान करते हुये युद्ध–घोष का निनाद समुत्थित करते हैं।

मध्य कालीन कृष्ण कथाश्रित नाटक

कृष्ण कथाश्रित नाटकों में मध्य कालीन नाटकों का भी महत्वपूर्ण योगदान है। इस काल के अधिकांशतः ऐसे नाटक है जिनमें कृष्ण को किसी नाटक विशेष की भूमिका में न लेकर नाट्य–वस्तु के प्रतिपादन में सहायक पात्र के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

दशम शताब्दी में कुलशेखर वर्ग कृत 'सुभद्रा–धनञ्जय' का परिचय प्राप्त होता है। पाँच अङ्कों के इस नाटक में कृष्ण का यत्र–तत्र आविर्भाव हुआ है। द्वादश शताब्दी के लगभग मध्य में रामचन्द्र का 'यादवाभ्युदय' नामक नाटक उपलब्ध हुआ है जिसमें कृष्ण द्वारा कंस और जरासन्ध का वध किया गया है और अन्त में कृष्ण के अभिषेक का वर्णन है। इसी शताब्दी में रुद्रदेव का 'ऊषा रागोदय' उल्लेखनीय नाटक है जिसमें कृष्ण की भूमिका उपादेय है।

वत्सराज के 'रुक्मिणी–हरण'–में कृष्ण की मुख्य भूमिका द्रष्टव्य है। इन्हीं के 'त्रिपुरदाह' और 'समुद्र–मन्थन' नामक रूपकों में कृष्ण को विष्णु के नाम से अभिहित किया गया है। इसी प्रकार की अन्य उल्लेखनीय नाट्य कृतियां है जिनमें कृष्ण–चरित का परिचय प्राप्त होता है।

त्रयोदश शताब्दी में रविवर्मा कृत प्रद्युम्नाभ्युदय। त्रयोदश शताब्दी में मोक्षादित्य कृत 'भीमविक्रम' इसमें भीम, कृष्ण और अर्जुन द्वारा जरासन्ध के वध करने हेतु गिरिव्रज में जाने का वर्णन है।

14वीं शताब्दी में राज सिंह भूपाल द्वारा प्रणीत 'कुवलयावली' नामक नाटिका में कृष्ण का कुवलयावली (रत्नपचालिका) से विवाह करने की कल्पित–कथा का वर्णन है।

पंचदश शताब्दी के पूर्वार्द्ध में 'सुभद्रापरिणयन' में रामदेव व्यास ने कृष्ण–चरित को उद्घृत किया है।

चतुर्दश शताब्दी में उमा पति उपाध्याय द्वारा प्रणीत 'पारिजात हरण' नामक रूपक में कृष्ण का सत्यभामा और रूक्मिणी के साथ उल्लेखनीय चरित द्रष्टव्य है।

पंचदश शताब्दी के धर्मसूर कृत 'नरकासुरविजय' में कृष्ण द्वारा नरक पर विजय

प्राप्त करने का वर्णन है।

मध्य कालीन कृष्ण कथाश्रित नाट्य कृतियों में लगभग पंचदश शताब्दी में मथुरादास की 'वृषभानुजा' नामक नाटिका अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं जिसमें राधा–कृष्ण के प्रणय–प्रसंग का प्रतिपादन किया गया है। इसमें वृन्दावन का वर्णन आदि प्रशंसनीय है।

इसी काल की कुछ प्राप्तांश नाट्य कृतियां हैं। जिनमें कृष्ण चरित का उल्लेख किया गया है। भेज्जल द्वारा प्रणीत राधा विप्रलम्भ नामक रासकाङ्क जैसे एकांकी रूपक उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त नाट्य कृतियों का सम्यक् अवलोकन करने पर यह आक्लन किया जाता है कि कृष्ण कथाश्रित नाटकों के प्रणयन में रूपगोस्वामी का स्थान सर्वोपरि हैं। संस्कृत नाट्य साहित्य में कृष्ण–कथा का आश्रय लेकर रूपगोस्वामी द्वारा प्रणीत, विदग्धमाधवम्, ललितमाधवम् और 'दानकेलि कौमुदी (भाणिका) अप्रतिम नाट्य कृतियां है। कृण कथा के मूल–भूत पौराणिक उललेखों का सार–संकलन ही इन तीनों नाट्य कृतियों में समाहित है। माधुर्यमय रसराज की प्रतिष्ठापना ही कवि का अभिप्रेत लक्ष्य है।

रूपगोस्वामी की नाट्य कृतियों की संक्षिप्त पृष्ठभूमि

रूपगोस्वामी की नाट्य कृतियों के पौर्वापर्य के सन्दर्भ में, उनका स्वतः प्रमाण उपलब्ध होता है। रूपगोस्वामी की कुछ तीन नाट्य कृतियां हैं – 1. विदग्धमाधवम् 2. ललितमाधवम् और 3. दानकेलिकौमुदी। इन तीनों नाट्य कृतियों की पुष्पिका में, रचनाकाल की तिथि स्पष्ट रूप से उल्लेख की गयी है। इन तिथियों के आधार पर इनका पौर्वापर्य निश्चित करना पूर्णतया स्पष्ट और असन्दिग्ध है।

रूपगोस्वामी की प्रथम नाट्यकृति विदग्धमाधवम् की पुष्पिका के अनुसार, इसकी रचना विक्रम संवत् 1589, तदनुसार 1532 ई. में स्वीकार की जाती है।[1]

द्वितीय नाट्यकृति 'ललितमाधवम्' की पुष्पिका के आधार पर इसका प्रणयन शाके 1459 अर्थात् 1537 ई. में हुआ था।[2] विदग्धमाधवम् और ललितमाधवम् की रचना–काल में केवल पाँच वर्षों का अन्तर है। इससे यह सिद्ध होता है कि विदग्धमाधवम् रूपगोस्वामी की प्रथम नाट्यकृति है और ललितमाधवम् उनकी द्वितीय नाट्यकृति है।

'दानकेलि कौमुदी' रूपगोस्वामी की तृतीय नाट्यकृति है। इसके तिथि–निर्धारण के सन्दर्भ में प्रो. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री' का यह मत है कि 'इसका प्रणयन रूपगोस्वामी ने महाप्रभू चैतन्य का साक्षात्कार प्राप्त करने के पूर्व किया था क्योंकि इसमें महाप्रभू की साक्षात् वन्दना का अभाव हैं।' इस आधार पर वह दानकेलि कौमुदी को रूपगोस्वामी की आदि रचना स्वीकार करते हैं और इसका रचनाकाल शाके 1417 (1459 ई.) निर्धारित करते हैं। इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

---

1. (नव) नवसिन्धुर बाणेन्दु संख्ये संवत्सरे गते।
   विदग्धमाधवं नाम नाटकं गोकुले कृतम्।
   विदग्धमाधवम – रूपगोस्वामी
   पुष्पिका
2. (नवेन्दु) वेदेन्दु मितिशकाव्दे शुक्रस्य मासस्य तिथौ चतुर्थ्याम्।
   दिने दिनेशस्य हरिं प्रणाम्य समापयं भद्रवने प्रबन्धम्।
   ला. मा. च.
   पुष्पिका। – रूपगोस्वामी

प्रो. बाबूलाल शुक्ल का उक्त मत पूर्णतयः अप्रामाणिक है क्योंकि 'दानकेलि कौमुदी' की पुष्पिका में उसकी रचना तिथि स्पष्ट रूप से 1549 ई. उल्लेख की गयी।[1] इसके अतिरिक्त प्रो. शुक्ल की वह मान्यता भी निरर्थक सिद्ध होती है जिसमें वह दानकेलि कौमुदी की रचना महाप्रभू के साक्षात्कार के पूर्व मानते हैं। यह निश्चित है कि 'दानकेलि कौमुदी' की रचना महाप्रभू से साक्षात्कार होने के बाद ही हुई थी क्योंकि इसके सप्तम् श्लोक में[2] रूप और सनातन का स्पष्ट नामोल्लेख किया गया है। इन दोनों नामों का निर्धारण महाप्रभू ने ही किया था। इन महाप्रभू के साक्षात्कार के पूर्व ये दोनों रूप और सनातन क्रमशः दबिरखास और शाकिर मलिक के नाम अभिज्ञात थे। ये दोनों हुसेनशाह के दरबारी नाम थे, इनका परिवर्तन महाप्रभू ने ही किया था। इस प्रमाण के आधार पर प्रो. शुक्ल की मान्यता पूर्णतया निराधार है।

नाटककार द्वारा स्वतः रचनाकाल का स्पष्ट उल्लेख किये जाने के कारण रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों के व पौर्वापर्य के सन्दर्भ में किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता है।

अतः विदग्धमाधवम्, ललितमाधवम् और दानकेलिकौमुदी रूपगोस्वामी की क्रमानुसार तीन नाट्य कृतियाँ हैं।

'नाटक–चन्द्रिका' रूपगोस्वामी द्वारा प्रणीत नाटक–काल का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया। प्रो. बाबूलाल शुक्ल भी यह रचना महाप्रभू के साक्षात्कार होने से पूर्व मानते हैं और इसमें भी महाप्रभू की वन्दना का अभाव कहकर तर्क प्रस्तुत करते है। प्रो. शुक्ल की यह मान्यता भी अप्रामाणिक है। नाटक–चन्द्रिका की रचना विदग्धमाधवम् और ललितमाधवम् के बाद ही मानी जा सकती है क्योंकि इन्हीं नाट्य कृतियों से नाटक लक्षणों के उद्धरण दिये गये है। अतएव इन दोनों नाट्य कृतियों के बाद ही इसका रचना–काल माना जा सकता है।

---

1. गते मनुशते शाके चन्द्र स्वर समन्विते।
   नन्दीश्वरे निवसता भाणिकेयं विनिर्मिता।।
2. दा. के. कौ. – पुष्पिका

1. विदग्धमाधवम्

'विदग्धमाधव' रूपगोस्वामी की प्रथम नाट्यकृति है। इस नाट्य का प्रणयन, शाके 1459 तदनुसार 1537 ई. में हुआ था।(1) सम्प्रति इसके विविध प्रकाशन उपलब्ध हुये है।(2)

यह नाटक सात अङ्कों में, अलग–अलग सात नामों से विभाजित किया गया है। घटना–क्रम के अनुसार ये नाम है :–

1. वेणुनाद–विलास, 2. मन्मथलेख, 3. राधा सङ्ग,
4. वेणुहरण, 5. राधा–प्रसादन 6. शरद् विहार और
7. गौरी–बिहार।

इस नाट्यकृति की प्रेरणा रूपगोस्वामी को महाप्रभू चैतन्य से प्राप्त हुई थी। उन्हीं के आदेश पर रूपगोस्वामी ने श्रीकृष्ण की ब्रजलीला का पृथक् वर्णन करने का निर्णय लिया क्योंकि पहले रूपगोस्वामी ने श्री कृष्ण की ब्रजलीला, मथुरा लीला और द्वारका इन तीनों लीलाओं को एक ही नाटक में निबद्ध करने की रूपरेखा तैयार की थी किन्तु महाप्रभू चैतन्य के सुझाव और आदेश पर श्री कृष्ण की ब्रजलीला को पृथक नाटक के रूप में प्रणीत किया। 'विदग्धमाधवम्' में केवल ब्रजलीला का वर्णन किया गया है। उनकी मथुरा एवं द्वारका लीलाओं को 'ललितमाधवम्' नामक द्वितीय नाट्य कृति में सुंगम्फित किया गया है। इन दोनों नाट्य कृतियों में श्री कृष्ण की अप्रकट लीलाओं तथा प्रकट लीलाओं का प्रतिपादन किया गया है विदग्धमाधवम् में अप्रकट लीला (गोलोक लीला) और ललितमाधवम् में प्रकट लीला का वर्णन उपनिबद्ध है।

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, पुष्पिका में
   नन्द सिन्धुरबाणेन्दुसंख्ये संवत्सरे गते।
   विदग्धमाधवं नाम नाटकं गोकुले कृतम्।।
   – वि. मा. – रूपगोस्वामी – पुष्पिका
2. (क) श्री विदग्धमाधव नाटक (संस्कृत मूल सहित) – श्री श्याम दास, श्री हरि नाम संकीर्तन मण्डल श्री धाम वृन्दावन द्वारा प्रकाशित।
   (ख) श्री विदग्धमाधव नाटक – हिन्दी अनुवाद – प्रकाशन, वही
   (ग) विदग्धमाधव – संस्कृत, हिन्दी टीका सहित, प. रमाकान्त झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी द्वारा प्रकाशित।

2. ललितमाधवम्

'ललितमाधवम्' रूपगोस्वामी की द्वितीय नाट्य कृति के रूप में अभिज्ञात है। इसकी संरचना शाके 1459 तदनुसार 1537 ई. में हुई थी।[1]

इसका प्रकाशन भी प्रो. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री' के प्रयास से समुपलब्ध है।[2]

'ललितमाधव' नाटक में कुल 10 अंङ्क है जिनका घटनाक्रम के आधार पर अलग–अलग 10 नामों से अभिधान किया गया है।

1.	सायभुत्सव	2.	शङ्खचूडवध	3.	उत्मत्त राधिका
4.	राधाभिसार	5.	चन्द्रावली–लाभ	6.	ललितोपलब्धि
7.	नव वृन्दा–सङ्गम	8.	नव वृन्दावन विहार	9.	चित्र दर्शन
10.	पूर्ण मनोरथ				

इस नाटक में रूपगोस्वामी ने श्री कृष्ण और राधा की वृन्दावन, मथुरा और द्वारका इन तीनों लीलाओं का लालित्यमय वर्णन किया है। समृद्धमत शृंगार के विप्रलम्भ पक्ष का, शास्त्रीय सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठापन ही प्रस्तुत नाट्य कृति का अभिप्रेत लक्ष्य है। इसके प्रतिपादन में अपेक्षित श्री कृष्ण के चरित को प्रमुख स्रोत समझकर उनकी विविध लीलाओं का आश्रय लिया गया है। 'न बिना विप्रलम्भेनसम्भोगः पुष्टि गश्नुते'–इस सूक्ति के अनुसार सम्पूर्ण नाट्य कृति में श्री कृष्ण को श्री राधिका से वियुक्त प्रदर्शित कर नाटक के अन्त में समस्त रहस्यों को समुत्घाटित कर राधा–कृष्ण का नित्य संयोग कराया गया है।

---

1. ललितमाधव नाटक – पुष्पिका
2. (क) ललितमाधव नाटक – नारायणी संस्कृत टीका – द्वारा प्रो. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री', चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

   (ख) चार अन्य पाण्डुलिपियां देव नागरी एवं बंगला लिपियों में भण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर पूना एवं कलकत्ता स्थित विक्रम ज्योति प्रकाशन संस्थान।

दानकेलि-कौमुदी की कथावस्तु

रूपगोस्वामी के दृश्य काव्यों में दानकेलि–कौमुदी तृतीय नाट्य कृति है। यह रूपकों में एक रूप 'भाणिका' कोटि की सर्वोत्तम कृति है। इस नाट्य कृति में केवल एक अङ्क है जिसमें 99 श्लोक और तीन दृश्य हैं। इसकी रचना रूपगोस्वामी ने शक सम्वत् 1471 तदनुसार 1549 ई. में की थी। इसका प्रमाण दानकेलि कौमुदी की पुष्पिका में द्रष्टव्य है।[1]

इस नाटय कृति का प्रणयन रूपगोस्वामी ने वृन्दावन में नन्दीश्वर ग्राम में निवास करते हुये पूर्ण किया था इसकी प्रेरणा रूपगोस्वामी को महाप्रभू के एक वरिष्ठ अनुयायी श्री रघुनाथ दास गोस्वामी द्वारा प्राप्त हुई थी यह राधा कुण्ड में निवास करते थे। दानकेलि कौमुदी की रचना के पूर्व 'ललितमाधवम्' नामक नाटक प्रणीत हो चुका था। यह 10 अंकों में निबद्ध राधा–कृष्ण के वियोग–जन्य विप्रलम्भ–शृङ्गार का सर्वोत्कृष्ट नाटक माना जाता है। संयोगवश एक बार इसके पढ़ने का सौभाग्य श्री रघुनाथ दास गोस्वामी को भी हुआ। इसे पढ़कर वह अत्यन्त द्रवित हो गये और राधा कृष्ण की वियोगावस्था से अभिभूत होकर मानसिक–वेदना का अनुभव करने लगे। वे बहुत उदास हुये और राधाकृष्ण को पुनः संयोग–स्थिति में लाने के प्रयास में संलग्न हुये। रूपगोस्वामी ने अपने मित्र की मनस्–चिन्ता का अनुभव किया और उनके मन बहलाव के लिये 'दानकेलि कौमुदी' की संरचना की। रूपगोस्वामी की इस आत्मीयता और आह्लाद्दायिनि नाट्यकृति से श्री रघुनाथ जी इतना प्रभावित और प्रसन्न हुये कि वह स्वयं इससे प्रेरित होकर 'मुक्तावली' और 'दानकेलि चिन्तामणि' की तदनुकूल संरचना करने में सफल हुये।

---

1. दा. के. कौ. पुष्पिका

द्वितीय अध्याय

नाटककार 'श्री रूपगोस्वामी' का कृतित्व तथा उन पर पूर्ववर्ती पौराणिक साहित्य का प्रभाव

द्वितीय अध्याय

(i) रूपगोस्वामी का कृतित्त्व

सोलहवीं शताब्दी की संस्कृत साहित्य की श्री वृद्धि में रूपगोस्वामी का कवित्व और आचार्यत्व अत्यन्त ही श्लाघ्य है। अपनी प्रतिभा और पाण्डित्य के निकर्षभूत लक्ष्य और लक्षण ग्रन्थों की प्रणयन से काव्य सर्जन का जो मणि–कांचन संयोग समुपस्थित किया, वह रूपगोस्वामी के कृतित्त्व का स्पष्ट और प्रामाणिक निदर्शन है।

रूपगोस्वामी की काव्य कृतियों के सन्दर्भ में श्री जीव गोस्वामी ने अपने पितृव्य श्री सनातन गोस्वामी द्वारा प्रणीत लघु भागवतामृतम् की 'लघु–तोषणी' नामक व्याख्या में सनातन तथा रूपगोस्वामी दोनों बन्धुओं की कृतियों का उल्लेख किया है जिसके आधार पर रूपगोस्वामी की तेरह रचनाओं का परिचय प्राप्त होता है। इन कृतियों के अतिरिक्त भी रूपगोस्वामी की अन्य कृतियों का उल्लेख उपलब्ध होता है, जो यत्र–तत्र विकीर्ण होकर बाद में स्तोत्रावली, पद्यावली, विरूदावली और वर्णन–माहात्म्य के रूप में संग्रह की गयीं। रूपगोस्वामी की काव्य कृतियों में दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार की रचनाएं प्रणीत हुई हैं।

श्री जीव गोस्वामी कृत लघुतोषणी–व्याख्या के अनुसार रूपगोस्वामी की कृतियां निम्नलिखित हैं।[1]

1. हंसदूतम् 2. उद्धव सन्देश 3. अष्टादशछन्दस्
4. उत्कलिका वल्लरी 5. विदग्धमाधवम् 6. ललित माधवम्

---

1. तयोर नुज श्रेष्ठेषु काव्यं श्री हंस दूतकम्।
श्री मदुद्धवसन्देशश्छन्दोऽष्टादशकं तथा।।
स्तवश्चोत्कलिका वल्ली गोविन्द विरुदावली।
प्रेमेन्दु सागराधाश्च बहवः सुप्रतिष्ठताः।।
विदग्धललिताग्राख्यमाधवं नाटक द्वयम्।
भाणिका दानकेलाख्या रसामृतयुगं पुनः।।
मथुरा महिमा पद्यावली नाटक चन्द्रिका।
संक्षिप्तं या भागवतामृतं चैते च संग्रहाः।।
– लघुतोषणी – जीव गोस्वामी

7. दानकेलिकौमुदी 8. भक्ति रसामृत सिन्धु 9. उज्ज्वल नीलमणि
10. मथुरामाहात्मय 11. पद्यावली 12. नाटक चन्द्रिका
13. संक्षेप भागवतामृतम्

'भक्ति रत्नाकर' ग्रन्थ में भी रूपगोस्वामी की इन कृतियों के अतिरिक्त अन्य कृतियों का उल्लेख किया गया है।[1]

रूपगोस्वामी की उपर्युक्त काव्य–कृतियों का उल्लेख चैतन्य चरितामृतम् में भी द्रष्टव्य है।[2]

रूपगोस्वामी की कृतियों पर सम्यक् विवेचन करने हेतु उन्हें तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है –

1. लक्षण ग्रन्थ
2. लक्ष्य ग्रन्थ
3. स्वतन्त्र साहित्यिक ग्रन्थ

लक्षण ग्रन्थों में रूपगोस्वामी के वे ग्रन्थ संकलित किये गये हैं। जिनका विषय प्रतिपादन काव्य शास्त्र से सम्बद्ध है। इनमें दृश्य और श्रव्य काव्यों के लक्षणों, सिद्धान्तों और प्रयोगों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

दृश्य–काव्य से सम्बद्ध लक्षण–ग्रन्थ में 'नाटक–चन्द्रिका' रूपगोस्वामी का नाट्य–शास्त्रीय ग्रन्थ माना जाता है।

श्रव्य–साहित्य–शास्त्र की श्रेणी में प्रणीत काव्य–कृतियों के लक्षण ग्रन्थों में प्रमुख हैं – 1. भक्तिरसामृतसिन्धु 2. उज्ज्वल नीलमणि और 3. विरुदा वली लक्षण

रूपगोस्वामी के दृश्य और श्रव्य साहित्य, लक्ष्य–ग्रन्थों की श्रेणी में स्थापित किये जा सकते हैं। दृश्य काव्यों की संख्या केवल तीन है। उनके नाम हैं – 1. विदग्धमाधवम् 2. ललितमाधवम् और 3. दानकेलि कौमुदी (भाणिका)।

श्रव्य–काव्यों में रूपगोस्वामी के अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हुये हैं जो इस प्रकार

---

1. दि अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेन्ट इन बंगाल–एस. के. डे., पृ. 154
2. चैतन्य चरितामृतम् – मध्य लीला

हैं –

1. हंसदूतम् 2. उद्धव सन्देश 3. अष्टादश छन्दस्
4. उत्कलिका वल्लरी 5. मथुरा महिमा 6. पद्यावली
7. संक्षेप भागवतामृतम्
(दो भागों में) – (1) कृष्णामृतम (2) भक्तामृतम्।
8. गणोद्देशदपिका (बृहत् तथा लघु रूप में) 9. कृष्ण जन्म–तिथि विधि
10. प्रयुक्ताख्य–चन्द्रिका 11. श्री कृष्ण चैतन्य सहस्रनाम स्तोम
12. गोविन्दविरुदावली 13. पञ्चश्लोकी
14. प्रमान्धस्तव 15. निकुञ्ज रहस्यस्तव
16. स्तव–माला 17. गङ्गाष्टक
18. उज्ज्वल–चन्द्रिका 19. साधनापद्धति
20. उपदेशामृतम् इत्यादि विविध कृतियाँ हैं।

रूपगोस्वामी की उपर्युल्लिखित कृतियां अपने विविध स्वरूप में प्रणीत हुई हैं। इन कृतियों का पौर्वापर्य ज्ञात करने के पूर्व इनका संक्षिप्त परिचय प्राप्त करा देना परम कर्त्तव्य होगा।

भक्तिरसामृत सिन्धु

रूपगोस्वामी की कृतियों में 'भक्तिरसामृतसिन्धु' का अप्रतिम महत्व है। इसी ग्रन्थ के प्रणयन से संस्कृत साहित्य के इतिहास में वह भक्तिरस के प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में सर्वमान्य हैं। इस ग्रन्थ की रचना रूपगोस्वामी ने शाके 1459 (1537 ई.) में की थी। इसका प्रमाण भक्तिरसामृतसिन्धु की पुष्पिका में ही दृष्टव्य है।[1] भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति रस के गूढ़ तत्वों को विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया गया है। कृष्ण–भक्ति की मीमांसा का

---

1. रामाङ्क शक्रगणिते शाके गोकुलमधिष्ठितेन।
श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुर्विटङ्कितः क्षुद्ररूपेण।।
भक्तिरसामृतसिन्धुपुष्पिका – रूपगोस्वामी
2. चैतन्य चरितामृतम् – मध्य लीला

यह ग्रन्थ अपूर्व रत्न–सागर है। इसमें अवगाहन की आकाङ्क्षा करने वाले भक्त की भाव–साधना का सुगम साधन उपलब्ध है। भक्तिरस के स्वरूप और उसके विविध आयामों की शास्त्रीय शिल्प–शैली के आधार पर चार विभागों में विभक्त किया गया हैं। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में ही चार विभाग है। इन चारों विभागों के भी अलग–अलग नामकरण किये गये है जो क्रमशः इस प्रकार हैं (1) स्थायिभावोत्पादन, (2) भक्तिरससामान्य–निरूपण, (3) मुख्य भक्ति रसनिरुपण और (4) गौणभक्ति रसादि–निरूपण। इन विभागों में भी प्रत्येक विभाग की अनेक लहरियां हैं।

पूर्व भाग की प्रथम लहरी में सामान्य भक्ति के तत्वों का लक्षण किया गया है। इस भाग में कुल चार लहरियां हैं। अन्य तीन लहरियों में क्रमशः साधन भक्ति, भावभक्ति और प्रेमाभक्ति का स्वरूप–लक्षण निरूपित किया गया है। इस पूर्व भाग को स्थायिभावोत्पादन की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

दक्षिण–भाग में पांच लहरियां है जिनमें क्रमशः विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, व्यभिचारिभाव एवं स्थायिभाव का विस्तृत विवेचन है। इस दक्षिण–भाग का अन्य नाम 'भक्तिरससामान्य निरूपण' रखा गया है।

पश्चिम भाग में भी पाँच लहरियां हैं। इनमें भक्ति रस के विशिष्ट स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इनका प्रतिपाद्य विषय है क्रमशः शान्त–भक्ति, प्रीति भक्ति, प्रेयोभक्ति, वत्सलभक्ति तथा मधुर भक्ति। इस विभाग को 'मुख्य भक्तिरस निरूपण' के नाम से भी सम्बोधित किया गया है।

उत्तर–भाग को 'गौण भक्ति रसादिनिरूपण' भी कहा गया है। इनमें नौ लहरियां हैं। इनके वर्ण्य–विषय हैं क्रमशः हास्यभक्ति रस, अद्‌भुत–भक्ति रस, वीर भक्ति रस, करूण भक्ति रस, रौद्र भक्ति रस, वीभत्स भक्ति रस, भयानक रस और अन्त में मैत्र–वैर–स्थिति के विवेचन के साथ–साथ रसाभाव का सम्पादन।

रूपगोस्वामी ने समस्त रसों में भक्ति रस को ही मुख्य रस में माना है। अद्‌भुद् इत्यादि अन्य रसों का अन्तर्भाव इसी भक्ति–रस में होता है और भक्ति रस के ही द्वारा

अन्य रसों की कल्पना सम्भव है। इस प्रकार 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति रस को ही प्रतिष्ठापित करने का पूर्ण प्रयास किया गया है और यही इसका प्रतिपाद्य विषय है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन विविध स्थलों से किया जा चुका है।[1]

1. (क) 1932 ई. में अच्युत ग्रन्थ माला सीरीज, वाराणसी – द्वारा श्री दामोदर गोस्वामी।
   (ख) हिन्दीभक्तिरसामृत सिन्धु (हिन्दी टीका के साथ) – हिन्दी अनुसन्धान परिषद, ग्रन्थ माला का 31वां ग्रन्थ।
   (ग) 1963 ई. में डा. नगेन्द्र के सम्पादकत्व में। आचार्य विश्वेश्वर कृत हिन्दी टीका – हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
   (घ) भक्तिरसामृतसिन्धु–श्री हरिनाम संकीर्तन मण्डल, वृन्दावन।

उज्ज्वल नीलमणि

रूपगोस्वामी के काव्य–शास्त्रीय लक्षण–ग्रन्थों में उज्ज्वल नीलमणि भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इस ग्रन्थ को भक्तिरसामृतसिन्धु का पूरक ग्रन्थ माना जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह भक्तिरसामृतसिन्धु के बाद की ही कृति है। मधुर रस की प्रतिष्ठापना ही इस ग्रन्थ का प्रमुख प्रतिपाद विषय है। इस मधुर रस को ही गौड़ीय वैष्णव–सम्प्रदाय में श्रृंगार रस या उज्ज्वल रस के नाम से अभिहित किया गया है। उज्ज्वल का अभिप्राय है–'श्रृंगार'। अस्तु, मधुर श्रृंगार रस ही उज्ज्वल नीलमणि का मुख्य वर्ण्य–विषय है। मधुररस में सत्वगुण की प्रधानता रहती है, रजोगुण और तमोगुण का उसमें किंचित् मात्र भी प्रभाव नहीं होता किन्तु श्रृंगार रस में सत्व–गुण के साथ रजो और तमो गुण का भी अस्तित्व रहता है। मधुर और श्रृंगार रस का यही प्रमुख पार्थक्य है किन्तु गौड़ीय–वैष्णव साहित्य में श्रृंगार को ही मधुर रस माना गया है। इसी को दिव्यरस भी कहा गया है।

रूपगोस्वामी ने इस ग्रन्थ में श्रृंगार रस में अपेक्षित समस्त उपादानों के अनुरूप सामग्रियों एवं साधनों का समावेश किया है। इसमें क्रमशः नायक भेद, नायक के सहायक, कृष्णप्रिया राधा नायिका भेद, यूथेश्वरी भेद, दूती भेद, सखी भेद एवं सखा–भेद, इत्यादि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसी में मधुर रस के उद्दीपन, अनुभाव, उद्भावस्वर, सात्विक, व्यभिचारी तथा स्थायी भावों के निरूपण के बाद सम्भोग और विप्रलम्भ श्रृंगार के द्विविध रूपों के गूढ़ तत्वों एवं विविध विभागों का विवेचन किया गया है।

उज्ज्वल नीलमणि में नायक के 96 भेद बताये गये हैं। नायक के प्रख्यात् चतुर्विभागों को पुनः दो भागों में विभक्त किया गया – पति तथा उपपति। इनमें भी पुनः तीन विभाग किये गये है – पूर्ण – पूर्णतर और पूर्णतम। इन प्रत्येक विभागों के पुनः प्रभेद किये गये – दक्षिण, धृष्ठ, अनुकूल तथा शठ। इस प्रकार से नायक के 96 भेद करके रूपगोस्वामी ने संस्कृत साहित्य को नवीन उपलब्धि दी है।

इसी प्रकार नायिका के भी अनेक भेद–प्रभेद किये गये हैं। प्रथमतः नायिका के दो भेद बताये गये – 1. स्वकीया और – 2. परकीया। रूपगोस्वामी ने इन नायिकाओं के

उद्धरण भी दिये हैं। चूंकि कृष्ण और राधा ही रूपगोस्वामी के मुख्य उपजीव्य नायक और नायिका हैं और उनकी विविध रासलीलाएँ ही उपजीव्य कथा वस्तुएँ हैं अतएव उनसे सम्बद्ध अपेक्षाओं के अनुरूप ही सहायकों का संयोजन किया गया है।

कृष्ण की आठ रानियां स्वीकाया नायिका मानी गयी हैं। वे हैं –

1. चन्द्रावली (रुक्मिणी), 2. सत्यभामा (राधिका), 3. जाम्बवती 4. अर्कनन्दिनी, 5. शैव्या, 6. भद्रा, 7. कौशल्या तथा 8. माद्री।

परकीया नायिका के पुनः दो भेद किये गये – 1. परोढ़ा तथा 2. कन्या। ब्रज की समस्त गोपिकाएँ परोढ़ा नायिका की उदाहरण हैं। परोढ़ा नायिका के तीन प्रभेद पुनः किये गये – साधन परा, देवी और नित्य–प्रिया। साधन परा के भी दो भेद हुये यौथिक्य तथा अयौथिक्य। यौथिक्य के भी दो भेद किये गये – मुनि तथा उपनिषद। ब्रज में जन्म लेने वाले और गोपी भाव से युक्त ऋषिगण ही मुनि के रूप में अभिहित हुये। इसी प्रकार ब्रज में जन्म लेकर अपनी तपस्या के प्रभाव से निज देवियों ने गोपियों का भाव प्राप्त किया वे ही उपनिषद् की संज्ञा से विभूषित की गयीं। ये ही यौथिक्य नायिका के उद्धरण है। अयौथिक्य नायिका के भी दो भेद है – प्राचीन तथा नवीन। चन्द्रावली तथा राधा श्रीकृष्ण की 'नित्यप्रिया' है। ये ही श्रीकृष्ण की प्रकट लीला में अवतरित हुई हैं।

उपर्युक्त नायिका के समस्त भेदों के तीन प्रभेद और होते हैं – मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। इनके भी अभिसारिकादि आठ भेदों के संयोजन से नायिकाओं की कुल संख्या 360 हो जाती है। इन नायिकाओं का भी वर्णन उज्ज्वल नीलमणि में किया गया है।

रूपगोस्वामी की कृष्ण–भक्ति में कान्ताभाव को स्वीकार किया गया है। अतः मधुरा या प्रेमारति ही राधा–कृष्ण के परस्पर प्रेमानुराग (संयोग) का स्थायिभाव है। प्रणय–परिपाक में अपेक्षित प्रेमारति के छः तत्वों का भी प्रतिपादन किया गया हैं। वे छैः तत्व हैं – स्नेह, मान, प्रणय, राग–अनुराग तथा भाव। स्नेह की भाव में परिणति ही माधुर्य रस कहलाती है। यही दिव्य रस है। यही भक्तिरस की चरम स्थिति है। उज्ज्वल नीलमणि भी विविध प्रकाशनों से प्रकाशित हुई है। इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएं भी

उपलब्ध है।[1]

उत्कलिका वल्लरी

'उत्कलिका वल्लरी' रूपगोस्वामी का स्तोत्र–साहित्य है। गोविन्द–विरुदावली प्रेमेन्दु सागर इत्यादि अनेक स्तोत्र इसी में संकलित किये गये हैं। श्री जीव गोस्वामी ने बाद में इन स्तोत्र ग्रन्थों को एकत्र कर 'स्तव–माला' के रूप में प्रस्तुत किया। इसमें कुल 64 खण्ड हैं। 'अष्टादशछन्दस' को भी इसी 'स्तवमाला' में संग्रहीत किया गया है।

'गोविन्द–विरुदावली' के सन्दर्भ में विद्वानों में विविध विवाद हैं। कतिपय विद्वान् 'गोविन्द विरुदावली' और 'विरुदावली लक्षण' इन दोनों को पृथक्–पृथक् कृति स्वीकार करते हैं।[2] इनकी मान्यता यह है कि 'विरुदावली लक्षण' एक लक्षण ग्रन्थ है जो कि 'गोविन्द विरुदावली' नामक लक्ष्य ग्रन्थ की सार्थकता के उद्देश्य से प्रणयन किया गया है। 'विरुदावली लक्षण' में विरुद–काव्य के नवीन छन्दों एवं उनकी विशेषताओं का मूल्यांकन किया गया है। चैतन्य चरितामृतम् में भी इनको पृथक्–पृथक् ही माना गया है।[3]

1941 ई. में नव द्वीप में श्री हरिदास द्वारा प्रकाशित सामान्य विरुदावली लक्षण सम्भवतः रूपगोस्वामी द्वारा प्रणीत विरुदावली लक्षण ही है जिसमें विरुद–काव्य के स्वरूप का सम्पादन किया गया है।

पद्यावली में श्री कृष्ण की भक्ति–विषयक पद्यों का संग्रह किया गया है जिनकी कुल संख्या 232 है। इसका सम्पादन श्री सुशील कुमार डे ने भूमिका तथा टिप्पणियों के साथ ढाका विश्वविद्यालय ओरियन्टल पब्लिकेशन सीरीज, ढाका में 1934 ई. में किया था।

मथुरा महात्म्य

'मथुरा महात्म्य' में रूपगोस्वामी ने 480 श्लोकों में मथुरा एवं उससे सम्बद्ध

---

1. 1913 ई. काव्यमाला 95, बम्बई द्वारा प्रकाशित।
   टीकाएं – (क) लोचन रोचनी – द्वारा श्री जीव गोस्वामी
   (ख) आनन्दचन्द्रिका या 'उज्ज्वल नीलमणि किरण'
   – द्वारा विश्वनाथ चक्रवर्ती (वैष्णव गौड़ीय साहित्यकार)
2. बलदेव विद्याभूषण – गोविन्द विरुदावली पर टीका
3. चैतन्य चरितामृतम – श्री कृष्णदास कवि राज
   मध्यलीला – 35 'गोविद विरुदावली आर ताहार लक्षण'

विषयों का मधुर शैली में गुणगान किया है। इस ग्रन्थ का पृथक् और प्रामाणिक प्रकाशन न प्राप्त होने के कारण वाराह पुराण में सम्मिलित हुआ माना जाता है। इस ग्रन्थ की एक अपूर्ण पाण्डुलिपि के सन्दर्भ में श्री हर प्रसाद शास्त्री का विवरण उपलब्ध होता है।[1] इसका विशेष विवरण विदग्ध माधव नाटक की हिन्दी टीका की भूमिका में द्रष्टव्य है।[2]

हंस दूत और उद्धव सन्देश

ये दोनों काव्य–कृतियां रूपगोस्वामी की प्रारम्भिक रचनाओं के रूप में प्रतिष्ठित की जाती है। संस्कृत–साहित्य में कालिदास–कृत मेघदूत के बाद रूपगोस्वामी द्वारा प्रणीत ये दोनों काव्य–संग्रह विशेष महत्व रखते हैं। कालिदास दास ने मेघदूत का प्रणयन जहां सामान्य मन्दाक्रान्ता छन्द में किया है वहीं रूपगोस्वामी ने हंस दूत की संरचना सुमधुर माधुर्य–रस से परिपूर्ण शिखरिणी छन्द में की है। उद्धव सन्देश भी हंस दूत जैसी ही रचना है। इसमें लगभग 131 श्लोक है जिनको मन्दाक्रान्ता–छन्द में पिरोया गया है। ये दोनों काव्य–कृतियां लक्ष्य–ग्रन्थों में श्रव्य–काव्य की कोटि में प्रणीत हुई मानी जा सकती हैं। इनका प्रकाशन भी यथावसर भारत में ही होता रहा है।[3]

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, टीकाकार पं. रमाकान्त झा, पृ. 32
2. काव्य संग्रह – हैबरलिन, पृ. 323 एफ, तथा जीवानन्द विद्या सागर, काव्य संग्रह कलकत्ता 1888, (P + S ii, पी पी 441-507 और iii, पी पी 215-275)

अष्टादश छन्दस्

रूपगोस्वामी की इस कृति पर यह निर्णय नहीं हो पाया कि यह लक्षण ग्रन्थ था या लक्ष्य ग्रन्थ। श्री रूपगोस्वामी के उल्लेख से यह अष्टादश छन्दस्[1] के नाम से ज्ञात किया जाता है किन्तु चैतन्य चरितामृतम् में यही अष्टादश लीला छन्दस्[2] के रूप में अभिज्ञात है।

रूपगोस्वामी के स्तव–माला में संग्रहीत नन्दोत्सवादि चरित में उद्‌घृत द्वितीय[3] श्लोक के अनुसार यह अनुमान किया जाता है कि नन्दोत्सवादि चरित से लेकर श्री कृष्ण की महान केलि–क्रीड़ा या कंसवध पर्यन्त लीला का स्तवमाला में संग्रहीत 23 खण्डों में जो उल्लेख किया गया है उसे ही सम्भवतः श्री जीव गोस्वामी ने रूप गोस्वामी के अष्टादश छन्दस् के नाम से अभिहित किया है।

अष्टदश छन्दस् को छन्द–शास्त्र के रूप में भी प्रणीत–कृति माना जाता है। इस मान्यता के अनुसार 'अष्टादश छन्दस्' में 18 प्रकार के नवीन छन्दों का प्रयोग किया गया है जिनको छन्द–शास्त्रों द्वारा स्वीकार नही किया गया।

लघुभागवतामृतम्

लघुभागवतामृतम् रूपगोस्वामी की महत्वपूर्ण कृति है। इसे दो भागों में विभाजित किया गया है।[4] (1) कृष्णामृत और (2) भक्तामृत। यह रूपगोस्वामी की स्वतन्त्र रचना मानी जाती है। इसके प्रथम भाग में कृष्ण के विविध रूपों एवं अवतारों का विवेचन किया गया है और द्वितीय भाग में भक्त–भाव के अनेक आयामों का वर्गीकरण प्रतिपादित किया गया है।

श्री गणोद्देशदीपिका

रूपगोस्वामी की अतिरिक्त कृतियों की शृंखला में श्री गणोद्देशदीपिका भी एक

---

1. लघुतोषणी – श्री जीव गोस्वामी
2. चैतन्य चरितामृतम् (मध्य लीला खण्ड) – कृष्ण दास गोस्वामी
3. 'नन्दोत्सवाधास्ताः कंसवधान्ताः हरेर्महालीलाः।
   छन्दोमिर्ललिताङ् गैरष्टादशशेमि निरूप्यन्ते।'
   – स्तवमाला – रूपगोस्वामी, द्वितीय श्लोक
4. चैतन्य चरितामृतम् – (मध्य लीला) खण्ड द्वारा – श्री कृष्ण दास

कड़ी है। इसको भी दो रूपों में विभक्त किया गया है :– 1. बृहत् तथा 2. लघु। यह साहित्य–समाज में 'राधाकृष्णगणोद्देशदीपिक' के नाम से भी प्रख्यात है। इनमें श्री कृष्ण और श्री राधिका के अपने–अपने वर्णानुयायियों एवं पक्षधर सदस्यों का स्पष्टतः उल्लेख किया गया है। साथ ही उनके रहन सहन, रीतियों, आभूषणों, वाहनों एवं व्यक्तिगत सामग्रियों का सविस्तार वर्णन किया गया है।

'राधाकृष्णगणोद्देशदीपिक' के अन्य नाम से प्रचलित इस ग्रन्थ का प्रकाशन, राधारमण प्रेस मुर्शिदाबाद में हुआ है।[1]

प्रयुक्ताख्यात् चन्द्रिका

'प्रयुक्ताख्यात् चन्द्रिका' रूपगोस्वामी का एक व्याकरण ग्रन्थ माना जाता है। इसमें क्रिया की विवेचना प्रतिपादित हुई है।[2]

कृष्ण जन्म–तिथि विधि

रूपगोस्वामी के अन्य कृतियों के उल्लेख में इस ग्रन्थ का भी संकलन किया गया है किन्तु स्पष्ट प्रमाण के अभाव में 'सी आफ्रेक्ट'[3] द्वारा 'कृष्ण जन्म तिथि विधि' के नामोल्लेख से यह अनुमान किया जा सकता है कि वह रूपगोस्वामी की ही कृति है जिसके मंगलाचरण में कृष्ण की ही स्तुति की गयी हैं।

अष्टकालिक श्लोकावली

इस श्लोकावली का विवरण 'भक्ति रत्नाकर ग्रन्थ' में उपलब्ध होता है जिसके आधार पर यह स्पष्ट होता है कि इस श्लोकावली में केवल एकादश पद्य हैं और रूपगोस्वामी ने इसको विस्तार करने हेतु श्री कृष्णदास कविराज को समर्पित किया था।[4] सम्भवतः इन्ही श्लोकों के आधार पर कृष्णदास कविराज ने 'गोविन्द लीलामृत' ग्रन्थ का प्रणयन किया था जिसमें श्री कृष्ण की लीलाओं का स्तवन किया गया है।

1. विदग्धमाधवम् – हिन्दी टीका पं. रमाकान्त झा, पृ. 33, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
2. वही " " "
3. आफ्रेक्ट – लिपिजिग कैटलाग, नं. 621 में द्रष्टव्य "
4. वैष्णव इच्छाय एकादश श्लोक कैल।
   कृष्णदास कविराजे विस्तारिते दिल।।
   अष्टकाल लीला ताते अति रसायन।
   भाव्यवतं जन से करये आस्वादन।। (भक्ति रत्नाकर से)
   द्रष्टव्य–विदग्धमाधवम्–हिन्दी टीका पं. रमाकान्त झा पृ. 34–चौ. सं. सी वाराणसी।

नाटक-चन्द्रिका

नाटक चन्द्रिका रूपगोस्वामी का नाट्य शास्त्रीय लक्षण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में नाटकों के शास्त्रीय लक्षणों को गौड़ीय–वैष्णव–सम्मत सिद्धान्तों के अनुरूप प्रतिपादित किया गया है। इसके प्रणयन में रूपगोस्वामी ने भरतमुनि के मान्य सिद्धान्तों से प्रेरणा प्राप्त की है और 'रसार्ण वसुधाकर' का अनुकरण करते हुये साहित्य दर्पण की प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं का निराकरण किया है। वैष्णव मतों के विपरीत लक्षणों के होने के कारण साहित्य–दर्पण से रूपगोस्वामी ने प्रायः प्रेरणा नहीं ग्रहण की।[1]

नाटक चन्द्रिका में विशेष रूप से नाटकों के स्वरूप, लक्षण इत्यादि को परिभाषित कर उनके अंगों एवं उपांगों का भी समुचित लक्षण प्रतिपादित किया गया है। सम्पूर्ण लक्षणों के उद्धरण रूपगोस्वामी ने अपनी नाट्य कृतियों से संकलित किये हैं। अधिकांशतः 'ललितमाधवम्' नामक नाटक से उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। रूपकों के अन्य भेदों का केवल नामोल्लेख करके, उस पर विस्तृत विवेचन नहीं किया गया क्योंकि परम्परा प्राप्त उनके लक्षणों में, उनका मतभेद नहीं था रूपगोस्वामी ने वैष्णव सिद्धान्त के विपरीत लक्षणों में ही, अपने सिद्धान्तों के अनुकूल लक्षणों को स्थापित किया है। सैद्धान्तिक रूप से भरत कृत नाट्य शास्त्र और सिंह भूपाल के 'रसार्णवसुधाकर' को रूपगोस्वामी कृत नाटक चन्द्रिका पर स्पष्ट छाप पड़ी है।

साहित्य–दर्पण के सिद्धान्तों और मान्यताओं में रूपगोस्वामी का कई प्रसङ्गों पर पार्थक्य है। विशेषतः नायिका भेद में, जहां साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ गोपियों को परोढ़ा नायिका मानकर उपपति कृष्ण के साथ उनके संयोग को 'रसाभास' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। रूपगोस्वामी इस सिद्धान्त को अस्वीकृत कर श्री राधा–कृष्ण की सरस–लीलाओं से उद्भूत परमानन्द की प्राप्ति को ही साहित्य–शास्त्र–सम्मत स्वीकार

---

1. वीक्ष्यभरतमुनिशास्त्रं रसपूर्वसुधाकरञ्च रमणीयम्।
   लक्षणमति संक्षेपाद् विलिख्यते नाटकस्येदम्।।
   नातीव सङगतत्वाद् भरत मुनेर्मतविरोधाच्च।
   साहित्य दर्पणीया न गृहीता प्रक्रिया प्रायः।।
   नाटक चन्द्रिका ग्रन्थ प्रतिज्ञा–रूपगोस्वामी

करते हैं। समस्त रसों की भक्ति रस में चरम परिणति ही रूपगोस्वामी का प्रतिपाद्य सिद्धान्त है और इसी को वह 'रसध्वनि' मानते हैं। संस्कृत साहित्य में इसीलिए रूपगोस्वामी 'रसध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य'[1] की उपाधि से विभूषित किये जाते हैं।

नाटक–चन्द्रिका के प्रकाशन का श्रेय प्रो. बाबूलाल शुक्ल शास्त्री को प्राप्त है जिन्होंने वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत सिरीज़ (वाराणसी) से इस ग्रन्थ को हिन्दी टीका सहित प्रकाशित किया है।

1. इति ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य–श्रीमद् रूपगोस्वामी प्रभुपाद
प्रणीता श्री नाटक – चन्द्रिका समाप्ता।
– नाटक चन्द्रिका – पुष्पिका – रूपगोस्वामी

रूपगोस्वामी और उनकी नाट्य कृतियां

मध्ययुगीन संस्कृत नाटकों की संरचना करने वाले नाटककारों की शृंखला में रूपगोस्वामी का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जा सकता हैं।

कृष्ण कथाश्रित नाटकों के प्रणयन में उन्होंने अपने जिस प्रतिभा–प्रकर्ष को प्रदर्शित किया उससे समूचे साहित्य समाज को एक नयी प्रेरणा प्राप्त हुई है। 'भक्तिरस' को शास्त्रीय रस के रूप में प्रतिष्ठापित कर उन्होंने 'भक्तिरसप्रतिष्ठापकाचार्य' की उपाधि से विभूषित होने का श्रेय प्राप्त किया है।

रूपगोस्वामी ने तीन नाट्य कृतियों का प्रणयन किया है।

1. विदग्धमाधवम्, 2. ललितमाधवम् और 3. दानकेलिकौमुदी।

विदग्धमाधवम् सात अंकों का नाटक है जिसमें राधा–कृष्ण की वृन्दावन लीलाओं का मनोहारी वर्णन किया गया है।

ललितमाधवम् उनकी द्वितीय नाट्य कृति है। यह 10 अंकों का नाटक है जिसमें श्री कृष्ण की ब्रज, मथुरा एवं द्वारका तीनों लीलाओं का लालित्यपूर्ण दर्शन किया गया हैं।

दानकेलि कौमुदी 'भाणिका' कोटि की एकांकी नाट्य कृति है। इसमें राधा–कृष्ण की वृन्दावन में होने वाली दान लीला का अत्यन्त रमणीय वर्णन किया गया है।

उक्त तीनों नाट्य कृतियां शृङ्गार प्रधान मानी गयी है। इनमें रूपगोस्वामी द्वारा स्वीकृत मधुर रस का शास्त्रीय स्वरूप निरूपित किया गया है।

रूपगोस्वामी की उक्त तीनों नाट्य कृतियों की रचना में दैवी शक्तियों की प्रेरणा प्राप्त हुई थी क्योंकि प्रारम्भ में रूपगोस्वामी ने विदग्धमाधवम् और ललितमाधवम् इन दोनों नाट्य कृतियों को एक ही नाटक के रूप में प्रणयन करने की भूमिका बनायी थी किन्तु देववश उन्हें स्वप्न में देवी सत्यभामा के दर्शन हुये जिनके द्वारा उन्हें यह निर्देश किया गया कि भगवान कृष्ण की प्रकट एवं अप्रकट लीलाओं का वर्णन एक ही नाटक के अन्तर्गत करना उपयुक्त नहीं है अतः उन दोनों लीलाओं को पृथक्–पृथक् रूप में वर्णन करने की प्रेरणा समीचीन है। देवी सत्यभामा के स्वप्न–गत निर्देश को स्वीकार करने के बाद गौराङ्ग महाप्रभु चैतन्य द्वारा भी पृथक्–पृथक् रूप में नाट्य रचना करने की पुष्टि की

गयी थी। रूपगोस्वामी बहुत ही आश्चर्यान्वित हुये क्योंकि स्वप्न में जिस विषय की प्रेरणा सत्यभामा द्वारा दी गयी थी उसी बात का निर्देश स्वयं महाप्रभु द्वारा भी साक्षात्कार रूप में किया गया।

रूपगोस्वामी ने श्री कृष्ण की अप्रकट एवं प्रकट लीला को आधार मानकर विदग्धमाधवम् और ललितमाधवम् इन दो पृथक्–पृथक् शीर्षकों से नाटकों का प्रणयन किया। इन दोनों नाट्य कृतियों की संरचना में जहां एक ओर देवी शक्ति की शुभाशंसा परिलक्षित होती है वहीं दूसरी ओर नाटककार की मनोगत सहृदयता एवं भक्तिमयी भावुक्ता की मधुरिम सुगन्धि भी सुरभित होती है।

रूपगोस्वामी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया जायेगा अतएव विस्तारमय से यहां इनका संक्षिप्त परिचय मात्र ही अवलोकनीय है। अगले अध्याय में रूपगोस्वामी और उनकी नाट्य कृतियों पर पर्याप्त प्रकाश संदर्श्य है।

(ii) मूल कृष्ण कथा के उपजीव्यभूत ग्रन्थ

मूल कृष्ण कथा के उपजीव्यभूत ग्रन्थों में पौराणिक आख्यानों, उल्लेखों और कृष्ण–चरित सम्बन्धी कथाओं की दृष्टि से श्री मद्भागवत, विष्णु–पुराण, पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्मपुराण, देवी भागवत पुराण, महाभारत और गर्ग संहिता अत्यन्त उपादेय है। इन्हीं पौराणिक कृष्ण–कथाओं का मत्स्य–पुराण, वायुपुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण तथा लिङ्ग आदि पुराणों में भी संक्षिप्त विवरण उपलब्ध है।

उपर्युक्त ग्रन्थों में कृष्ण के जीवन की बाल्यावस्था या किशोरावस्था, युवावस्था और प्रौढ़ावस्था की अलग–अलग क्रीड़ाओं एवं घटनाओं का त्रिविध लीलाओं के रूप में विशद विवेचन किया गया है। ये लीलाएं ब्रजलीला, मथुरा लीला और द्वारकालीला के नाम से प्रख्यात हैं।

श्री कृष्ण की ब्रजलीला में अनेक जन्म से लेकर गोप बालों के साथ विविध रासलीलाओं का वर्णन उल्लेखनीय है। इस लीला की मुख्य क्रियाएं निम्नलिखित हैं।

श्री कृष्ण का जन्म एवं जन्मोत्सव, श्री कृष्ण द्वारा पूतना का उद्धार, यशोदा को कृष्ण का विश्व रूप दर्शन और गर्ग द्वारा कृष्ण का नामकरण, भाण्डीरवन में राधाकृष्ण का ब्रह्मा जी के द्वारा विवाह, श्री कृष्ण की बाल–लीला में दधि चोरी, मृद भक्षण लीला, यमलाअर्जुन का उद्धार, गोलोक में श्री कृष्ण का दर्शन और नन्द नन्दन की स्तुति, श्री कृष्ण का वृन्दावन में गोचारण, श्री कृष्ण द्वारा कालिय नाग का दमन, और दावानल–पान, राधा का गवाक्ष मार्ग से श्री कृष्ण को देखकर प्रेमाकुल होना, श्री कृष्ण का गोपी वेश धारण कर वृषभानु के भवन में राधा से मिलन, राधा को कृष्ण का दर्शन प्राप्त होना, रास लीला का वर्णन, राधा–कृष्ण–रास, जल विहार, वन विहार, गोपियों का श्री कृष्ण के साथ वन विहार, गोपियों द्वारा श्री कृष्ण की स्तुति और भगवान का उनके मध्य प्रस्तवन, कंस–शङ्खचूड युद्ध, और श्री कृष्ण द्वारा शङ्खचूड का वध, रास लीला तथा आसुरिमुनि का रास लीला में पहुँच श्री कृष्ण का दर्शन एवं स्तवन, श्री कृष्ण का विरजा के साथ विहार और राधा के शाप से श्री दामा का शङ्खचूड होना, श्री कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत उठाकर

इन्द्र द्वारा गोकुल के विनाशार्थ वारिवर्षण रोककर गोकुल की रक्षा,–इन्द्र द्वारा श्री कृष्ण की स्तुति तथा एरोवत द्वारा उनका अभिषेक, गोपों द्वारा वृष भानुवर के वैभव की प्रशंसा एवं कृष्ण की भगवन्ता का परीक्षण इत्यादि। यही श्री कृष्ण की ब्रज लीला के प्रतिपाद्य विषय हैं।

मथुरा लीला के अन्तर्गत श्री कृष्ण की निम्नलिखित क्रियाएं उल्लेखनीय हैं।

श्री कृष्ण के द्वारा केशी दैत्य का वध, श्री कृष्ण का अक्रूर के साथ मथुरा गमन, मथुरा में रजकवध, सुदामा माली और कुब्जा पर श्री कृष्ण की कृपा, श्री कृष्ण के हाथों चाणूर, मुष्टिक आदि मल्लों तथा कंस और उसके बन्धुओं का वध, श्री–कृष्ण द्वारा वसुदेव–देवकी की बन्धन मुक्ति, श्री कृष्ण की आज्ञानुसार उद्धव का ब्रजगमन एवं श्री कृष्ण का स्मरण करके राधा तथा अन्यान्य गोपियों के करूण उद्‌गार, श्री कृष्ण का उद्धव के साथ ब्रज आगमन, श्री कृष्ण का कदलीवन में राधा तथा अन्य गोपियों से मिलन, श्री कृष्ण के समक्ष नारद का कला प्रदर्शन और श्री कृण का ब्रज से लौटकर मथुरा में पुनः आगमन इत्यादि।

द्वारका लीला में श्री कृष्ण–चरित के प्रतिपाद्य विवरण निम्नलिखित हैं।

श्री कृष्ण द्वारा जरासन्ध की पराजय, कृष्ण का द्वारका में निवास, कृष्ण का कुण्डिनपुर गमन, श्री कृष्ण द्वारा रुक्मिणी हरण और उनके साथ पाणिग्रहण, सहस्रों कन्याओं के साथ श्री कृष्ण का पाणिग्रहण, कृष्ण का रणभूमि में आगमन, कृष्ण द्वारा युक्तिपूर्वक शकुनि का वध, स्यमन्तक मणि और पारिजातहरण उपाख्यान, जाम्बवती और सत्यभामा का विवाह, कृष्ण द्वारा पौण्ड्रक वासुदेव और उनके सुत का वध, जरासन्ध–वध, शिशुपाल वध, दन्तवक्र वध, यदुवंश–ध्वंश इत्यादि का वर्णन, श्री कृष्ण द्वारा द्वारकागमन का कारण, श्री राधा के रूप का दर्शन, सिद्धाश्रम का रासोत्सव तथा राधा–कृष्ण समागम, सिद्धाश्रम में रासोत्सव, द्वारका के प्रथम दुर्ग में स्थित लीला–सरोवर, हरि मन्दिर, ज्ञान तीर्थ आदि का माहात्म्य, द्वारका के द्वितीय दुर्ग में स्थित इन्द्र तीर्थ, सूर्य कुण्ड, ब्रह्म तीर्थ, नील लोहित और सप्त समुद्र का माहात्म्य और अन्त में श्री कृष्ण का देह त्याग।

श्री कृष्ण की उपर्युक्त त्रिविध लीलाओं का विविध पुराणों में उल्लेख उपलब्ध

होता है। इनका सम्यक् अनुशीलन करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि कृष्ण–कथा के कुछ अंशों में भले ही कुछ वैलक्षण्य हो किन्तु मुख्य कथा में कोई विशेष अन्तर नहीं हैं। किसी पुराण में किसी विषय का सविस्तार वर्णन हो सकता है और किसी में संक्षिप्त किन्तु कुछ ऐसे प्रसंग अवश्य हैं जिनका विभिन्न पुराणों में भिन्न–भिन्न स्वरूप परिलक्षित होता हैं। श्री मद्भागवत के दशम स्कन्ध में कृष्ण–कथा से सम्बन्धित तीनों लीलाओं का सविस्तार वर्णन किया गया है। इनमें श्री कृष्ण की तीनों अवस्थाओं की क्रीड़ाओं एवं घटनाओं का उल्लेख मिलता है। इस पुराण का सबसे विलक्षण विषय है 'राधा' नाम की चर्चा का अभाव। इसमें यशोदा नाम के अतिरिक्त किसी भी गोपी का नाम निर्देश नहीं हुआ है। श्री मद्भागवत में एक गोपी के सौभाग्य का वर्णन अवश्य किया गया है जिसके प्रति श्री कृष्ण का विशेष आकर्षण तथा उसके साथ कृष्ण ने अन्य गोपियों से अलग होकर एकान्त–वास भी किया था।[1] श्री मद्भागवत में ब्रजबिहारी श्री कृष्ण की ब्रज लीला का भी वर्णन मिलता है।

विष्णु पुराण की कृष्ण–कथा श्री मद् भागवत से प्रायः मिलती हुई सी प्रतीत होती है। इसमें श्री 'राधा' नाम का उल्लेख अनुपलब्ध है। केवल कृष्ण को गोपी–वल्लभ के रूप में प्रदर्शित किया गया है। विष्णु पुराण के एक श्लोक में प्रच्छन्न राधा का संकेत उल्लेखनीय है।[2] इसके अतिरिक्त विष्णु–पुराण के खण्ड 3 और पंचम अंश में भी कृष्ण–कथा का संक्षिप्त वर्णन मिलता है।

श्रीमद् भागवत और विष्णु पुराण के दोनों श्लोकों में प्रयुक्त 'अनयाराधितः और अभ्यर्चितस्तया' शब्दों के सन्दर्भ में गौड़ीय–वैष्णव–ग्रन्थों से टीकाकार विद्वानों का यह मत है कि इन शब्दों का गूढ़ संकेत राधा के लिये ही किया गया है। ऐसा अनुमान करने पर भी इतना तो मान्य ही है कि इन पुराणों में राधा का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ। कृष्ण कथा

---

1. अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
   यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः।।
   – श्री मदभागवत 10।30।26
2. अत्रौवविश्य वै तेन काचित् पुष्पैरलंकृता।
   अन्य जन्मनि सर्वात्मा विष्णुरभ्यर्चितस्तया।।
   – विष्णु पुराण 5।3।35

के साथ इन दोनों पुराणों में 'राधा' नाम का अभाव एक रहस्यमय सन्दर्भ है।

ब्रह्म पुराण में अध्याय 180 से 212 के अन्तर्गत कृष्ण–कथा की तीनों लीलाओं का संक्षिप्त विवरण द्रष्टव्य है।

मूल कृष्ण–कथा के उपजीव्यभूत ग्रन्थों में पद्म–पुराण का अत्यन्त महत्व है। वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बद्ध विविध मान्यताओं का प्रेरणा–स्रोत पद्म पुराण ही हैं। यहां तक कि इसे वैष्णव–पुराण भी कहा जाता है। पद्म पुराण में कृष्ण–कथा के साथ राधा का भी तादात्म्य है। इसमें राधा कृष्ण के जन्म से लेकर जीवन की विविध कीड़ाओं का मनोरम वर्णन मिलता है। इस पुराण में उल्लिखित तीनों अवस्थाओं से सम्बद्ध त्रिविध लीलाओं का आश्रय लेकर ही सम्भवतः वैष्णव ग्रन्थों में ब्रज लीला, मथुरा लीला और द्वारका लीलाओं का अनुकरण किया गया है। इन तीनों लीलाओं का प्रदर्शन श्री कृष्ण अपने जीवन के अलग–अलग आयामों में करते हैं।

पद्म पुराण में कृष्ण–कथा के साथ राधा–तत्व का विकसित स्वरूप अवलोकनीय है। पद्म पुराण के ब्रह्म खण्ड के सप्तम अध्याय में 'राधाष्टमी व्रत' का पूर्ण–परिचय प्राप्त होता है। यही पर राधा जन्म के सन्दर्भ में यह उल्लेख हुआ है। कि भाद्र मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी तिथि को वृष भानु की यज्ञशाला में राधा का प्रादुर्भाव हुआ।[1]

पद्म पुराण के पाताल खण्ड में अध्याय 69 से 278 के अन्तर्गत श्री कृष्ण की वृन्दावन में सम्पन्न विविध रासलीलाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है।

इसमें वृन्दावन का अद्भुत माहात्म्य अवलोकनीय है।[2]

इसी वृन्दावन के वर्णन में प्रसंग–प्राप्त राधा का भी उल्लेख हुआ है जिसमें राधा को आधा प्रकृति और कृष्ण की वल्लभा रूप में प्रदर्शित किया गया है।[3]

पद्म पुराण के एक प्रसंग से राधा–कृष्ण को आदर्श दम्पति के रूप में भी

---

1. पद्म पुराण दृष्टव्य श्लोक 39–40 ब्रह्म खण्ड, अध्याय–7
2. वृन्दावनस्य माहात्म्यं सर्वपापप्रणाशनम्।
   नित्य लीलानु कथनं यत्र कृष्णा वतारिणः।।
3. 'तत्प्रिया प्रकृतिस्त्वाद्या राधिका कृष्ण वल्लभा'
   –पद्मपुराण, पाताल खण्ड, अध्याय 69 श्लोक 118

चित्रित किये जाने का स्पष्ट संकेत मिलता है जहां यह कहा गया है कि राधा के समान न कोई नारी है और न कृष्ण के समान कोई पुरुष।[1] इससे राधा–कृष्ण के दाम्पत्य सम्बन्ध का भी अनुमान किया जा सकता है।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में भी 'प्रकृति खण्ड' और कृष्ण–जन्म–खण्ड' मूल कृष्ण के लिये अत्यन्त उपादेय है। इस पुराण में राधा–कृष्ण के जन्म के अतिरिक्त उनके जीवन के विविध–विलासों एवं रासलीलाओं का मनोहारी वर्णन दर्शनीय है। इस पुराण में राधा को श्री कृष्ण की अर्धाङ्गिनी माना गया है। इससे राधा की दिव्य उत्पत्ति का स्पष्ट संकेत मिलता है। इस पुराण के अनुसार प्राचीन काल में गोलोक में स्थित परम रमणीय वृन्दावन के रास–मण्डल में एक रत्न–रन्जित सिंहासन पर आरूढ़ श्री कृष्ण को रमण करने की इच्छा हुई जिसके फलस्वरूप जगदीश्वर दो भागों में विभक्त हो गये। इससे उनकी रिरिंशा ने ही राधा का मूर्तरूप धारण कर उनके वामाङ्ग में स्थान प्राप्त किया और दक्षिणाङ्ग श्री कृष्ण के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।[2]

कृष्ण–चरित में राधा के साथ उनके पाणिग्रहण का प्रसंग एक विलक्षण विषय है जिसका अन्य पुराणों में स्पष्ट उल्लेख न होकर अत्यन्त भ्रामक है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा–कृष्ण का वृन्दावन के पवित्र वन में विधिवत् विवाह कराये जाने का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है।[3]

ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा–कृष्ण के संवाद और उनकी रास क्रीडाओं का भी विस्तृत विवेचन द्रष्टव्य है।[4]

---

1. 'न राधिका समा नारी न कृष्ण सदृशः पुमान्–पद्म पुराण
2. रमणं कर्तुमिच्छा च तद् बभूव सुरेश्वरी।
   इच्छया च भवेत्सर्व तस्य स्वेच्छामयस्य च।।
   एतस्मिन्नन्तरे दुर्गे द्विधारूपो बभूव सः।
   दक्षिणाङ्ग च श्री कृष्णौ वामाधङ्ग च राधिका।।
   – ब्रह्मवैवर्त पुराण, अ. 48, श्लोक–27, 28
3. कृष्णेन सह राधायाः पुण्ये वृन्दावने वने।
   विवाह कारया मास विविधा जगतां विधिः।।
   – ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, अध्याय – 49, श्लोक–43
4. ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, अध्याय 27, 28 और 29

भविष्य पुराण में राधा का अभिमन्यु नामक गोप–सुत के साथ मायाविक विवाह का वर्णन किया गया है। इसका विस्तृत उल्लेख आगे किया जायेगा।

मूल कृष्ण–कथा के सन्दर्भ में देवी भागवत पुराण से भी संक्षिप्त परिचय उपलब्ध होता है। इसके चतुर्थ स्कन्ध में अध्याय 23 से अध्याय 50 के मध्य कृष्ण–कथा के अनेक आयामों का संकलन किया गया है। इस ग्रन्थ में राधा–कृष्ण की प्रणय–लीला के साथ–साथ राधा की उपासना एवं पूजा–पद्धति का विशद विवेचन मिलता है।

इसमें राधा को श्री कृष्ण की चिन्मयी शक्ति स्वरूपा कहकर राधा तत्व की महिमा और उनकी आराधना को विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया गया है। इससे कृष्ण–चरित में राधा के योगदान एवं उनके माहात्म्य का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है।

मूल कृष्ण–कथा से सम्बन्धित ग्रन्थों में इतिहास–पुराण का भी योगदान है। इनमें महाभारत का स्थान सर्वोपरि है। इसमें श्री कृष्ण चरित का तीन स्तरों पर वर्णन उल्लेखनीय है। कहीं वह गोपी वल्लभ कृष्ण के रूप में दृष्टिगत हैं। तो कहीं गीता के वक्ता कृष्ण–रूप में, और कहीं पाण्डवों के पथ–प्रदर्शक रूप में प्रदर्शित है। महाभारत का मूल वर्ण्य–विषय है कौरव और पाण्डवों का संघर्ष। इसमें श्री कृष्ण पाण्डवों के पथ–प्रदर्शक बनकर अपने राजनीतिक स्वरूप का परिचय कराते हैं। महाभारत से कृष्ण चरित का ज्ञान प्राप्त कराने के लिये हरिवंश की कृष्ण–कथा अत्यन्त उपादेय है। वस्तुतः हरिवंश को महाभारत का ही परिशिष्ट माना जाता है। इसमें महाभारत की प्रसंग–प्राप्त कृष्ण–कथा को ही विशद रूप में प्रतिपादित किया गया है। कृष्ण जीवन की बाल्याकाल से लेकर अवसान तक की विभिन्न क्रीडाओं, लीलाओं एवं घटनाओं का विस्तृत वर्णन हरिवंश में दर्शनीय है।

समस्त पुराणों में व्याप्त कृष्ण–कथा का उपजीव्यभूत सार–संकलन गर्ग संहिता में क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध होता है। इसमें कृष्ण–चरित से सम्बद्ध तीनों लीलाओं की अलग–अलग घटनाओं को अवस्थानुकूल विभाजित किया गया है। गोलोक खण्ड–1–वृन्दावन खण्ड 2 और गिरिराज खण्ड–3 में कृष्ण की ब्रजलीला का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। माधुर्य खण्ड–4–में भी कृष्ण का गोप–बालों के साथ रास क्रीडा आदि का वर्णन मिलता

है। मथुरा खण्ड–5 में कृष्ण की मथुरा–लीला से सम्बद्ध घटनाओं का उल्लेख किया गया है और इसी प्रकार द्वारका खण्ड–6 के अन्तर्गत उनकी द्वारका में सम्पन्न हुई लीलाओं एवं राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख हुआ है। अन्त में विश्वजित खण्ड–7, बलभद्र खण्ड–8 और अश्व मेघ खण्ड–10 में भी कृष्ण चरित के अन्य अंशों का प्रतिपादन किया गया है।

पौराणिक कृष्ण-कथाओं का रूप गोस्वामी की नाट्य कृतियों पर प्रभाव

जहाँ तक रूपगोस्वामी की नाट्य कृतियों पर पौराणिक कृष्ण–कथाओं के प्रभाव का सम्बन्ध है, इतना तो स्पष्ट ही हैं। इनसे प्रेरणा प्राप्त करके ही कृष्ण–कथा को विकसित किया गया होगा। यदि हम पौराणिक कृष्ण–कथाओं पर दृष्टिपात करें तो यह निश्चित होता है कि रूपगोस्वामी की नाट्य कृतियों पर किसी एक पुराण का प्रभाव नही पड़ा बल्कि कृष्ण–कथा से सम्बद्ध समस्त पुराणों एवं कृष्ण चरितमय ग्रन्थों की भी छाप दृष्टिगत होती है। इनमें विशेष रूप से ब्रह्मवैवर्त, पद्म–पुराण, भविष्य पुराण, गीत गोविन्द और कृष्ण कर्णामृत अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। नाटकीय कथा वस्तु के सम्पादन में इनका योगदान अप्रतिम है। रूपगोस्वामी ने अपनी नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा समन्वित पाण्डित्य की कल्पनामयी कुशलता से पौराणिक कृष्ण–कथाओं से प्रेरणा प्राप्त कर कृष्ण कथा–संवलित अपनी नाट्य कृतियों में नाटकीय नवीनता समाहित कर साहित्य–समाज को अभूतपूर्व कृष्ण–कथापरक दृश्य काव्य समर्पित किया हैं।

रूपगोस्वामी की नाट्य कृतियों का मुख्य वर्ण्य–विषय है राधा–कृष्ण की माधुर्यमयी ललित लीलाओं का वर्णन। इस सन्दर्भ में वह ब्रजलीला, मथुरा लीला और द्वारका लीला तीनों का प्रतिपादन करने हेतु अपनी प्रथम कृति विदग्ध माधवम् में ब्रजलीला का वर्णन करते हैं। इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है राधा कृष्ण का मधुर संगम कराना। इसकी पूर्ति हेतु वृन्दावन की विलासमय ललित लीलाएं वर्णनीय हैं।

'ललितमाधवम्' रूपगोस्वामी की द्वितीय नाट्यकृति है इसमें कवि ने ब्रजलीला, मथुरा लीला और द्वारका तीनों लीलाओं का एक साथ दस अंकों में वर्णन किया है। विशेषतः वृन्दावन, मथुरा और द्वारका की राधा–कृष्ण की अनुरागमयी लीलाओं के माध्यम से समृद्धिमत् शृङ्गार का शास्त्रीय स्वरूप प्रस्तुत करना ही रूपगोस्वामी का परम लक्ष्य है।

'दानकेलि कौमुदी' रूपगोस्वामी की तृतीय नाट्यकृति है जो 'भाणिका' के रूप में प्रणीत हुई है। इसमें भी वृन्दावन में दानलीला का मधुरिम वर्णन किया गया है। राधा–कृष्ण का मिलन करना ही कवि का अभिप्रेत उद्देश्य है।

इस नाट्य कृतियों पर मुख्य रूप से ब्रह्मवैवर्त पुराण और पद्म पुराण का प्रभाव

दृष्टिगत होता है। क्योंकि इन दोनों पुराणों में राधा–कृष्ण का पारस्परिक सम्बन्ध तथा एक दूसरे के प्रति आकर्षण सहित विविध रास लीलाओं का वर्णन अन्य पुराणों की अपेक्षा प्रायः भिन्न है। इन दोनों पुराणों में राधा–कृष्ण की तीनों लीलाओं का विशद विवेचन हुआ है। साथ ही राधा–कृष्ण के दाम्पत्य सम्बन्ध का सङ्केत भी इन्हीं पुराणों में मिलता है।

रूपगोस्वामी की नाट्य कृतियों पर श्रीमद् भागवत और विष्णु पुराण के प्रभाव को मानना सर्वथा अनौचित्यपूर्ण है क्योंकि इन पुराणों में कृष्ण के साथ 'राधा' नाम की चर्चा भी नहीं की गयी। भले ही किसी गोपी विशेष को 'राधा' का संकेत माना जाये किन्तु 'राधा' नाम का उल्लेख न होना एक विलक्षण विषय है। अतः रूपगोस्वामी की नाट्य कृतियों पर दोनों पुराणों का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं माना जा सकता।

रूपगोस्वामी की नाट्य कृतियों पर देवी भागवत पुराण का प्रभाव मान्य हैं क्योंकि इसमें राधा की आराधना पद्धति एवं उपासना का विशेष माहात्म्य बताया गया है। इसमें कृष्ण की चिन्मयी शक्ति स्वरूपा राधातत्व की महिमा का गुणगान होने से नाट्य कृतियों पर राधा तत्व की प्रधानता पर पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है।

यदि गर्ग संहिता को ही नाट्य कृतियों का उपजीव्य स्रोत कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी क्योंकि कृष्ण–कथा परक पौराणिक आख्यानों और उल्लेखों का सार–संकलन ही इसका प्रतिपाद्य विषय है। इसमें राधा–कृष्ण के पूर्ण व्यक्तित्व का बोध प्राप्त किया जा सकता है।

भविष्य पुराण का भी प्रभाव नाट्य कृतियों में देखा जा सकता है क्योंकि अभिमन्यु नामक गोप सुत के साथ राधा का मायाविक विवाह इसी पुराण की देन मानी जा सकती है।

महाभारत का भी नाट्य कृतियों पर प्रभाव देखा जा सकता है। मुख्य रूप से 'ललितमाधवम्' में जहां द्वारका लीला के प्रसंग में कंस वध, शंखचूड़वध और शिशुपाल वध इत्यादि का उल्लेख हुआ है। कुछ ऐसे ही प्रसंग है जिनका प्रायः सभी पौराणिक ग्रन्थों में उल्लेख हुआ है, उन पर किसी विशेष ग्रन्थ का प्रभाव कहना सर्वथा अनुचित है।

रूपगोस्वामी की नाट्य कृतियों से पूर्व कृष्ण–कथा के साथ राधा का जो

तादात्म्य है उसका विविध स्तरों पर विवेचन हुआ है। उनके प्रारम्भिक स्तर पर दृष्टिपात करने पर यह ज्ञात होता है कि वह राधा सर्वप्रथम कृष्ण–वल्लभा गोपी के रूप में उद्घृत हुई है। उसमें उनका नाम संकीर्तन भी नहीं हुआ।

वह एक अनामिका गोपी के रूप में कृष्ण की प्रेम–पात्री बनकर अवतरित हुई हैं। कृष्ण–कथा में राधा का यह प्रसंग श्री मद्भागवत और विष्णु पुराण में दर्शनीय है।

द्वितीय स्तर पर राधा का नामोल्लेख सहित कृष्ण–चरित से सम्बद्धपूर्ण परिचय प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में ब्रह्मवैवर्त, पद्म–पुराण, देवी भागवत, महाभारत और गर्गसंहिता का उपर्युक्तोल्लेख किया गया है। इन्ही ग्रन्थों को उपजीव्य स्रोत मानकर परवर्ती संस्कृत साहित्य में राधा–कृष्णमय अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। इस स्तर तक की रचनाओं में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रासेश्वरी राधा रसिकशिरोमणि रसराज श्री कृष्ण की केवल प्रणयपात्री प्रियतमा के रूप में प्रदर्शित हुई हैं, उनकी महाभावस्वरूपा ह्लादिनी शक्ति के रूप में नहीं।

षोडश शताब्दी से सम्बद्ध तृतीय स्तर पर राधा–कृष्ण को आध्यात्मिक–दर्शन की पृष्ठभूमि पर प्रदर्शित कर महाप्रभू चैतन्य ने एक ऐसे सिद्धान्त का प्रवर्तन किया जो भारतीय धर्म–संहिता में गौडीय–वैष्णव–सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस सिद्धान्त के अनुयायी गौडीय–गोस्वामियों ने राधा और कृष्ण की अलौकिक लालाओं को व्यवहृत लौकिक लीलाओं के अनुरूप गौडीय–वैष्णव–सिद्धान्त की दर्शन–भित्ति पर इस प्रकार स्थापित किया कि सम्पूर्ण धार्मिक सम्प्रदाय स्तब्ध हो गया। इस सिद्धान्त में राधा–कृष्ण की केवल प्रणाय–प्रेयसी ही नहीं अपितु रसिक बिहारी श्री कृष्ण की महाभावस्वरूपा ह्लादिनी शक्ति के रूप में भी स्वीकृत हुई। जिससे स्वयं भगवान श्री कृष्ण आह्लादित होकर भक्ति–भावना से भावाभिभूत भक्तों का आह्लादन करते हैं।

गौड़ीय–गोस्वामियों में रूपगोस्वामी का स्थान सर्वोपरि है जिन्होंने राधा तत्व की आध्यात्मिक विवेचना कर ऐसी दीपशिखा प्रज्ज्वलित की जिसकी ज्योति से सम्पूर्ण जगत् को नवीन आलोक प्राप्त हुआ। राधा और कृष्ण की माधुर्यमयी अलौकिक लीलाओं को ही लौकिक रूप में नाटकीय रसमयता से समन्वित कर अपने दार्शनिक सिद्धान्त को

प्रतिष्ठापित करना ही रूपगोस्वामी का परम उद्देश्य है।

रूपगोस्वामी महाप्रभू चैतन्य द्वारा प्रवर्तित गौड़ीय–वैष्णव–सिद्धान्त के सर्वश्रेष्ठ प्रपोषक और उनके परम प्रिय शिष्य थे। रूपगोस्वामी के नाम पर ही गौड़ीय–वैष्णव समाज में रूपा नुग सम्प्रदाय का प्रचलन है। वह एक भक्त कवि हैं। राधा–कृष्ण की भक्ति–भावना से भावाभिभूत रूपगोवामी का भक्तिरस के प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में अनन्य स्थान है। भक्ति रस की प्रतिष्ठापना में रूपगोस्वामी ने उपास्य, उपासक और उपासना का मार्ग अपनाकर प्रेमानुराग रस–सागर सार मूर्ति भगवान् श्री कृष्ण को उपास्य और उनकी महाभावस्वरूपा ह्लादिनी शक्ति 'राधारससुधा निधिस्तवः' को उपासना का लक्ष्य मानकर स्वयं को उपासक भक्त के रूप में रूपायित किया है।

राधा और कृष्ण की अनुरागमयी रासलीलाओं का श्रृङगारमय वर्णन करने हेतु रूपगोस्वामी ने राधा और कृष्ण को नायिका और नायक के रूप में स्थापित कर तीन प्रमुख नाट्य कृतियों का प्रणयन किया।

1. विदग्धमाधवम्,
2. ललितमाधवम् और
3. दानकेलि कौमदी (भाणिका)

इन नाट्य कृतियों का सविस्तार वर्णन अग्रिम अध्यायों में किया जायेगा।

तृतीय अध्याय

'विदग्धमाधवम्' की नाट्य शास्त्रीय समीक्षा

- कथावस्तु का स्वरूप
- पात्र योजना (पात्रों का चरित्र चित्रण)

तृतीय अध्याय

रूपगोस्वामी की नाट्य कृतियों में कथावस्तु का विवेचन

कथावस्तु का स्वरूप

संस्कृत नाटकों में वस्तु, नेता और रस, ये तीन रूपक के भेदक तत्व कहे गये है।[1] रूपकों में कथावस्तु का सम्पादन ऐसा होना चाहिए जो सामाजिकों का हृदयावर्जन कराने में समर्थ हो सके। इसीलिए रूपककार अपनी नाट्यकृति में समस्त विश्व की अनुकृति का समावेश कर ऐसी मनोरम कथावस्तु प्रतिपादित करने का प्रयास करता है जो सामाजिकों के रसानुभूति कराने में उपादेय हो सके। इसी भाव को व्यक्त करने हेतु आचार्य भरत रूपक को 'त्रैलोक्यानुकृति' के पर्याय से अभिहित करते हैं।[2] अस्तु, रूपक में वस्तु का प्रतिपादन, रसास्वादन को आधार मानकर ही करना चाहिए।

रूपक का वर्ण्य–विषय ही कथावस्तु है। रूपककार सामाजिकों के समक्ष जिस कथा की मञ्च–प्रस्तुति से रसास्वादन कराने की योजना बनाता है वही कथा, रूपक की 'कथावस्तु' कही जाती है। रसास्वाद्य सामग्री ही रूपक का प्राण तत्व होती है और रसचवेणा ही सहृदय एवं असहृदय द्विविध सामाजिकों के लिए उपादेय बनकर रूपक में कथावस्तु की सार्थकता सिद्ध करती है। इस कथावस्तु को रूपक का शरीर माना गया है और रस को उसकी आत्मा। बिना शरीर के आत्मा की सम्भावना सम्भव नहीं, अतएव रूपक में रसानुभूति कराने हेतु कथावस्तु की अपेक्षा करना परम आवश्यक है।

'कथावस्तु' के संदर्भ में प्रयुक्त होने वाले पर्यायों का पर्यालोचन भी परम अनिवार्य है। प्रायः इतिवृत्त, कथा, कथानक और कथावस्तु को एक ही अर्थ का सूचक समझा जाता है किन्तु इनके भी अन्तर अभिज्ञेय हैं।

प्रायः इतिवृत्त और कथा को परस्पर पर्याय माना जाता है और कथानक तथा कथावस्तु को उनसे भिन्न एक दूसरे का पर्याय कहा जाता है।

---

1. वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः – दशरूपक 1/16
2. इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम् – नाट्यशास्त्र 21/1

कथा और कथावस्तु में भी सूक्ष्म अन्तर है। कथा, वस्तुतः वह होती है जो किसी नाट्यकृति का आधार बनती है और उस कथा की घटनाओं एवं पात्रों को अपनी प्रतिभा से जब कोई नाटककार अपनी नाट्यकृति में बढ़ा चढ़ाकर सजाता और संवारता है तो वह एक नव्य स्वरूप के साथ कथावस्तु या कथानक की संज्ञा से अभिहित की जाती है।

हम कथावस्तु को परिभाषित करते हुए विविध आचार्यों ने अपनी विविध परिभाषाएँ प्रस्तुत की है। उन्हें प्रस्तुत करते है। जो निम्न प्रकार है –

1. आचार्य भरत ने इतिवृत्त को नाटक का शरीर कहा है।[1]
2. आचार्य अभिनवगुप्त – वस्तु रूपक का साध्यस्वरूप कहा है। वस्तु का विषय इतिवृत्त है।[2]
3. आचार्य शारदा तनय के अनुसार – वस्तु, प्रबन्ध अर्थात् नाटक का कवि द्वारा कल्पित शरीर होता है। इसे ही, नाट्य और अभिनय के ज्ञाता 'इतिवृत्त' कहते है।[3]
4. आचार्य सागर नंदी – आख्यान को ही वस्तु कहते है।[4]
5. आचार्य विश्वनाथ – इतिवृत्त ही वस्तु होती है।[5]
6. आचार्य धनञ्जय – इतिवृत्त को ही वस्तु का पर्याय मानते है।[6]
7. आचार्य धनिक ने दशरूपक की टीकावृत्ति में वर्ण्य–विषय को ही वस्तु माना है। इसके लिए वह 'वर्णनीय' शब्द का उल्लेख करते हैं।[7]
8. आचार्य रूपगोस्वामी इतिवृत्त को ही वस्तु मानते हैं।[8]

---

1. इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम् – ना. शा. – आचार्य भरत
2. नाट्यशास्त्र – अभिनव भारती, अभिनवगुप्त 18–10
3. वस्तु तत्स्यात्प्रबन्धस्य शरीरं कविकल्पितम्।
   इतिवृत्तं तदेवाहुनाट्याभिनय कोविदाः।
   – शारदातनय प्रणीत भावप्रकाशन, सप्तमी–धिकारः, 131 श्लोक
4.
5. साहित्यदर्पण – आचार्य विश्वनाथ – 6/41 षष्ठ परिच्छेद (चौखम्भा वि.भवन वाराणसी)
6. दशरूपक – आचार्य धनञ्जय 1/19
7. दशरूपक – आचार्य धनिक कृत टीका वृत्ति – (1/68 वृत्ति)
8. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी – 12 वीं कारिका

उपर्युक्त आचार्यों द्वारा वस्तु के संदर्भ में प्रतिपादित परिभाषाओं पर दृष्टिपात करने पर, कथावस्तु की वास्तविक परिभाषा निर्धारित करने में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगत होते हैं।

(क) आचार्य भरत और अभिनवगुप्त के अनुसार वस्तु रूपक का साध्य फल होता है। वे बीज को वस्तु का पर्याय मानते हैं। यदि वस्तु और बीज एक ही हैं तो बीज और फल का अन्तर कैसे स्पष्ट होगा ? अतः साध्य फल के रूप में वस्तु को स्वीकार करना रूपक के प्रथम भेदक तत्व होने का अतिक्रमण करना होगा।

(ख) यदि हम आचार्य शारदा तनय तथा आचार्य विश्वनाथ द्वारा परिभाषित इतिवृत्त को ही 'वस्तु' स्वीकार करें तो वस्तु के अन्तर्गत उत्पाथ और मिश्र का अधिग्रहण कैसे होगा ? अतः इसमें अव्याप्ति दोष हो जायेगा।

(ग) आचार्य सागर नन्दी द्वारा स्वीकृत यदि आख्यान को वस्तु कहें तो वस्तु में केवल पुराण–प्रसिद्ध वृत्तों का ही ग्रहण हो सकेगा, फिर, वस्तु के अन्तर्गत इतिहासादि अन्य वृत्तों, उत्पाथ एवं मिश्र कथाओं को कैसे ग्रहण किया जायेगा ?

(घ) आचार्य धनञ्जय द्वारा परिभाषित इतिवृत्त को 'वस्तु' मान लेने पर, उसमें सम्पूर्ण कथा का समावेश हो जायेगा जबकि रूपककार कतिपय कथांश को ही लेकर अपनी कल्पना–चातुरी से उसका विस्तार करता है। अतः इनकी परिभाषा में उत्पाथ एवं मिश्र वृत्त का ग्रहण सम्भव नहीं हो सकेगा।

उपर्युक्त परिभाषाओं में आचार्य धनिक द्वारा 'वस्तु' के लिए प्रयुक्त 'वर्णनीय' शब्द ही वस्तु की सार्थकता सिद्ध करता है। इसे स्वीकार कर लेने पर प्रख्यात, उत्पाथ और मिश्र तीनों प्रकार की कथावस्तुओं का अधिग्रहण सम्भव हो सकता है। इस प्रकार रूपक का वर्ण्य–विषय ही वस्तु की संज्ञा से अभिहित किया जायेगा।

आचार्य रूपगोस्वामी नाटक में ख्यात् वृत्त को ही ग्रहणीय मानते हैं। इनमें इतिहास–पुराणादि में प्रसिद्ध आख्यान ही ख्यात वृत्त कहे जातें हैं। कवि द्वारा कल्पित घटनाओं से निर्मित आख्यान 'क्लृप्त' कहलाते हैं। इनका प्रयोग केवल नाटिका में किया जाता है। नाटकों में 'क्लृप्त' का प्रयोग वर्जित है।[1]

---

1. इतिवृत्तं भवेत् ख्यातं क्लृप्तं मिश्रमिति त्रिधा।
शास्त्र प्रसिद्धं ख्यातं स्यात् क्लृप्तं कविविनिर्मितम्।।
तयोः सह, कुलतामिश्रं क्लृप्तं वर्ज्यन्तु नाटके।।
— नाटक चन्द्रिका — रूपगोस्वामी, 12 वीं कारिका, पृ. 4, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

कथावस्तु के विविध विभाजन

कथावस्तु के विविध विभाजनों के संदर्भ में 'प्रथमतः' कथावस्तु के स्वरूपों का परिचय प्राप्त कर लेना परमावश्यक है। रूपक में वस्तु, नेता और रस को रूपक का भेदक तत्व कहा गया है।[1] अस्तु, इनके आधार पर कथावस्तु के स्वरूप को विविध दृष्टियों से विभक्त किया जा सकता है –

(1) इति वृत्त की दृष्टि से वस्तु–स्वरूप का विभाजन।

(2) पात्रों की दृष्टि से वस्तु–स्वरूप का विभाजन।

(3) दर्शकों की दृष्टि से वस्तु–स्वरूप का विभाजन।

इतिवृत्त की दृष्टि से वस्तु–स्वरूप का विभाजन

दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने वृत्त की दृष्टि से वस्तु के स्वरूप को तीन भेदों में विभक्त किया है।[2] (1) प्रख्यात, (2) उत्पाथ और (3) मिश्र किन्तु कुछ ऐसे अन्य नाट्याचार्य भी है जिन्होंने वस्तु–स्वरूप को विविध रूपों में विभाजित किया है। उनका विभाजन कहाँ तक समीचीन है, इसका निर्णय परम अपेक्षित है।

आचार्य भरत के अनुसार वस्तु–स्वरूप के चार भेद होते हैं – 1. प्रख्यात्, 2. औपपत्तिक, 3. अनार्ण और 4. आहार्य। आचार्य भरत के इस विभाजन में औपपत्तिक के अतिरिक्त अन्य तीनों प्रकारों का अन्तर्भाव प्रख्यात में हो जाता है। औपपत्तिक को उपात्त का पर्याय माना जा सकता है किन्तु मिश्र कथावस्तु को इन चारों प्रकारों में अन्तर्भूत करना असम्भव है।

आचार्य सागर नन्दी, वस्तु–स्वरूप के दो भेद करते हैं –

1. उपात्त   2. प्रति संस्कृत

इस विभाजन में उपात्त के अन्तर्गत पौराणिक इतिवृत्त का ग्रहण तो सम्भव हो सकता है किन्तु इतिहासादि इतिवृत्त का सन्निवेश होना असम्भव है। इसी प्रकार प्रति

---

1. दशरूपक – आचार्य धनञ्जय – 1/16
2. वही – आचार्य धनञ्जय – 1/23

संस्कृत नामक द्वितीय विभाजन में उपात्त एवं मिश्र का अन्तर्भाव स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता।

आचार्य भोज ने वस्तु के स्वरूप को पञ्चशा विभक्त किया है।[1]

1. इतिहासाश्रय, 2. कथाश्रय, 3. उत्पाथ, 4. अनुत्पाथ और 5. प्रतिसंस्कार्य।

आचार्य भोज द्वारा विभाजित इतिहासश्रय, कथाश्रय एवं अनुत्पाथ, इन तीनों प्रकारों को प्रख्यात के अन्तर्गत ही अन्तर्भूत माना जा सकता है। शेष अन्य दो भेदों को मिला लेने पर वस्तु–स्वरूप के केवल तीन ही भेद होते है – प्रख्यात, उत्पाथ और प्रतिसंस्कार्य।

आचार्य शारदातनय भी वस्तु–स्वरूप के तीन ही भेद स्वीकार करते हैं।[2]

वस्तुस्वरूप के उपर्युक्त विभाजनों में दशरूपककार आचार्य धनञ्जय द्वारा किया गया वस्तु–स्वरूप का विभाजन सर्व ग्राह्य माना जा सकता है। इसके अन्तर्गत समस्त भेदों का अन्तर्भाव सम्भव हो सकता है।

आचार्य रूपगोस्वामी भी केवल तीन ही भेद प्रतिपादित करते हैं –

1. ख्यात, 2. वलृप्त और 3. मिश्र।

प्रख्यात, इतिवृत्त उत्पाथ और मिश्र

इतिहास, पुराण और महाकाव्यों इत्यादि से सहकलित इतिवृत्त 'प्रख्यात', कवि द्वारा कल्पित इतिवृत्त 'उत्पाथ' और दोनों प्रकार से मिश्रित इतिवृत्त को 'मिश्र' कहा जाता है।[3]

आचार्य रूपगोस्वामी 'ख्यात' इतिवृत्त को केवल नाटक में ही प्रस्तुत होने वाला मानते हैं, कवि–कल्पित इतिवृत्त को केवल 'नाटिका' में, मिश्र इतिवृत्त को 'ईहामृग में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार रूपगोस्वामी के मत में नाटक में वलृप्त या मिश्र इतिवृत्त का प्रयोग करना वर्जित है।[4]

1. शृङ्गार प्रकाश – आचार्य भोज, पृ. 481
2. भावप्रकाशन – आचार्य शारदातनय, पृ. 203 (गायकवाड़ ओरियण्टल संस्कृत सीरीज)
3. दशरूपक – आचार्य धनञ्जय, कारिका – 15
4. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, कारिका 12–13

दशरूपककार ने प्रख्यात, उत्पाथ और मिश्र इन त्रिविध प्रकारों को पात्रों की दृष्टि से पुनः दिव्य, अदिव्य (मर्त्य) और दिव्यादिव्य के रूप में विभक्त किया है।

जिस वस्तु में देवकोटि के पात्र हों, उसे दिव्य, जिसमें मानव पात्र हों उसे मर्त्य अथवा अदिव्य तथा जिस कथावस्तु में कुछ पात्र दिव्य तथा कुछ अदिव्य दोनों प्रकार के हो उसे दिव्यादिव्य कहते है।

आचार्य रूपगोस्वामी भी दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य इन तीनों भेदों को स्वीकार करते है।[1]

कथावस्तु को, उसके स्वरूप की दृष्टि से प्रख्यात, उत्पाथ और मिश्र इन तीनों रूपों में विभक्त करने के पश्चात् सम्पूर्ण कथावस्तु को इतिवृत्त की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

1. आधिकारिक और 2. प्रासङ्गिक।[2]

रूपक की मुख्य कथावस्तु को आधिकारिक और उसके अंग–रूप वस्तु को प्रासङ्गिक कहते हैं।

आधिकारिक कथावस्तु में प्रधान प्रयोजन को प्राप्त करने वाला अधिकारी और उस प्रयोजन पर स्वामित्व होना, अधिकार कहलाता है। अतः अधिकार प्राप्ति में अधिकारी द्वारा सम्पादित अथवा उससे सम्बद्ध समस्त इतिवृत्त को काव्य की आधिकारिक कथावस्तु माना जाता है।

प्रासङ्गिक कथावस्तु उसे कहते है, जब प्रधान लक्ष्य की सम्पूर्ति में अपेक्षित किसी प्रसङ्ग से प्रमुख प्रयोजन के साथ ही उससे किसी प्रधानेत्तर प्रयोजन की सिद्धि हो जाये।[3] इसके भी दो भेद होते हैं – 1. पताका और 2. प्रकरी।

पताका

मुख्य कथा का सुदूर तक अनुवर्तन करने वाला प्रासङ्गिक इतिवृत्त पताका, और केवल एक ही प्रान्त में प्रयुक्त होने वाला इतिवृत्त प्रकरी कहलाता है। इस प्रकरी में दूसरों

---

1. वही – रूपगोस्वामी, कारिका 7–8
2. दशरूपक – आचार्य धनञ्जय, प्रथम प्रकाश, कारिका 11, 12
3. दशरूपक – आचार्य धनञ्जय, प्रथम प्रकाश कारिका–13

की इष्ट सिद्धि होती है।[1]

आचार्य रूपगोस्वामी के अनुसार कथावस्तु या इतिवृत्त के प्रधान तथा अङ्ग के रूप में दो भेद होते है। नायक का दूर तक चलने वाला चरित्र 'प्रधान' कहलाता है। विवेच्य नाट्यकृतियों में उन्होंने श्रीकृष्ण आदि के चरित्र को 'प्रधान' माना है।

पताका और प्रकरी सदा इतिवृत्त के अङ्ग माने जाते हैं किन्तु कभी-कभी बीज आदि भी अङ्ग हो जाते हैं।[2]

पताका स्थानक

प्रासङ्गिक कथावस्तु के वर्णन-प्रसङ्ग में पताका और प्रकरी के पश्चात् पताकास्थानक का प्रसङ्ग आता है जिसके संदर्भ में नाट्याचार्यों की विविध मान्यताएँ होती हैं।

शारदातनय ने प्रासङ्गिक वस्तु को नाटक में तीन प्रकार से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। 1. पताका, 2. प्रकरी और इन्हीं के समकक्ष 3. पताका स्थानक[3]

आचार्य धनञ्जय एवं धनिक ने पताका और प्रकरी का वर्णन करने के पश्चात् पताकास्थानक को पृथक् रूप में परिभाषित किया है।[4] इससे यह स्पष्ट होता है कि दशरूपककार पताकास्थानक को पताका और प्रकरी से पृथक् मानते हैं।

नाट्याचार्य भरतमुनि प्रथमतः पताका और प्रकरी का उल्लेख करते है, तत्पश्चात् पताका स्थानक का। उन्होंने पताकास्थानक के चार भेद होते हैं।[5] आचार्य भरत के इन चारों प्रकारों को साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ भी स्वीकार करते हैं। इसके अन्य समर्थकों में आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र तथा रूपगोस्वामी का भी नाम उल्लेखनीय है।

---

1. यत् प्रधानोपकरणं प्रसङ्गात् स्वाम्यमृच्छति।
   सा पताका बुधैः प्रोवता यादवामात्यंवृतम्।।
   यत् केवलं परार्थस्य साधन च प्रदेशमाक्
   प्रकरी सा समुद्दिष्टा नववृन्दादि वृत्तवत्।। नाटक चन्द्रिका-रूपगोस्वामी, का.-34, 35।
2. नाटक चन्द्रिका - रूपगोस्वामी, का.-37, 38
3. भाव प्रकाशन - शारदातनय, सप्तम अधिकार, पृ. 201
4. दशरूपक - आचार्य धनञ्जय - 1/22
5. नाट्यशास्त्र - आचार्य भरतमुनि - एकविशो ध्यायः (31, 32, 33, 34, 35)

शारदातनय यद्यपि पताका स्थानक के दो ही भेद मानते हैं किन्तु 'अन्य' शब्द का प्रयोग कर वह भरतमुनि के श्लोकों को भी उद्घृत करते हैं।

पताका स्थानक के दो भेद मानने वालो में आचार्य धनञ्जय एवं धनिक का स्थान सर्वोपरि हैं। वे दो भेद हैं[1] – 1. तुल्येतिवृत्त रूप और 2. तुल्यविशेष रूप। इन्हें क्रमशः अन्योक्ति एवं समासोक्ति के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

आचार्य रूप गोस्वामी भरतमुनि के चतुर्विध पताका स्थानकों का अनुकरण करते हुए स्वयं भी पताका स्थानक को परिभाषित करते हुए प्रथमतः उसके दो भेद करते हैं – 1. तुल्यसंविधान और 2. तुल्य विशेषण, और इसके पश्चात् तुल्य संविधान के तीन तथा तुल्य विशेषण का एक भेद स्वीकार करके पताकास्थानक के कुल चार प्रभेद निर्धारित करते हैं।[2]

आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित पताकास्थानकों को रूपगोस्वामी को अक्षरसः प्रस्तुत किया है। इन चारों प्रभेदों को पृथक्–पृथक् परिभाषित किया गया है।

पताकास्थानक

आचार्य रूपगोस्वामी के अनुसार जब प्रधान अर्थ (मुख्य कार्य) की किसी भावी अवस्था या घटना की अकस्मात् सूचना मिलती हो तो उसे 'पताका–स्थानक समझना चाहिए। इसके दो भेद होते हैं – 1. तुल्य संविधान और 2. तुल्य विशेषण। इन भेदों में तुल्य संविधान के तीन और तुल्य–विशेषण के एक प्रभेद द्वारा पताकास्थानक के कुल चार भेद निरूपित किये गये हैं।[3]

1. तुल्य संविधान पताका स्थानक

इसका लक्षण प्रतिपादित करते हुए रूपगोस्वामी ने लिखा है कि जहाँ गुणवान होने पर उपचार के कारण अचानक अभिलषित प्रयोजन की सिद्धि सम्बन्धी सूचना से प्राप्त हो वहाँ प्रथम पताका स्थानक समझना चाहिए।[4] इसका उदाहरण आगे दिया जायेगा।

---

1. दशरूपक – 1/22
2. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, कारिका (188 से 192)
3. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 186, 187, 18, पृ. 134 चौ. स. सी. वा.
4. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 189

2. द्वितीय पताकास्थानक

जब किसी काव्य रचना में प्रयुक्त अतिशय श्लिष्ट वचन का प्रकृत विषय के वर्णन हेतु किया गया प्रयोग अप्रकृत अर्थ के भी उपयुक्त हो जाता हो तो उसे 'द्वितीय पताका स्थानक' मानना चाहिए।[1]

3. तृतीय पताका स्थानक

जहाँ अस्फुट एवं अभिप्रेत प्रस्तुत अर्थ की अभिव्यक्ति श्लिष्ट एवं प्रश्नोत्तर वाले संवादों के द्वारा होती हो तो उसे तृतीय पताका स्थानक कहना चाहिए।[2]

4. चतुर्थ पताका स्थानक

जब नाटकीय कथा के उपयुक्त द्वयर्थ वचन की रचना मुख्य अभिप्राय के अतिरिक्त किसी भिन्न अर्थ को भी प्रकट करे तो उसे 'चतुर्थ पताका स्थानक' समझना चाहिए।[3]

वस्तु निबंधन की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन

रङ्गमञ्च पर नाट्य प्रस्तुति के समुचित सम्पादन हेतु सम्पूर्ण कथानक को दो भागों में विभक्त किया गया है –

1. सूच्य और 2. दृश्य (असूच्य)।

नाट्य प्रस्तुति में, कथानक के नीरस प्रसङ्ग को विस्तारमय से पूर्ण रूप से प्रदर्शित न करके रूपक की सरसता और कथानक की निरन्तरता में अपेक्षित अंश को सूचित करने के लिए सूच्य कथानक का प्रयोग किया जाता है।

सूच्य कथानक की सूचना अर्थोपक्षेपकों के माध्यम से सामाजिकों तक सम्प्रेषित की जाती है। इन अर्थोपक्षेपकों की संख्या पाँच है :–

1. विष्कम्भक
2. चूलिका

---

1. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 190
2. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 191
3. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 192

3. अङ्कास्य

4. अङ्कावतार

5. प्रवेशक[1]

इनके लक्षण एवं उदाहरण आगे अर्थोपक्षेपकों के प्रसङ्ग में अवलोकनीय हैं।

नाट्य धर्म की दृष्टि से 'वस्तु' को तीन भागों में विभक्त किया गया है –

1. सर्वश्राव्य

2. नियत काव्य

3. श्रताव्य[2]

आचार्य रूपगोस्वामी ने कथावस्तु के सूच्य और असूच्य पहले इन दो भेदों का उल्लेख किया है। अर्थोपक्षेपक के उपर्युक्त पाँच भेदों को उन्होंने 'सूच्य' के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है।

रूपगोस्वामी 'असूच्य' के दो भेद करते हैं – दृश्य तथा श्रव्य। इनमें भी प्रथम के वह 'स्वगत' और 'प्रकाश' दो प्रभेदों का वर्णन करते हैं। 'प्रकाश' के अन्तर्गत वह सर्व प्रकाश और नियत प्रकाश का उल्लेख करते हैं। नियत प्रकाश में वह 'जनान्तिक' तथा 'अपवारित' इन दो भेदों को स्वीकार करते हैं।[3]

इनका सोदाहरण लक्षण आगे दृष्टव्य है।

नाटकीय कथावस्तु में सूच्यांश को संसूचित करने के लिए उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी अन्य विधियाँ हैं जिनका नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से नाटकों में प्रचुर प्रयोग देखने को मिलता है। इनमें प्रमुख रूप से आकाशभाषित तथा एकोक्ति महत्वपूर्ण हैं।

आकाशभाषित

किसी दूसरे के द्वारा न कहे शब्दों को भी कहे गये शब्द जैसा सुनकर जब कोई (मंचस्थ पात्र) बोलता है तो उसे 'आकाशभाषित' कहते हैं।[4]

---

1. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 193–194
2. दशरूपक – आचार्य धनञ्जय, प्रथम प्रकाश, का., 122–127
3. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का., 208–212
4. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 227–228

एकोक्ति

रङ्गमंच पर किसी पात्र द्वारा स्वयमेव उचित–प्रत्युक्ति के बिना अपनी मनोदशा का वर्णन करना 'एकोक्ति' कहलाता है।

रूपगोस्वामी आचार्य भरत वृत्त नाट्यशास्त्रीय परम्परा का अनुकरण करते हुए तथा रसार्णवसुधारक के प्रणेता आचार्य सिंहभूपाल के मतों का अनुशीलन करते हुए स्वयं भी अपने ग्रन्थ नाटक चन्द्रिका में उन्होंने नाटकीय तत्वों का निरूपण किया है।[1] उन्हीं के लक्षणों को आधार मानकर उनकी नाट्य कृतियों का कथावस्तु विवेचन करना अधिक समीचीन तथा उपयुक्त जान पड़ता है। इसीलिए उनके मान्य सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर नाट्य कृतियों में प्रतिपादित। नाट्य तत्वों का यथासम्भव अनुसंधान यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

नाटक का लक्षण निरूपित करते हुए रूपगोस्वामी लिखते हैं कि उसमें नायक को धीरोदात्त होना चाहिए। इसे दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य प्रकारों में से किसी एक प्रकार में स्थापित किया जा सकता हैं। नाटक में यदि श्रीकृष्ण को नायक के रूप में प्रस्तुत किया जाय तो ऐसी दिशा में उन्हें घीरललित नायक भी माना जा सकता है। श्रीकृष्ण को दिव्य नायक की कोटि में रखना अधिक समीचीन हैं। वह अपने ऐश्वर्य एवं गुणों के कारण ललित तथा उदात्त गुणों की एक साथ शोभापूर्ण अभिव्यक्ति करने में समर्थ हैं अतः उन्हें शृङ्गार बहुल नाटक में नायक के रूप में रखना सर्वथा उपयुक्त होता है। अपने अप्रतिम गुणों से संवलित होने के कारण वह सर्वोत्तम नायक माने जा सकते हैं।[2]

रूपगोस्वामी के अनुसार नाटक में शृङ्गार अथवा वीर रस में से किसी एक रस की प्रधानता रहती है। नाटक में रमणीय और मधुर इतिवृत्त होना चाहिए। इसमें प्रस्तावना, सन्धि, सन्ध्यङ्ग, इक्कीस सन्ध्यन्तर, छत्तीस भूषणादि लक्षण पताकास्थानक, अर्थ प्रकृतियां, अर्थोपक्षेपक आदि नाटकीय तत्वों का समुचित सन्निवेश होना चाहिए। इसके अतिरिक्त पात्रों के स्वभाव, पद आदि के अनुसार संस्कृत, प्राकृत (शौरसेनी आदि भाषाओं का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार उत्तम काव्य रचना, दोषहीनता और समस्त मनुष्यों को अभिनय

1. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 1
2. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 7–9

आदि नाट्य प्रयोगों के प्रस्तुतीकरण से आनन्द प्रदान करने वाले नाटकीय लक्षणों से युक्त रूपक के प्रकार को नाटक कहना चाहिए।[1]

रूपगोस्वामी ने विदग्धमाधवम् और ललितमाधवम् इन दो नाटकों का प्रणयन किया है। 'दानकेलिकौमुदी' रूपगोस्वामी की 'भाणिका' कोटि की रचना है। इसे भाण की तरह एक लघीयसी कृति के रूप में 'भाणिका' नाम से सम्बोधित किया गया है। साहित्य दर्पण में इसका लक्षण भी निरूपित किया गया है। नाट्य लक्षण रत्नकोश में 'भाणिका' के सात अङ्ग बताये गये हैं। साहित्य दर्पण में भी 'भाणिका' के सात अङ्गों का वर्णन निम्नलिखित है :–

उपन्यासोऽथविन्यासः विबोधः साध्वसं तथा

समर्पणं निवृत्तिश्च संहारश्चापि सप्तमम्।

प्रस्तुत कारिका में उपन्यास, विन्यास, विबोध, साध्वस, समर्पण, निवृत्ति तथा संहार ये सात अङ्ग भाणिका के कहे गये हैं। साहित्य दर्पण के अनुसार भाणिका में एक अङ्ग होता है जिसमें नेपथ्य, मुख और और निर्वहण सन्धियां, कैशिकी और भारती वृत्ति का समुचित संविधान होता है। इसमें नायिका उदात्त होती है और पुरुष मन्द। इस प्रकार भाणिका में सात अङ्ग होते हैं।[2] रूपगोस्वामी के ग्रन्थों में 'भाणिका' का लक्षण अनुपलब्ध है।

रूपगोस्वामी द्वारा नाटकीय इतिवृत्त को ख्यात, वलृप्त तथा मिश्र इन तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है। इनमें इतिहास–पुराणादि शास्त्र–प्रसिद्ध आख्यान को 'ख्यात', कल्पित घटनाओं से निर्मित आख्यान को वलृप्त तथा दोनों के मिश्रण से निर्मित इतिवृत्त को 'मिश्र' इतिवृत्त कहा गया है। उन्होंने नाटक में ख्यात इतिवृत्त, नाटिका में वलृप्त इतिवृत्त तथा ईहामृग में मिश्र इतिवृत्त की योजना स्वीकार की है।[3]

1. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 3–6
2. भाणिका लक्ष्णनेपथ्य मुख निर्वहणान्विता।
   कैशिकी भारतीवृत्तियुक्तैकाङ्कविनिर्मिता।
   उदात्तनायिका मन्द पुरुषा त्राङ्गसप्तकम्।
   – सा. . – आचार्य विश्वनाथ 6/299
3. नाटक चन्द्रिका – का. 12–13

रूपगोस्वामी की तीनों नाट्य कृतियों में राधा–कृष्ण की परस्पर प्रणय लीलाओं का रमणीय प्रतिपादन किया गया है। इन तीनों में राधा–कृष्ण का नित्य संयोग कराना ही नाटककार का अभीष्ट प्रयोजन है। इन नाट्य कृतियों में कथावस्तु वस्तुतः पौराणिक आख्यानों पर ही अवलम्बित है तथा इनमें पात्र भी प्रायः पौराणिक ही है किन्तु नाटककार ने कथावस्तु के संयोजन में कुछ नवीन परम्पराओं एवं समीचीन घटनाओं का यथावसर प्रयोग अपनी प्रतिभा–प्रसूत कल्पनाओं पर संयोजित करने का प्रयास किया है। इनमें उन्होंने गौड़ीय वैष्णव मत के अनुकूल मान्य सिद्धान्तों को भी अपनाया है तथा पौर्णमासी, नान्दीमुखी, नववृन्दा, जटिला, मुखरा, भाण्डुरा, कराला इत्यादि अनेक ऐसे पात्रों को ग्रहण किया है। जो पौराणिक परम्परा से पूर्णतया असम्बद्ध हैं। इनका विशेष वर्णन गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय में ही देखने को मिलता है।

आचार्य रूपगोस्वामी द्वारा निरूपित नाट्य लक्षणों के आधार पर उनकी नाट्य कृतियों का विवेचन करना अत्यन्त समीचीन है।

नान्दी

'नान्दी' का लक्षण निरूपित करते हुए रूपगोस्वामी ने लिखा है कि इसमें आशीर्वाद, नमस्कार अथवा वस्तु निर्देश आदि तत्वों में से किसी एक का वर्णन अवश्य होना चाहिए। इसमें आठ, दस या बारह पद रहते हैं। नान्दी 'चन्द्र' नाम से अङ्कित करने पर प्रायः मङ्गल तथा अभीष्ट अर्थ प्रदान करने वाली उत्तम मानी जाती है। इसके विपरीत नान्दी में चन्द्र, कमल, चकोर, कुमुद आदि वस्तुओं का वर्णन मङ्गलप्रद माना जाता है।[1]

इस प्रकार रूपगोस्वामी के अनुसार नान्दी के तीन भेद स्वीकार किये गये हैं – 1. आशीर्वादात्मक नान्दी, 2. नमस्क्रियात्मक नान्दी और 3. वस्तु–निर्देशात्मक। इन तीनों प्रकार की नान्दी के उदाहरण विवेच्य नाट्य कृतियों में देखे जा सकते हैं –

1. आशीर्वादात्मक नान्दी

विदग्धमाधव नाटक के प्रथम श्लोक में आशीर्वादात्मक नान्दी का प्रयोग किया

---

1. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, कारिका 15–16

गया है। इसमें श्रीकृष्ण की हरिलीला रूपी शिखरिणी से समस्त भक्त सम्प्रदाय की तृष्णा को तृप्त कराने की वन्दना निवेदित की गयी है। प्रस्तुत नान्दी में सुधानिधि चन्द्र, का भी वर्णन किया गया है।[1] इसे मङ्गलसूचक माना जा सकता है।

2. नमस्क्रियात्मक नान्दी

विदग्धमाधव के द्वितीय श्लोक में शचीनन्दन (श्रीकृष्ण अथवा चैतन्य महाप्रभु) की वन्दना करते हुए रूपगोस्वामी ने नमस्क्रियात्मक नान्दी को प्रस्तुत किया है।[2]

प्रस्तावना

रूपगोस्वामी ने प्रस्तावना का दूसरा नाम आमुख भी माना है। इसका लक्षण बतलाते हुए उन्होंने लिखा है कि यदि सूत्रधार का नदी के साथ अपने कार्यार्थ किया जाने वाला चातुर्यपूर्ण वार्तालाप प्रस्तुत की जाने वाली नाटकीय कथा आदि को भी प्रकट करने लगे तो उसे 'आमुख' कहना चाहिए। इसके पाँच अङ्ग होते हैं –

1. कथोद्धात 2. प्रवर्तक 3. प्रयोगातिशय 4. उद्धात्यक 5. अवलगितक।

कुछ आचार्यों के अनुसार आमुख के भी दो भेद होते है – 1. प्रस्तावना और 2. स्थापना।

उनके अनुसार यदि नटी, विदूषक, नट तथा सूत्रधार के परस्पर संवाद रहें और बीथी के अङ्गों का पूर्णतः सन्निवेश न किया जाये तो उसे 'प्रस्तावना' समझना चाहिए किन्तु वीथी के सभी अङ्गों का सन्निवेश होने पर वही 'स्थापना' कहलाती है।[3]

रूपगोस्वामी की तीनों नाट्य कृतियों में 'प्रस्तावना' की योजना प्रस्तुत की गयी है। इनमें सूत्रधार के रूप में नाटककार स्वयं रूपगोस्वामी ही हैं।

विदग्धमाधव नाटक में प्रस्तावना के अन्तर्गत सूत्रधार और पारिपार्श्विक का वार्तालाप प्रस्तुत किया गया है। पारिपार्श्विक को सहायक नट के रूप में माना जा सकता है। उक्त नाटक में नटी की प्रस्तुति नहीं करायी गयी। सूत्रधार स्वयं रूपगोस्वामी ने अपनी रचना की सफलता के लिए भगवद्लीला की महिमा को अनुकूल माना है।[4]

---

1. विदग्ध माधवस् – रूपगोस्वामी, श्लोक–1
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, श्लोक–2
3. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 29
4. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, श्लोक 4

1. कथोद्घात

इसका लक्षण प्रतिपादित करते हुए रूपगोस्वामी ने लिखा है कि यदि सूत्रधार के कथन या आशय को लेकर उसे अपने मनोनुकूल बतलाते हुए रङ्गमञ्च पर कोई पात्र प्रवेश करे तो उसे 'कथोद्धात' कहा जाता है।[1]

विदग्ध माधव नाटक में पारिपार्श्विक के प्रवेश को कथोद्धात माना जा सकता है जो सूत्रधार के मनोनुकूल आशय को प्रकट करता हुआ विदग्धमाधव नामक उसके नवीन नाटक को अभिनय करने की सूचना देकर रङ्गभूमि में प्रवेश कराने का आग्रह करता है।[2]

2. प्रवर्तक

यदि समयगत समानता के द्वारा किसी (घटना) की सूचना सम्प्रेषित की जाय और उसी के अनुसार मञ्च पर पात्र का प्रवेश हो तो उसे 'प्रवर्तक' कहा जाता है।[3]

विदग्ध माधव नाटक में इसका उदाहरण देखा जा सकता है।

सोऽयं वसन्तसमयः समयाय यस्मि –
न्पूर्णं तमीश्वरमुपोढनवानुरागम्
गूढग्रहा रूचिरया सह राधयासौ
रङ्गाय संगमयिता निशि पौर्णमासी।[4]

उक्त उदाहरण में सूत्रधार द्वारा वसन्त की शोभा का वर्णन करते हुए द्वयर्थ पदावली में भगवती पौर्णमासी के प्रवेश की सूचना दी गयी है जिसका प्रधान कार्य राधा–कृष्ण का शृङ्गारमय संयोग करना है।

3. प्रयोगातिशय

'यह है' इस प्रकार आरम्भ करते हुए जब सूत्रधार किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दे तो उसे 'प्रयोगातिशय' मानना चाहिए।

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, कारिका 23
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 4
3. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 24
4. विदग्ध माधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, श्लोक–10

विदग्धमाधव नाटक में सूत्रधार भगवती पौर्णमासी के प्रवेश की सूचना देता हुआ कहता है कि सान्दीपनि मुनि की माता, ब्रह्मा की स्त्री के समान कान्ति वाली श्वेत केशों वाली, देवर्षि नारद की शिष्या 'यह पौर्णमासी' वक्षस्थल पर काषायवस्त्र को धारण की हुई परिजनों के साथ नन्द के घर से शनैः शनैः इधर स्पष्टतः पर्णशाला के मार्ग की ओर से प्रवेश कर रही है।[1]

प्रस्तुत उदाहरण में 'यह पौर्णमासी प्रवेश कर रही है' इस प्रकार की सूचना को 'प्रयोगातिशय' माना जा सकता है।

प्ररोचना

देश, काल, कथानायक तथा नाटक की प्रशंसा के द्वारा दर्शकगण का अपनी ओर ध्यानाकृष्ट करना 'प्ररोचना' कहलाता है।[2]

विदग्धमाधव में सूत्रधार विद्वत्समाज का ध्यान आकृष्ट कराते हुए कहता है कि है विद्वतगण यद्यपि यह नाटक मुझ जैसे क्षुद्र जन की कृति तथापि इसमें भगवान श्रीकृष्ण के गुणों का वर्णन है जिसके द्वारा आप लोगों के मनोरथ की पूर्ति सम्भव है।

यहाँ कथानायक श्रीकृष्ण के चरित्र से युक्त अपनी नाट्य कृति को मङ्गलप्रद बताकर सूत्रधार समस्त सामाजिकों का ध्यानाकर्षण कराता है। इसे 'प्ररोचना' का उदाहरण माना जा सकता है।

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, श्लोक–11
2. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 19

विदग्धमाधव नाटक में कथावस्तु का विभाजन

1. आधिकारिक इतिवृत्त

विदग्धमाधव नाटक में राधा–कृष्ण की परस्पर प्रणय–कथा आधिकारिक इतिवृत्त है। प्रस्तुत नाटक का मुख्य फल राधा–कृष्ण का नित्य–संयोग है। राधा के नित्य संयोग रूपी फल को प्राप्त करने के अधिकारी श्री कृष्ण हैं उन्हीं का उस फल पर पूर्ण स्वामित्व है और वही इसे प्राप्त भी करते हैं। नाटक के प्रारम्भ में राधा–कृष्ण के नित्य समागम कराने का संकल्प करती हुई पौर्णमासी सूत्रधार द्वारा अपने रहस्यमय वृत्तान्त को जान लेने पर आश्चर्य प्रकट करती हुई पूँछती है कि हे नर्तकसामन्त सार्वभौम, 'मैं राधा के साथ उस ईश्वर रूप श्रीकृष्ण का मिलन कराऊँगी' यह अत्यन्त रहस्यमय सन्दर्भरूपी पुष्पमञ्जरी आपके कानों का आभूषण कैसे बन गयी।[1] राधा–कृष्ण के नवीन शृङ्गारमय सङ्गम रूप कार्य को सफलतापूर्वक सम्पादित कराने के लिए पौर्णमासी अपने भाग्य पर भरोसा करती है।[2] राधा–कृष्ण का शृङ्गारमय नित्य संयोग कराना ही नाटककार का अभीष्ट प्रयोजन है। यही इस नाटक का आधिकारिक इतिवृत्त है। रूपगोस्वामी के अनुसार श्री कृष्ण और राधा आदि का चरित्र प्रधान इतिवृत्त है।

प्रासङ्गिक इतिवृत्त

रूपगोस्वामी प्रासङ्गिक इतिवृत्त के स्थान पर 'अङ्ग; नामक भेद का उल्लेख करते हैं। इसमें नायक के अतिरिक्त अमुख्य पात्रों के वे चरित्र जिनसे नायक को प्राप्ति में सहायता मिलती हो 'अङ्ग' कहलाते हैं। पताका और प्रकरी इतिवृत्त के अङ्ग कहलाते हैं।[3]

पताका

जो प्रासङ्गिक कथा मुख्य कथा के साथ दूर तक चलती रहे उसे विद्वज्जन 'पताका' कहते हैं।[4]

---

1. विदग्ध माधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 9
2. विदग्ध माधव – रूपगोस्वामी, श्लोक–12
3. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का., 34–38
4. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 34

विदग्धमाधव नाटक में मुख्य रूप से चन्द्रावली का वृत्तान्त प्रासङ्गिक इतिवृत्त माना जा सकता है। कृष्ण का चन्द्रावली के साथ प्रणय–व्यापार 'पताका' के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है। चन्द्रावली का प्रवेश प्रत्यक्ष रूप से चतुर्थ अङ्क में होता है और इसका प्रसंग बीच–बीच में नाटक के अवसान तक चलता रहता है। राधा–कृष्ण के परस्पर प्रणय रूपी मुख्य कथा में कृष्ण के साथ चन्द्रावली की प्रणय कथा अभीष्ट प्रयोजन की पूरक मानी जा सकती है। राधा–कृष्ण के प्रगाढ प्रेम को पुष्ट करने के लिए चन्द्रावली को अन्य नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण का इसके प्रति प्रेम प्रदर्शित कराके राधा के मान को प्रदर्शित कराने का प्रयास किया गया है। 'मान' की पराकाष्ठा परनायिका के प्रेम में ही पुष्टि को प्राप्त करती है।

प्रस्तुत नाट्यकृति में पौर्णमासी के चरित्र को भी यदि 'पताका' की श्रेणी में स्थापित किया जाय तो सम्भवतः अनुचित न होगा क्योंकि उसका वृत्तान्त और मुख्य फल की प्राप्ति में उसका योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जा सकता है। अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि में वह अघटतप घटना तीयसी मानी जा सकती है।

विदग्धमाधव नाटक में विदूषक मधुमङ्गल के चरित्र को भी 'पताका' माना जा सकता है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने विदूषक के वृत्तान्त को पताका कहा है।[1]

प्रकरी

जो रूपक में एक सीमित प्रवेश तक चलती रहे तथा जिससे केवल दूसरों की अभीष्ट सिद्धि हो तो ऐसी प्रासङ्गिक तथा 'प्रकरी' कही जाती है।[2]

विदग्धमाधव नाटक में 'वृन्दा' का चरित्र 'प्रकरी' नामक प्रासङ्गिक इतिवृत्त माना जा सकता है। इसका वृत्तान्त नाटक में बहुत ही संक्षिप्त है। यह राधा–कृष्ण के परस्पर प्रणय–व्यापार में निःस्वार्थ भाव से सहयोग करती रहती है। कृष्ण के मनोविनोद के लिए वह सुबल के साथ ललिता का वेष धारण करती है। वह सदैव राधा–कृष्ण को

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् – टीकाकार – कपिलदेव द्विवेदी – भूमिका, पृ. 56
2. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 35

एक दूसरे के प्रति अनुकूल बनाने के लिए यथासम्भव प्रयास करती है। नाटक के अन्त में राधा–कृष्ण के संयोग कराने में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका मानी जा सकती है।

प्रस्तुत नाट्यकृति में नान्दी, मुखरा, जटिला, कराला आदि के चरित्र को प्रकरी के अन्तर्गत ही माना जा सकता है।

विदग्धमाधव में अर्थ प्रकृतियां

अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए 'अर्थप्रकृति' को साधन माना गया है। इसके पाँच प्रकार निर्धारित किये गये है।

1. बीज, 2. बिन्दु, 3. पताका, 4. प्रकरी, 5. कार्य।[1]

1. बीज

रूपक के प्रारम्भ में स्वल्प रूप में सङ्केतित तथा बाद में विस्तार प्राप्त करने वाला, फल का कारण 'बीज' कहलाता है।[2]

विदग्धमाधव में बीज का उद्घाटन तो उसी समय हो जाता है जब नेपथ्य से पौर्णमासी यह कहती है कि – 'अये नर्तक सामन्त सार्वभौम, कथं भवतः कर्णपूरीभूता वाढं निगूढेयं सन्दर्भमञ्जरी, यदहं राधयासार्धमीश्वरं तं संगमयिष्यामीति।[3]

इस प्रकार राधा और कृष्ण के संयोग रूपी फल का निमित्त उन दोनों का परस्पर प्रच्छन्न अनुराग ही बीज है। इसका समाधान उस समय होता है जब प्रथम अङ्क में मुखरा के द्वारा खण्ड लड्डुओं को बांटे जाने पर श्रीकृष्ण पौर्णमासी से उसका कारण पूंछते है। पौर्णमासी बताती है कि मुखरा ने अपनी नतिनी का विवाह अभिमन्यु के साथ कराया है। उस उत्सव के अनुकूल उसने लड्डू बांटने का शिष्टाचार किया है। श्री कृष्ण पूँछते हैं कि 'यह नतिनी कौन है'। पौर्णमासी कहती है कि 'राधा' नाम की कोई आनन्द कौमुदी है। श्री कृष्ण 'राधा' का नाम सुनकर अपनी माताओं के वार्तालाप में उसके सौन्दर्य की चर्चा का ध्यान करके लज्जा प्रदर्शित करते हैं।[4]

---

1. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 31
2. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का. 32
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 9
4. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 33

उक्त प्रसंग में राधा के सौन्दर्य से श्रीकृष्ण का आकर्षित होना 'बीज' का स्थल माना जा सकता है। आगे राधिका ललिता के मुख से 'कृष्ण' के नाम को सुनकर मोहित हो जाती है और उनका दर्शन प्राप्त करने के लिए लालायित होती है।[1]

इस प्रकार राधा और कृष्ण एक दूसरे के गुण नाम श्रवण से आकर्षित होते हैं और परस्पर संयोग प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठित होते हैं। यही राधा–कृष्ण का पारस्परिक प्रच्छन्न अनुराग ही 'बीज' माना जा सकता है।

2. बिन्दु

प्रधान फल के अन्तर्गत अवान्तर कथा के विच्छिन्न होने पर भी इतिवृत्त को जोड़ने और अग्रसर करने वाला 'बिन्दु' कहा जाता है।[2]

विदग्ध माधव नाटक के चतुर्थ अङ्क में चन्द्रावली के प्रेम प्रसङ्ग से राधा–कृष्ण की प्रणय कथा में सातत्व समाप्त हुआ सा प्रतीत होता है किन्तु श्री कृष्ण कुञ्ज में राधा के आगमन का स्मरण करके नागरङ्ग से युक्त नागकेसर के जंगल की ओर प्रस्थान करते हैं। तदनन्तर ललिता और राधा वार्तालाप करती हुई प्रवेश करती हैं।[3]

उक्त प्रसङ्ग में 'बिन्दु' का स्थल माना जा सकता है क्योंकि राधा की प्रणय कथा पुनः अग्रसर होती है।

पताका और प्रकरी नामक अर्थ प्रकृतियों के उदाहरण प्रासङ्गिक इतिवृत्त के सन्दर्भ में प्रस्तुत किये जा चुके हैं।

3. कार्य

नाटकीय कथा के अन्तर्गत जो मुख्य रूप से साध्य हो उसे 'कार्य' कहा जाता है।[4]

इसका उदाहरण विदग्धमाधव नाटक के अन्त में देखा जा सकता है, जहाँ कृष्ण

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 39
2. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का.–33
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अङ्क, पृ. 168
4. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का.–36

निकुञ्ज विद्या का वेष परिवर्तन कर राधा की चण्डी पूजा सम्पन्न कराते हैं और अभिमन्यु के अनिष्ट की रक्षा का उपाय बतलाते हैं।[1] अभिमन्यु द्वारा राधा को मथुरा न ले जाने का निश्चय करा लेना ही मुख्य अर्थ है।

उक्त प्रसङ्ग में 'कार्य' नामक अर्थ प्रकृति मानी जा सकती है क्योंकि राधा–कृष्ण का नित्य संयोग ही अभीष्ट साध्य है।

रूपगोस्वामी की एक विशेष मान्यता के अनुसार पताका और प्रकरी सदा इतिवृत्त के अङ्ग माने जाते हैं किन्तु कभी–कभी बीज आदि भी अङ्ग हो जाते है।[2]

इसके अतिरिक्त वह कहते है कि कभी बीज से अथवा कभी आरम्भ में ही विद्यमान बीज के फलवान् होने से अन्त में 'कार्य' सम्पन्न होता है इसलिए इनकी क्रमिकता बनाये रखने के लिए बीच में ही बिन्दु को सदैव रखा जाता है।[3]

रूपगोस्वामी की उक्त मान्यताओं के आधार पर विदग्धमाधव नाटक में प्रथम एवं द्वितीय अङ्क में राधा–कृष्ण के परस्पर प्रच्छन्न पूर्वराग को 'बीज' का प्रसङ्ग माना जा सकता है और उसे इतिवृत्त का अङ्ग भी कहा जा सकाता है।

इसी प्रकार 'कार्य' के सन्दर्भ में भी राधा–कृष्ण का जहाँ–जहाँ जिस अङ्क में मिलन कार्य सम्पन्न हुआ है उसे 'कार्य' माना जा सकता है। राधा–कृष्ण के परस्पर मिलन में मुखरा, कराला और जटिला द्वारा जो बाधाएँ उपस्थित की गयी है उन्हें 'बिन्दु' के द्वारा अग्रसरित किया हुआ माना जा सकता है। इस प्रकार बिन्दु के भी अनेक स्थल हो सकते हैं।

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, सप्तम अङ्क, श्लोक 60–61
2. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का.–38
3. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का.–39

विदग्धमाधव नाटक में कार्यावस्थाएँ

लक्षण

नायक के कार्य या प्रयोजनवश उसी के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं।

1. आरम्भ, 2. यत्न, 3. प्राप्त्याशा, 4. नियताप्ति और 5. फलागम।[1]

1. आरम्भ

मुख्य उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए किया जाने वाला प्राथमिक प्रयास 'आरम्भ कहलाता' है।

विदग्ध माधव नाटक के प्रथम अङ्क में 'राधा' की सौन्दर्य चर्चा से अभिभूत हुए श्रीकृष्ण उसका दर्शन प्राप्त करने के लिए लालायित होते हैं। वह अपने मित्र श्रीदामा से पूँछते हैं कि क्या तुमने संसार में अपूर्व राधा को पहले देखा है। सुबल कृष्ण को बताता है कि 'राधा' इसकी बहिन है। यह सुनकर श्रीकृष्ण सुबल से कहते हैं कि आओ क्षण भर कदम्ब से व्याप्त यमुना के किनारे बैठकर राधा के पीछे दौड़ने के कारण उद्विग्न मन को वंशी बजाकर बहलायें।[2]

यहाँ पर श्रीकृष्ण द्वारा 'बंशीवादन करना' उनका प्राथमिक प्रयास है जिसे 'आरम्भ' नामक कार्यावस्था का उदाहरण माना जा सकता है।

2. यत्न

कार्य का उद्देश्य की सिद्धि के लिए उत्सुक होकर किया जाने वाला उद्यम 'प्रयत्न' कहलाता है।[3]

विदग्ध माधव नाटक के द्वितीय अङ्क में राधा और कृष्ण के परस्पर अनुराग को समृद्ध कराने के लिए गुण नाम कीर्तन की योजना की गयी है। श्री कृष्ण के चित्रफलक

---

1. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का.–41
2. विदग्ध माधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ.सं.–37
3. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का.–42

को देखकर राधा को उत्कण्ठा हो उठती है इसलिए वह श्रीकृष्ण के पास मन्मथ लेख सम्प्रेषित करती है। श्रीकृष्ण राधा के कन्दर्प लेख को मधुमङ्गल से सुनकर उसके हृदयस्थ भावों को जानने के लिए उत्सुक होते हैं। श्रीकृष्ण अपनी उत्सुकता के कारण अपनी वैजयन्ती माला उतार कर दे देते हैं जिसे राधा की सखी विशाखा छिपा लेती है। श्रीकृष्ण स्वयं भी राधा के पास अपनी ओर से प्रणय–पत्र प्रेषित करते हैं।

उक्त प्रसङ्गों में 'मन्मथ लेख' की योजना अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए किया जाने वाला उद्यम है जिसे 'प्रयत्न' नामक कार्यावस्था का उदाहरण माना जा सकता है।

3. प्राप्त्याशा

अपने उद्देश्य की विचार या कल्पना में पूर्ति हो जाना 'प्राप्त्याशा' है।[1]

आचार्य भरतमुनि के अनुसार 'जब किसी विचार या भावना के द्वारा उद्दिष्ट अर्थ पूर्णता को पहुँचने लगे तो उसे प्राप्त्याशा या प्राप्तिसम्भव कहना चाहिए।[2]

दशरूपक, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में उपाय और अपाय की आशङ्का होने पर प्राप्त्याशा होती है।[3]

विदग्धमाधव नाटक के तृतीय अङ्क में विशाखा श्रीकृष्ण से परिहास करती हुई कहती है कि हे राजपुत्र, वह प्रिय सखी राधा हताश अभिमन्यु द्वारा मथुरा नगर ले जायी जायेगी। यह सुनकर श्री कृष्ण राधा के वियोग में विक्षुब्ध हुए बेहोश हो जाते हैं। श्रीकृष्ण की दशा देखकर विशाखा उन्हें धैर्य बंधाती हुई आश्वस्त करती हे और कहती है कि मैंने तो परिहास किया था। श्रीकृष्ण विशाखा के इस कथन को सुनकर धैर्य धारण करते हैं और राधा से संयोग प्राप्त करने की पुनः आशा करते हैं।[4]

उपाय और अपाय की आशङ्का से होने वाली प्राप्त्याशा का उदाहरण पञ्चम अङ्क में द्रष्टव्य है। कृष्ण–राधा विषयक चिन्ता से उद्विग्न होते हुए कहते हैं –

---

1. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का.–42
2. नाट्यशास्त्र – आचार्य भरत, 21/11
3. दशरूपक 1/20, सा. द.–6/57
4. विदग्धमाधव – तृतीय अंक, पृ. 119

व्यक्तिं गते मम रहस्यविनोदवृत्ते

कष्टो लघिष्ठहृदयस्तरसाभिमन्युः।

राधां निरूध्य सदने विनिगूहते वा

हा हन्त लम्भयति वा यदुराजधानीम्।[1]

उक्त उदाहरण में श्रीकृष्ण आशङ्का व्यक्त करते हुए विचार करते हैं कि कहीं मेरी एकान्त क्रीड़ा की बात खुल जाने पर क्षुद्र हृदय वाला क्रूर अभिमन्यु शीघ्र ही राधा को रोककर घर में बन्द कर देता है अथवा कंस की राजधानी मथुरा पहुँचाता है। आगे वह मधुमंगल से राधा के वेष में सुबल की जानकारी प्राप्त कर पुनः आशान्वित होते हैं और शुक के द्वारा राधा की विरह व्यथा को सुनकर मधुमङ्गल से कहते हैं कि मित्र, भाग्य से इस शुक ने मुझे भरोसा दिया है।[2] इस प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में प्राप्त्याशा का उदाहरण माना जा सकता है।

4. नियताप्ति

उद्दिष्ट कार्य की सिद्धि का निर्विध्न निश्चय करना 'नियताप्ति' है।[3]

विदग्ध माधव नाटक के सप्तम अङ्क के प्रारम्भ में ही 'नियताप्ति' का उदाहरण माना जा सकता है। पौर्णमासी अभिमन्यु द्वारा राधा को मथुरा ले जाने का हठ देखकर उसे रोकने का प्रयास करती है। पौर्णमासी अभिमन्यु को समझा बुझाकर राधा को मथुरा न ले जाने का सत्परामर्श प्रदान करती है। अभिमन्यु पौर्णमासी का कहना मान लेता है। इससे प्रसन्न हुई पौर्णमासी वृन्दा से कहती है बेटी तुम पूर्ण सफल हुई हो। अतः राधा और माधव की कुञ्जगत क्रीड़ा—माधुरी का वर्णन करो।[4]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में राधा और माधव के मधुर मिलन का निर्विघ्नपूर्ण निश्चय हो जाता है। आगे श्री कृष्ण 'निकुञ्जविद्या' का वेष परिवर्तन कर राधा से मिलने का निश्चय

---

1. विदग्धमाधव — रूपगोस्वामी, पंचम अङ्क, श्लोक—23
2. विदग्धमाधव — रूपगोस्वामी, पंचम अङ्क, पृ. 228
3. नाटक चन्द्रिका — रूपगोस्वामी, पृ. 20
4. विदग्धमाधव — रूपगोस्वामी, सप्तम अङ्क, पृ. 306

करते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा अभीष्ट फल को निर्विघ्न प्राप्त करने का निश्चय किया गया है।[1] इसे नियताप्ति का उदाहरण माना जा सकता है।

5. फलागम

अपनी अभीष्ट वस्तु या फल की प्राप्ति हो जाना 'फलागम' कहलाता है।[2]

विदग्धमाधव नाटक के अन्त में राधा कृष्ण का परस्पर संयोग देखकर पौर्णमासी प्रसन्न होती हुई श्रीकृष्ण से अपने जीवन की सार्थकता सिद्ध हुई मानती है और उनसे यह प्रार्थना करती है कि अपने गुण समूह की मधुरिमा को व्याप्त करते हुए वृन्दावन के कुञ्ज कन्दरों में आप राधा के साथ शुभ केलि विलास का सदैव अभ्यास करें।[3] श्रीकृष्ण तथास्तु कहकर अपने माता–पिता को प्रसन्न करने के लिए प्रस्थान करते हैं।

यहाँ राधा–कृष्ण का परस्पर संयोग सम्पन्न होने के कारण 'फलागम' है।

---

1. विदग्ध माधव – रूपगोस्वामी, सप्तम अङ्क, पृ. 350
2. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का.–43
3. विदग्ध माधव – रूपगोस्वामी, सप्तम अङ्क, श्लोक–61

विदग्धमाधव नाटक में अर्थोपक्षेपक

आचार्य रूपगोस्वामी ने 'अर्थोपक्षेपक' का विवेचन करते हुए अपनी नाटक चन्द्रिका में लिखा है कि कथावस्तु के दो अन्य प्रकार भी होते है।[1] 1. सूच्य और 2. असूच्य। उन्होंने नीरस वस्तु को 'सूच्य' कहा है।

नाटक की घटनाएँ जो स्पष्ट रूप से प्रदर्शित न की जा सके और जिसका बतलाना आवश्यक हो, तो उस प्रकार की घटनाओं को 'अर्थोपक्षेपक' के द्वारा सूचित किया जाता है।

अर्थोपक्षेपक के पाँच भेद होते हैं –

1. विष्कम्भक, 2. चूलिका, 3. अङ्कास्य, 4. अङ्कावतार, 5. प्रवेशक

1. विष्कम्भक

रूपगोस्वामी के अनुसार अतीत और अनागत घटनाओं की सूचना जब अप्रधान पात्रों द्वारा दी जाती है तो उसे 'विष्कम्भक' कहा जाता है। इसे अङ्क के प्रारम्भ में प्रस्तुत किया जाता है। उन्होंने इसके दो भेद किये है –

1. शुद्ध विष्कम्भक और 2. मिश्र विष्कम्भक।

शुद्ध विष्कम्भक में केवल मध्यम पात्र होते हैं और यह एक या अनेक पात्रों के द्वारा प्रयुक्त हो सकता है। मिश्र विष्कम्भक में नीच तथा मध्यम पात्र होते है।

विष्कम्भक के सन्दर्भ में रूपगोस्वामी की एक विशेष व्यवस्था यह देखने को मिलती है कि उन्होंने अपने नाटको में अनेक बार विष्कम्भको का प्रयोग किया है। विदग्धमाधव नाटक में प्रयुक्त विष्कम्भकों को देखा जा सकता है।

विदग्धमाधव नाटक के प्रथम अङ्क में विष्कम्भक का प्रयोग किया गया है। पौर्णमासी और नान्दी के परस्पर संवाद में राधा–कृष्ण की भावी प्रणय–कथा का वर्णन किया गया है। इसे शुद्ध विष्कम्भक का उदाहरण माना जा सकता है क्योंकि पौर्णमासी और नान्दी दोनों उत्तम व मध्यम श्रेणी के पात्र माने जा सकते हैं।[2]

---

1. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का., 193–194
2. विदग्धमाधव नाटक – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 10–19

रूपगोस्वामी की विवेच्य नाट्यकृतियों में पात्रों की श्रेणी को निर्धारित करना भी एक विलक्षण विषय है। श्रीकृष्ण जैसे दिव्य कोटि के नायक के साथ नीच पात्रों की कल्पना करना पूर्णतया असङ्गत प्रतीत होता है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने भाषा के आधार पर भी पात्रों की कोटियां निर्धारित की थी। संस्कृत बोलने वाले पात्र प्रायः उत्तम कहे गये हैं और प्राकृत इत्यादि बोलने वाले मध्यम अथवा नीच। रूपगोस्वामी ने अपने नाटकों में पात्रों की श्रेणी प्रायः उनके चरित्र के आधार पर स्वीकार किया है क्योंकि राधा जैसी नायिका भी प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करती है। राधा को उत्तम पात्र ही माना जा सकता है। पौर्णमासी सदैव संस्कृत भाषा में बोलती है। इस आधार पर उसे उत्तम पात्र मानना ही उपयुक्त है किन्तु रूपगोस्वामी उसे मध्यम पात्र मानकर विष्कम्भक के अन्तर्गत प्रवेश कराते हैं।

विदग्धमाधव नाटक के द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ में नान्दीमुखी और मुखरा के परस्पर संवाद को रूपगोस्वामी ने 'मिश्र विष्कम्भक' माना है।[1] इस मान्यता के अनुसार उन्हें नीच और मध्यम पात्र मानना चाहिए जो उचित नहीं कहा जा सकता। दिव्य नायक श्रीकृष्ण के लीलावतारी पात्र निम्नकोटि के माने जाये यह समीचीन नहीं लगता। विवेच्य नाट्य कृतियों में पात्रों की श्रेणी का निर्धारण प्रायः उनके चरित्र पर निरूपित किया गया है। नान्दी मुखी और मुखरा क्रमशः पौर्णमासी की सहायिका और यशोदा की धाय होने के कारण ही नीच और मध्यम पात्र मानी जा सकती है। इसीलिए रूपगोस्वामी ने उन दोनों के संवाद को मिश्रविष्कम्भक माना है।

2. चूलिका

नेपथ्य में स्थित पात्र के द्वारा किसी घटना की सूचना देना 'चूलिका' कहलाता है। इसे अङ्क के आरम्भ या मध्य में स्थापित किया जा सकता है।[2]

विदग्धमाधव नाटक के प्रायः सभी अङ्कों में इसके उदाहरण स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। प्रथम अङ्क में सूत्रधार को सावधान करती हुई पौर्णमासी नेपथ्य से बोलती है –

---

1. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का.–197
2. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का.–199

'अये नर्तक सामन्तसार्वभौम, कथं भवतः कर्णपूरीभूता बाढं निगूढेयं संदर्भमञ्जरी, यदहं राधया सार्धमीश्वरं तं संगमयिष्यामीति।[1]

यहाँ नेपथ्य से पौर्णमासी का उक्त वाक्य 'चूलिका' का उदाहरण माना जा सकता है। ऐसे उदाहरण प्रायः स्पष्ट हैं।

3. अङ्कास्य

जब किसी एक ही अङ्क में सभी अङ्कों की घटनाओं की संक्षिप्त सूचना दी जाये और नाटकीय बीज को भी सङ्केतित किया जाय तो उसे 'अङ्कास्य' कहा जाता है। रूपगोस्वामी अपना यह लक्षण प्रस्तुत करने के बाद यह लिखते हैं कि अन्य आचार्यों के अनुसार पूर्व अङ्क में प्रविष्ट पात्रों के द्वारा भावी अङ्क की अविच्छिन्न रूप में सूचना देना 'अङ्कास्य' कहलाता है। इसके बाद रूपगोस्वामी अपने मत को ही स्थापित करते हुए लिखते हैं कि अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित, अङ्कास्य का लक्षण अङ्कावतार की समानता लिये होने से विद्वज्जनों द्वारा हमारे ही लक्षण को उपयुक्त माना गया है।[2]

विदग्धमाधव नाटक के प्रथम अङ्क में नाटक की घटनाओं की संक्षिप्त सूचना मिलती तो अवश्य है किन्तु उसे 'प्रस्तावना' और 'विष्कम्भक' के अन्तर्गत ही प्रतिपादित किया गया है। इस कारण विदग्धमाधव में अङ्कास्य की स्पष्ट योजना नहीं मानी जा सकती है। इसका स्पष्ट उदाहरण ललितमाधव नाटक में देखा जा सकता है।

4. अङ्कावतार

पूर्व अङ्क में विद्यमान पात्रों के द्वारा अङ्क का विभाग किये बिना अगले अङ्क में प्रविष्ट हो जाना अङ्कावतार कहलाता है।[3]

विदग्धमाधव नाटक के द्वितीय और छठें अङ्क के प्रारम्भ में अङ्कावतार माना जा सकता है। प्रथम अङ्क के अन्त में राधा की विरह वेदना को प्रकट करती हुई विशाखा अगले अङ्क में उसके निदान का प्रसङ्ग छेड़ती हुई अवतरित होती है।

---

1. विदग्ध माधव नाटक – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 9
2. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का., 200–203
3. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी,का.–204

इसी प्रकार छठें अङ्क में जटिला पीताम्बर ओढ़े हुए राधा की खोज करती हुई प्रवेश करती है। इसका पूर्व सङ्केत पंचम अङ्क के अन्त में ही हो जाता है। जटिला राधा को खोजती हुई ही देखी गयी है। अगले अंक में वही प्रवेश करती है।

5. प्रवेशक

जब दो अङ्कों के बीच में भूत या भावी घटना की सूचना केवल नीच पात्रों द्वारा दी जाये तो उसे प्रवेशक कहना चाहिये।[1]

विदग्धमाधव नाटक में इसका उदाहरण स्पष्ट नहीं है।

असूच्य कथावस्तु का वर्णन करते हुए रूपगोस्वामी ने उसके दो भेद बतलाये है –

1. दृश्य और 2. श्रव्य।

इनमें दृश्य के भी दो उपभेद होते हैं – 1. स्वगत और 2. प्रकाश।[2]

दूसरों को सुनने योग्य न होकर केवल स्वयं के जानने योग्य होने वाली वस्तु 'स्वगत' कहलाती है।

विदग्धमाधव नाटक में 'स्वगत' और 'प्रकाश' के उदाहरण प्रायः स्पष्ट है। इनका जहाँ भी प्रयोग हुआ है नाटककार ने स्वयं 'स्वगतम्' और 'प्रकाशम्' कहकर स्पष्ट कर दिया है।

प्रकाश के भी दो भेद किये गये हैं – 1. सर्व प्रकाश और 2. नियत प्रकाश।

मंच पर विद्यमान सभी पात्रों के सुनने योग्य कथा 'सर्वप्रकाश' कहलाता है। नियत प्रकाश में मंच पर विद्यमान पात्रों में से किसी विशेष पात्र के सुनने के योग्य कथन रखा जाता है। ये दो प्रकार के होते हैं – 1. जनान्तिक, 2. अपवारित।

1. जनान्तिक

जब दो पात्रों के द्वारा शेष पात्रों से छिपाकर त्रिपताक हस्तमुद्रा रखते हुए परस्पर वार्तालाप किया जाता है तो उसे 'जनान्तिक' और जब किसी गुप्त वार्ता को

---

1. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का.–205
2. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का.–209–211

छिपाकर किसी एक पात्र को कही जाय तो उसे 'अपवारित' कहा जाता है।[1]

विदग्धमाधव नाटक में इनके भी उदाहरण देखे जा सकते हैं।

द्वितीय अङ्क में कृष्ण के प्रति राधा की आसक्ति को प्रकट करती हुई पौर्णमासी नान्दीमुखि से 'जनान्तिक' का प्रयोग करती है।[2] इनके अन्य उदाहरण भी प्रायः स्पष्ट है।

विदग्धमाधव नाटक में अपवार्य अर्थात् अपवारित के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। प्रथम अङ्क में मधुमङ्गल कृष्ण से परिहास करता हुआ अपवारित के माध्यम से कहता है मित्र, आप सचमुच दुहमुंहे है इसीलिए दूध से आकृष्ट हजारों गोपियाँ आपके मुख का पान करती हैं।[3]

अपवार्य के अन्य उदाहरण भी प्रायः स्पष्ट है। विस्तार भय से सबका उल्लेख करना सम्भव नहीं है।

विदग्धमाधव नाटक में आकाशभाषित

विदग्धमाधव नाटक में आकाशभाषित का उदाहरण द्वितीय अङ्क में देखा जा सकता है। राधिका (आकाश) में अञ्जलि बांधकर कहती है –

गृहान्तः खेलन्त्यो निजसहज बाल्यस्य वलना –
दभद्रं भद्रं वा किमपि नहि जानीमहि मनाक्
वयं नेतुं युक्ताः कथमशरणां कामपि दशां
कथं वा न्याय्या ते प्रथयितुमुदासीनपदवीम्।[4]

उक्त उदाहरण में पूतनाघातक को सम्बोधित करती हुई राधिका आकाशभाषित का प्रयोग करती है।

एकोक्ति

विदग्धमाधव नाटक में एकोक्ति का भी उदाहरण देखा जा सकता है। इसे

1. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, का.–212
2. विदग्ध माधव नाटक – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, पृ. 60
3. विदग्ध माधव नाटक – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 23
4. विदग्ध माधव नाटक – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 46

अंग्रेजी में मोनोलांग कहा गया है। यह आकाशभाषित के समान ही होता है। इसमें रङ्गमंच पर विद्यमान किसी पात्र द्वारा स्वयमेव उक्ति प्रत्युक्ति के बिना अपनी मनोदशा का वर्णन किया जाता है। इसे 'एकालाप' भी कहा गया है।

विदग्धमाधव नाटक में एकोक्ति के उदाहरण अनेक स्थलों पर द्रष्टव्य है।

तृतीय अङ्क के प्रारम्भ में कृष्ण के मनोगत अनुपात का वर्णन देखा जा सकता है जब वह राधा के मिलनजन्य अवसर में चूक कर जाने का पश्चाताप करते हुए कहते हैं –

त्रपया नितरां पराङ्मुखी सहसा स्मेरसखीधृताञ्चला।

गमिताऽद्य हठेन राधिका न कथं हन्त मया भुजान्तरम्।।[1]

प्रस्तुत उदाहरण में श्रीकृष्ण अपने आप ही राधा को अपने बाहुपाश में न प्राप्त कर पाने का अनुताप व्यक्त करते हैं। इसे एकोक्ति का ही उदाहरण माना जा सकता है।

आगे इसी प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण राधा द्वारा न कहे गये वचनों को भी अपने अनुकूल ही कहे गये वचनो जैसा मानते हुए कहते हैं कि उस राधा ने व्याजपूर्वक कहा 'हे सखि मणिमाला टूट गयी, मुक्ताफल बिखर गये, मैं उन्हें चुन लूँ'।

इस प्रकार मुग्धापूर्वक घूमकर गुरुजनों के सम्मुख भी मेरे प्रति प्रेमपूर्ण कटाक्षपात किया था।[2]

उक्त उदाहरण में राधा द्वारा न कहे शब्दों को भी कहे गये शब्दों जैसा सुनकर श्रीकृष्ण द्वारा स्वयमेव प्रलाप करना 'आकाशभाषित' का उदाहरण माना जा सकता है।

विदग्धमाधव नाटक में एकोक्ति के कुछ विशुद्ध उदाहरण देखे जा सकते हैं। तृतीय अङ्क में माकन्दतरु के नीचे विद्यमान श्रीकृष्ण कर्णिकार–कुञ्ज में राधा के साथ अभिसार करने की प्रतीक्षा में सायंकालीन शोभा का वर्णन करते हुए अपनी उत्सुकता प्रदर्शित करते हैं। सूर्यास्त के कारण समस्त वृन्दावन तिमिराच्छन्न हो गया है और पूर्व दिशा में चन्द्रमा की चांदनी व्याप्त हो चुकी है तथापि सङ्केत स्थल पर राधा के न पहुँच

---

1. विदग्ध माधव नाटक – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, श्लोक–2
2. विदग्ध माधव नाटक – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, श्लोक–3

पाने के कारण श्रीकृष्ण व्याकुलता प्रदर्शित करते हैं।

चतुर्थ अङ्क में भी राधा का स्मरण करते हुए श्रीकृष्ण उत्सुकतापूर्वक एकोक्ति भाषण करते हैं –

प्रसरति यद्भ्रूचापे श्लथज्यमरोत्स्मरो धनुः पौष्पम्।

मधुरिममणिमञ्जूषा भूषायै में प्रिया सास्तु।।[1]

चतुर्थ अङ्क में ही राधा की विप्रलम्भावस्था का अनुपात करते हुए भी श्रीकृष्ण का 'एकोक्ति' पूर्व प्रलाप दृष्टव्य है –

कपटी स लता कुटीमिमां सखि नागादधुनापि माधवः।

इति जल्पपरीतया तया क्लमदीर्घा गमिता कथं तमी। 4/27

पञ्चम अङ्क में श्रीकृष्ण की मनुहार उपेक्षित किये जाने का अनुताप करती हुई मानवती राधा का एकोक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[2]

विदग्ध माधवम् में पताका स्थानक

विदग्ध माधव में चारों प्रकार के पताका स्थानक के उद्धरण देखे जा सकते हैं –

1. प्रथम पताका स्थानक (तुल्य संविधान)

विदग्धमाधव नाटक के द्वितीय अङ्क में विशाखा द्वारा कहे गये निम्नलिखित श्लोक में प्रथम प्रकार का पताका स्थानक माना जा सकता है –

अकरूण त्यक्त्वा चङ्गं कुरङ्ग प्रेम्णा संगतां हरिणीम्।

विफलं कूर्दनचटुलस्त्वं वनाद्वनं भ्रमसि।।[3]

---

1. विदग्ध माधव नाटक – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक–15, 16, 17, 27
2. कर्णान्ते न कृता प्रियोक्तिरचना क्षिप्तं मया दूरतो
   मल्ली दामनिकामपथ्यवचसे सख्यै रूषः कल्पिताः।
   क्षोणीलग्न – शिखण्डशेखरमसौ नाभ्यर्थयन्नीक्षितः
   स्वान्तं हन्त ममाद्य तेन खदिरांगारेण दंदह्यते।।
   – वि. मा. ना. – पंचम अङ्क, श्लोक–6, अन्य श्लोक–7, 8, 9
3. विदग्ध माधवम् – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक–54, संस्कृतछाया

प्रस्तुत उदाहरण में विशाखा ने हरिण और हरिणी के वृत्तान्त द्वारा कृष्ण को राधा के प्रति अनुरक्त होने का सङ्केत कराया है। कृष्ण को राधा की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, यही भावी सूचना है।

षष्ठ अङ्क में तुल्य संविधान का एक अन्य उदाहरण भी देखा जा सकता है। वृन्दावन में शरद्कालीन शोभा का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण मधुमङ्गल से कहते हैं – देखो, अपनी ऊँची आवाजों से शरद् ऋतु में दिशाओं को मुखरित करने वाले तथा चञ्चल नेत्रों से युक्त सांड़ आज वृन्दावन में ऋतुमती गौओं के साथ सहवास के लिए बड़े–बड़े प्रबल सींगों से रणरङ्ग अर्थात् युद्ध क्षेत्र बना रहे है।[1]

प्रस्तुत उदाहरण में ऋतुमती गौओं और चंचल नेत्रों वाले सांड के अप्रस्तुत कथन द्वारा आदि गोपाङ्गनाओं तथा श्रीकृष्ण की भावी सहवास–क्राड़ाओं की सूचना सम्प्रेषित की गयी है। इसे समान इतिवृत्त पर आधारित प्रथम प्रकार का पताका स्थानक माना जा सकता है।

विदग्ध माधव नाटक में इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी देखे जा सकते हैं। इसी षष्ठ अङ्क में ही राधा के भावी सङ्गम को प्राप्त करने के लिए मुरली बजाते हुए श्रीकृष्ण चकवी को लक्ष्य करके कहते हैं –

दिव्यो रथाङ्गि समयः सखि सङ्गमस्य
जज्ञै वराङ्गि तरसा कुरू पक्षपातम्।
आध्वानमर्धनयनेन विलोकमानः
शोकादयं सहचरस्तव रौरवीति।।[2]

2. द्वितीय पताकास्थानक

विदग्धमाधव नाटक के सप्तम अङ्क में इसका उदाहरण देखा जा सकता है।

---

1. शरदि मुखरिताशास्तारनादावलीभि –
र्वलदविचलनेत्राः पश्य वृन्दावनेऽद्य
विदधति रणरङ्गं वासिता सङ्गहेतोः
सरभसगुरुश्रृङ्गैः सङ्गवे पुङ्गवेन्द्राः।।
– विदग्धमाधवम् – षष्ठ अङ्क, श्लोक–4
2. विदग्धमाधवम् – षष्ठ अङ्क, श्लोक–6

ललिता अपनी सखी राधा की श्रेष्ठता सिद्ध करती हुई कहती है –

सहचरि वृषभानुजया प्रादुर्भावे वरत्विषोपगते

चन्द्रावली शतान्यपि भवन्ति निर्धूतकान्तीनि।[1]

प्रस्तुत श्लोक में वृषभानुजा राधा के आगमन होने पर चन्द्रावली का महत्व क्षीण हो जाता है। यह प्रस्तुत कथन है। इस अर्थ के अतिरिक्त एक अन्य अर्थ की भी सार्थकता होती है जिसके अनुसार वृषराशि में स्थित सूर्य की प्रशस्त कान्ति के प्रकट होने पर सैकड़ों चन्द्रावलियों की कान्ति धूमिल पड़ जाती है।

इस प्रकार उक्त श्लोक में श्लिष्ट वचन के प्रयोग द्वारा जहाँ एक ओर प्रकृत अर्थ की सार्थकता सिद्ध होती है वहीं दूसरी और अप्रकृत अर्थ को भी सार्थक माना जा सकता है। इससे राधा की भावी श्रेष्ठता सूचित की गयी है।

3. तृतीय पताकास्थानक

विदग्धमाधव नाटक के चतुर्थ अङ्क में तृतीय पताकास्थानक का उदाहरण देखा जा सकता है। श्रीकृष्ण, विशाखा और ललिता के परस्पर संवाद में अस्फुट एवं अभिप्रेत प्रस्तुत अर्थ की अभिव्यक्ति श्लिष्ट एवं प्रश्नोत्तर पूर्ण ढंग से द्रष्टव्य है।

कृष्ण विशाखा से गोपियों के दोष को बताते हुए कहते हैं –

नवरसधारिणी मधुरे धरणी संतापहारिविस्फुरणे।

विदधति न कृष्णमुदिरे गौर्यः क्षणरोचिपः स्थैर्यम्।।[2]

प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण द्वारा श्लिष्ट वचन का प्रयोग किया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मेघों के बीच बिजली अस्थिर है उसी प्रकार मुझमें तुम्हारा स्नेह भी स्थिर नहीं है।

विशाखा इसका उत्तर देती हुई कहती है –

'तस्मिन्कुलिशकूटकठोरचेष्टिते तासां कोमलानां युक्ता एव तथा प्रवृत्तिः।'

इस पर ललिता एक गाथा प्रस्तुत करती है– जिसका आशय यह है कि नवीन

---

1. विदग्धमाधवम् – सप्तम अङ्क, श्लोक–26
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अङ्क, श्लोक 31

सुवर्ण–क्रान्ति के फूलों के समान गौर अङ्गोवाली स्निग्ध चम्पा की लता को छोड़कर भौंरा दौड़ रहा है। मेघ–खण्ड बिजली के समान हो रहा है अथवा मानो बिजली कृष्णवर्ण की हो रही है।[1]

इस प्रकार उक्त कथनों में 'बिजली' के अस्फुट एवं श्लिष्ट प्रयोग द्वारा राधा आदि की भावी अस्थिरता सूचित की गयी है।

4. चतुर्थ पताकास्थानक (तुल्यविशेषण अथवा तुल्यविशेषाङ्क)

विदग्धमाधव नाटक में इस प्रकार के पताकास्थानक बहुधा प्रस्तुत हुए हैं। इन्हें समासोक्ति के माध्यम से प्रायः व्यक्त किया गया है। द्वितीय अङ्क में राधा–कृष्ण के परस्पर प्रणय–वृत्तान्त का सङ्केत निम्नलिखित श्लोक में द्रष्टव्य है–

चन्द्रिकां चन्द्रलेखायाश्चकोरे पातुमुद्यते।
पिधानं विदधे हन्त शरदम्भोधरावली।।[2]

प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण राधा के मुख–चन्द्र का दर्शन करने जा ही रहे थे कि जटिला बाधक बनकर आ गयी। इस तथ्य का सङ्केत कृष्ण ने चन्द्रिका के पान के लिए उद्यत चकोर के कार्य में बाधक रूप में उपस्थित शारद मेघ से दिया है। शरद्कालीन मेघ शुभ्र होता है। जटिला भी वार्धक्य के कारण श्वेत होने से शारदमेघ के समान वर्णित है। राधिका मुख–चांदनी और कृष्ण चकोर के स्थान पर वर्णित हैं। इस प्रकार यहां राधा–कृष्ण का वृत्तान्त व्यक्त होता है।

इसी प्रकार तुल्यविशेषण का उदाहरण तृतीय अङ्क में भी देखा जा सकता है जहां राधा के प्रति कृष्ण का उपेक्षाभाव व्यञ्जित होता है। पौर्णमासी कृष्ण को राधा के प्रति उपेक्षा से भावी लोकपीड़ा का सङ्केत कराती हुई कहती है सुन्दर, प्रेमीजनों के मिलने पर प्रेमपात्रों की उपेक्षा परिणाम में भयङ्कर अत्याधिक दोषों को उत्पन्न करती है। यह प्रेमी सूर्य अनुरागिणी सन्ध्या को छोड़कर समस्त संसार को अन्धकार में डुबो देता है।[3]

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अङ्क, श्लोक 32
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, श्लोक 52 द्वितीय अंक
3. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, श्लोक 11 तृ. अं.

प्रस्तुत प्रसङ्ग में समासोक्ति द्वारा 'रक्ता सन्ध्या' से राधा, 'दिनमणि' से कृष्ण और 'लोकम्' से पौर्णमासी प्रभृति समस्त गोकुल का अर्थ प्रस्तुत रूप में व्यञ्जित हो रहा है। यहां श्री कृष्ण प्रेमी है और राधिका उनकी प्रेमिका। दोनों का परस्पर सानुराग मिलन परिणाम में सुखदायी होगा। यदि कृष्ण ने राधा की उपेक्षा की तो राधा की शुभचिन्तक ललितादि सखियां अत्यन्त दुखी होगी। राधा स्वयं भी बहुत दुखी होगी।

षष्ठ अङ्क में राधा को अपने आगमन की सूचना देते हुए श्रीकृष्ण मुरलीवादन करते हैं। समासोक्ति के द्वारा निम्नलिखित श्लोक में राधा से मिलने की उत्सुकता देखी जा सकती है–

अयि सुधाकरमण्डलि मण्डय त्वमटवीं मृदुपादविसर्पणैः।

उदयशैलतटी निहितेक्षणो ननु चकोरयुवा परितप्यते।।[1]

प्रस्तुत श्लोक में चन्द्रिका और चकोर के प्रस्तुत वृत्तान्त द्वारा अप्रस्तुत राधा–कृष्ण के वृत्तान्त की सूचना दी गयी है। यहां 'सुधाकर मण्डलि' और 'मृदुपादविसर्पणैः' ये पद श्लिष्ट हैं। चन्द्रिका पर राधा और चकोर पर कृष्ण का आरोप माना जा सकता है।

इस प्रकार विदग्धमाधव नाटक में 'तुल्यविशेषण' नामक चतुर्थ पताकास्थानक के प्रभूत प्रयोग देखे जा सकते हैं।

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, श्लोक 9 ष. अं.

विदग्धमाधव में नाटकीय तत्व

विदग्धमाधव नाटक में भी सन्धि, सन्ध्यङ्ग, सन्धन्तरों और नाट्यालङ्कारों का समुचित सन्निवेश किया गया है। ललितमाधव नाटक में जहाँ इन सबका क्रमिक रूप में वर्णन किया गया है वहाँ विदग्धमाधवम् में उक्त समस्त नाटकीय तत्व विकीर्ण हुए यत्र–तत्र परिलक्षित होते हैं।

सन्धियाँ

विदग्धमाधव नाटक के प्रथम और द्वितीय अङ्क में 'मुख सन्धि' की स्थापना देखी जा सकती है। इसके प्रायः समस्त अङ्कों का विधिवत् विन्यास किया गया है।

'उपक्षेप' का उदाहरण पौर्णमासी के कथन से स्पष्ट होता है जब नेपथ्य से राधा–कृष्ण को परस्पर मिलने की सूचना दी जाती है।[1]

परिकर

बीजार्थ का विस्तार करती हुई पौर्णमासी नान्दीमुखी से राधा और कृष्ण के परस्पर समागम के लिए अपने भाग्य पर भरोसा करती है।[2]

परिन्यास

पौर्णमासी के मुख से 'नतिनी' की चर्चा सुनकर उसके प्रति जिज्ञासु होना 'परिन्यास' है।[3]

विलोमन

राधा के रूप सौन्दर्य का वर्णन करती हुई पौर्णमासी उसके नेत्रों, मुखमण्डल तथा शरीर शोभा का वैशिष्ट्य निवेदित करती है जिसे 'विलोमन' का उदाहरण माना जा सकता है।[4]

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 9
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 10
3. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 33
4. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, श्लोक 32

युक्ति

पौर्णमासी अभिमन्यु द्वारा राधा को मथुरा न ले जाने का उपाय बताती हुई नान्दी से कहती है कि बेटी में जामिन बनकर युक्तिपूर्ण मधुर वचन की अर्गला से स्वभावतः चंचल अभिमन्यु को रोक रखी हूँ।[1] यहाँ पौर्णमासी द्वारा राधा को कृष्ण से मिलन कराने का मार्ग प्रशस्त करके उनके परस्पर समागम का निश्चय 'युक्ति' है।

प्राप्ति

वृन्दावन की शोभा देखकर श्रीकृष्ण को सुख की प्राप्ति होती है।[2]

समाधान

राधा का नाम सुनकर श्रीकृष्ण उत्सुकता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं। अहा, किस प्रकार मनोहारिणी राधा की बात पुनः संयोगवश आ रही है।[3]

नायिका पक्ष में बीज का समाधान उस समय होता है जब राधा 'कृष्ण' का नाम सुनकर कहती है कि अहा, जिसका नाम भी ललनाओं के मन को इस प्रकार मोह लेता है, वह नाम वला भला, कैसा होगा ?[4]

विधान

श्री कृष्ण के नाम, उनकी मुरली की मधुर ध्वनि और स्निग्ध मेघ की कान्ति के समान उनके शरीर की शोभा को देखकर, राधा एक ही साथ तीन पुरूषों में अपनी आसक्ति होने के कारण दुख प्रकट करती है जिसे दुख मिश्रित कार्य के उल्लेख से 'विधान' माना जा सकता है।[5]

परिभावना

मयूरपुच्छधारी श्रीकृष्ण के सौन्दर्य की प्रशंसा करती हुई मुखरा पौर्णमासी से

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 14
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, श्लोक 23
3. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 35
4. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 39
5. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, द्वितीय अङ्क, श्लोक 9

कहती है कि नृत्यकला के विलक्षण चमत्कार को उत्पन्न करता हुआ न जाने यह कौन सा नवीन ग्रह वाला (राधा) के अन्तःकरण में प्रवेश कर गया है।[1]

यहाँ चमत्कार का होना ही परिभावना है।

उपभेद

इसका उदाहरण उस समय द्रष्टव्य है जब राधा पौर्णमासी से मोरमुकुटधारी श्रीकृष्ण से बचने की विवशता प्रकट करती है।[2]

भेद

राधा के समक्ष श्रीकृष्ण का चित्रफलक प्रदर्शित करना जहाँ 'भेद' का उदाहरण माना जा सकता है वहीं राधा को फूल पर पत्र रचना का निर्वेश दिया जाना 'करण' का उदाहरण मान्य है।[3] इस प्रकार विदग्धमाधव के प्रथम और द्वितीय अङ्क में मुख सन्धि का समुचित विन्यास किया गया है।

प्रतिमुख सन्धि

विदग्धमाधव के तृतीय और चतुर्थ अङ्क में प्रतिमुख सन्धि का स्थल माना जा सकता है। इनमें कभी नायक और नायिका का परस्पर समागम होता हैं तो कभी मुखरा, जटिला आदि के आगमन से व्यवधान उपस्थित होता है। इस प्रकार इन अंकों में प्रतिमुख सन्धि के अङ्कों का उपनिवेश माना जा सकता है।

विदग्धमाधव के षष्ठ अङ्क में विमर्श सन्धि का विन्यास माना जा सकता है और सप्तम् अङ्क में निर्वहण सन्धि का पूर्णरूपेण विकास किया गया है।

---

1. विदग्धमाधवम् — रूपगोस्वामी, द्वितीय अङ्क, श्लोक 15
2. विदग्धमाधवम् — रूपगोस्वामी, द्वितीय अङ्क, श्लोक 21
3. विदग्धमाधवम् — रूपगोस्वामी, द्वितीय अङ्क, पृ. 49, 64

पात्र परिचय

पुरुष पात्र

सूत्रधार	–	नाटकीय कथावस्तु का प्रस्तावक प्रधान नट
पारिपार्श्विक	–	सहायक नट
कृष्ण	–	विदग्धमाधवम् का चरित नायक
नन्द	–	कृष्ण के पालक गोपेश
मधुमंगल	–	कृष्ण का विदूषक मित्र
राम	–	कृष्ण का ज्येष्ठ भ्राता बलराम
श्री दामा	–	कृष्ण का सखा एक गोप
सुबल	–	कृष्ण का नर्म सखा एक गोप
अभिमन्यु	–	राधा का पति तथा जटिला का पुत्र

स्त्री पात्र

पौर्णमासी	–	सान्दीपनि मुनि की माता, देवर्षि नारद की शिष्या
नान्दीमुखी	–	पौर्णमासी की सहायिका
यशोदा	–	नन्द की धर्मपत्नी गोपेश्वरी
राधिका	–	कृष्ण की प्रियतमा नायिका, अभिमन्यु गोप की पत्नी
ललिता	–	राधिका की प्रिय सखी
विशाखा	–	राधिका की सहचरी
मुखरा	–	यशोदा की धातृ, राधा की मातामही
जटिला	–	राधा की सास, अभिमन्यु की माता
चन्द्रावली	–	कृष्ण की प्रेयसी प्रतिनायिका, गोवर्धन की पत्नी
पद्मा	–	चन्द्रावली की प्रिय सखी
शैव्या	–	चन्द्रावली की सहचरी
वृन्दा	–	वृन्दावन की अधिष्ठात्री देवी, राधिका की सखी
सारंगी	–	एक गोपी
कराला	–	चन्द्रावली की सास, गोवर्धन की माता

रूपगोस्वामी की नाट्य कृतियों में पात्र-परिचय

रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में विदग्धमाधवम् और ललितमाधवम् ये दोनों रूपक कोटि की रचनाएं हैं जिन्हें नाटक की सत्ता से भी अभिहित किया गया है। दानकेलि–कौमुदी रूपगोस्वामी की ऐसी रचना है जो एकाङ्की है और भणिका के रूप में अभिज्ञात है। इन तीनों नाट्यकृतियों में रूपककार ने राधा–कृष्ण के विविध विलासों का वर्णन करते हुये उनके पारस्परिक संयोग कराने का प्रमुख प्रयोजन अपनाया है। अभीष्ट प्रयोजन की एकता होने पर भी इन नाट्यकृतियों में कथावस्तु का स्वरूप एवं घटनाएं भिन्न–भिन्न हैं। पात्रों का चयन प्रायः सभी कृतियों में एक ही जैसा है किन्तु कथावस्तु की घटनाओं के अनुरूप पात्रों की संख्या घटायी, बढ़ायी अवश्य गयी है। तीनों कृतियों में प्रधान नायक श्री कृष्ण और प्रधान नायिका श्री राधिका है। इनके सहयोगी पात्र भी लगभग एक ही हैं। इतना अवश्य है कि जहां अधिक पात्रों की अपेक्षा हुई वहां अन्य पात्रों को भी स्थापित किया गया है।

रूपगोस्वामी की इन नाट्यकृतियों में पात्रों के चयन के सन्दर्भ में एक बड़ी विशेषता यह है कि इनमें कुछ ऐसे पात्रों की अवधारणा की गयी है जो बङ्गीय गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय की अपनी पृथक् मान्यता है। इन कृतियों में पौराणिक पात्रों के अतिरिक्त अनेक ऐसे पात्रों का संविधान किया गया है जिनका नामकरण गौड़ीय परम्परा के अनुकूल एवं बङ्गीय गौड़ीय–वैष्णव सम्प्रदाय पर आधारित है।

विदग्ध माधव नाटक में पुरुष पात्रों में सूत्रधार नाटकीय कथावस्तु का प्रस्तावक प्रधान नट और पारिपार्श्विक सहायक नट है। श्री कृष्ण प्रधान चरित नायक हैं और नन्द उनके पालक गोपेश। मधुमङ्गल कृष्ण का विदूषक मित्र है। 'राम' के नाम से प्रस्तुत श्री बलराम कृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता हैं। श्री दामा श्री कृष्ण का गोप सखा और सुबल उनका दूसरा नर्म सखा गोप है। अभिमन्यु राधा का पति, जटिला का पुत्र तथा कथावस्तु का सहनायक है।

विदग्ध माधव नाटक में स्त्री पात्रों में प्रधान नायिका श्री राधिका कृष्ण की प्रियतमा और अभिमन्यु की परिणीता पत्नी है। पौर्णमासी सान्दीपनि मुनि की माता और देवर्षि नारद की शिष्या है। नान्दीमुखी पौर्णमासी की सहायिका है। यशोदा नन्द की

गोपेश्वरी धर्मपत्नी है। ललिता और विशाखा राधिका की प्रियसखी और सहचरी हैं। मुखरा यशोदा की धात्री और राधा की मातामही है। जटिला राधा की सास और अभिमन्यु की माँ है। चन्द्रावली कृष्ण की प्रेयसी सहनायिका और गोवर्द्धनमल्ल नाम के गोप की पत्नी है। पद्मा और शैव्या चन्द्रावली की प्रिय सखी और सहचरी है। वृन्दा, वृन्दावन की अधिष्ठात्री देवी और राधिका की प्रिय सखी है। सारंगी नाम की एक गोपी है। कराला चन्द्रावली की सास और गोवर्द्धन मल्ल की माता है। इस प्रकार प्रस्तुत नाट्यकृति में 9 पुरुष पात्र और 14 स्त्री पात्र स्थापित किये गये हैं।

ललितमाधव नाटक में पुरुष पात्रों की संख्या 15 और स्त्री पात्रों की संख्या कुल 24 है। सूत्रधार कथावस्तु का प्रस्तावक प्रधान नट है। श्रीकृष्ण प्रधान चरित नायक और मधुमङ्गल उनका नर्मसचिव तथा सान्दीपनि मुनि का तनय है। बलराम श्रीकृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता (बलदेव) और उद्धव श्रीकृष्ण का प्रधान सचिव है। अभिमन्यु राधिका का पति और जटिला का पुत्र है। सुनन्द श्रीकृष्ण के समीप रुक्मिणी का पत्रवाहक एक विप्र कुमार है। कृथ–कौशिकों नाम के दो श्रीकृष्ण के पक्षधर भूपाल हैं। सुपर्ण के नाम से ज्ञात पक्षिराज गरुण श्रीकृष्ण का वाहन है। गोवर्द्धन भारुण्डा का पुत्र एक गोप और चन्द्रावली का पति है। नारद देव ऋषि हैं और शङ्खचूड कंस का पक्षधर एक दैत्य। विश्वकर्मा सूर्य का श्वसुर और राधा आदि का मातामह है। कञ्चुकी अन्तःपुरवर्ती एक वृद्ध पुरुषपात्र है।

ललितमाधव नाटक में स्त्री पात्रों की संख्या बहुल है। नटी सूत्रधार की सहायिका है। राधिका विन्ध्य की पुत्री, सत्यभामा के रूप में प्रच्छन्न राधा सत्राजित की तनया तथा नाटक की प्रधान नायिका है। चन्द्रावली श्रीकृष्ण की सह नायिका, विन्ध्य की पुत्री, रुक्मिणी के रूप में प्रच्छन्न गोष्मक की दुहिता तथा कृष्ण की पटरानी है। पद्मा नग्नजित् की तनया और चन्द्रावली की प्रियसखी है। ललिता राधिका की प्रियसखी और विशाखा यमुना की अवतार रूपी राधा की सहचरी है। बकुला राधा की प्रियसखी और परिचारिका है। वृन्दा, वृन्दावन की देवी और राधा की प्रियसखी है। पौर्णमासी सान्दीपनि मुनि की माता है, गार्गी, गर्ग मुनि की पुत्री है। कुन्दलता उपनन्दपुत्र सुभद्र की वधू है। यशोदा श्रीकृष्ण की अम्बा और नन्द की पत्नी है। रोहिणी नन्द की द्वितीय पत्नी और बलदेव की माँ है। जटिला अभिमन्यु की माँ और राधा की सास है। मुखरा जटिला की एक

सहचरी है। भारुण्डा चन्द्रावली की सास और गोवर्द्धन की माँ है। वृद्धा नाम की पात्र यशोदा की सहचरी है। शरद् पौर्णमासी की ऋतुस्वरूपा एक सहचरी है। सुकण्ठी चन्द्रावली की सेविका है। मालती तथा तुलसी ये दोनों अन्तःपुर की परिचारिकाएं हैं। पिङ्गला सत्यभामा रूपी राधिका की सखी और अन्तःपुर की परिचारिका है।

दानकेलिकौमुदी एकाङ्की नाट्यकृति है। इसमें पुरुष पात्रों की संख्या 7 और स्त्री पात्रों की संख्या 8 है। पुरुष पात्रों में सूत्रधार प्रधान नट है और पारिपार्श्विक उसका एक सहायक नट। श्रीकृष्ण प्रधान नायक हैं। सुबल श्रीकृष्ण का मित्र और दण्डधारी सहयोगी है। मधुमङ्गल श्रीकृष्ण का विदूषक मित्र और प्रमुख गणक है। अर्जुन कृष्ण का परिचारक है। उज्जवल नाम का पात्र उपवन का आरक्षी और उद्यानचक्रवर्ती का किङ्कर है।

दानकेलिकौमुदी में स्त्री पात्रों में राधा नाम की गोपी प्रधान नायिका है। ललिता, विशाखा, चित्रा और चम्पकलता ये राधा की प्रिय सहचरियां हैं। वृन्दा, वृन्दावन की अधिष्ठात्री देवी और राधा की वरिष्ठ सखी है। पौर्णमासी एक प्रख्यात तापसी और सान्दीपनि मुनि की माता है। नान्दीमुखी पौर्णमासी की परम शिष्या है।

प्रस्तुत नाट्यकृति में इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त कुछ सन्दर्भगत पात्र भी हैं जिनका नामोल्लेख करना अपेक्षित है। इसमें पुरुष पात्र है – मागुरि, वसुदेव, दुर्वासा, सान्दीपनि, श्रीदामा, शङ्खचूड, सुरेन्द्रगन्धर्व, भट्टारक, हिरण्यगर्भ, हरिदेव इत्यादि। स्त्री पात्रों में कुन्दलता, सरस्वती, सावित्री, यमुना, मानसगङ्गा, एकानशा (दुर्गा) घूर्णोणा, असिक्नी, शची, ऋद्धि, स्वाहा, योगमाया, छाया (सवर्णा) लक्ष्मी इत्यादि। इन सबका सन्दर्भ पौराणिक परम्परा से सम्बद्ध है। इनका नामोल्लेख प्रस्तुत नाट्यकृति में कथावस्तु के संयोजन में किया गया है।

रूपगोस्वामी की इन तीनों नाट्यकृतियों में प्रधान नायक श्रीकृष्ण और प्रधान नायिका श्री राधिका हैं। ये दोनों दिव्य कोटि के पात्र हैं। यद्यपि नाट्यकृतियों में इनको मानवीय रूप में प्रस्तुत कर इनकी लौकिक–लीलाएं प्रदर्शित की गयी है जिसके आधार पर इन्हें दिव्यादिव्य कोटि के पात्रों में मान्यता देना उचित प्रतीत होता है किन्तु रूपगोस्वामी इन्हें दिव्य रूप में ही स्वीकार करते हैं।(1) रूपगोस्वामी के अनुसार श्रीकृष्ण में सभी प्रकार

1. 'स्वयं प्रकटितैश्वयो दिव्यः कृष्णादिरीरितः' – नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी, कारिका 7

के नायकों के गुण एक साथ विद्यमान रहने के अतिरिक्त, अपने अप्रतिम सर्वोत्तम गुणों को विशेष रूप से रखने के कारण, उन्हें सर्वोत्तम नायक मानना अधिक उपयुक्त है। श्रीकृष्ण में अन्य नायकों की अपेक्षा विशेष तथा एक साथ ललित एवं उदात्त गुणों की शोभा पूर्ण अभिव्यक्ति की जा सकती है अतएव शृङ्गार रस बहुल नाटक में श्रीकृष्ण को नायक बनाना अतिशय उपयुक्त रहता है।[1]

रूपगोस्वामी की इस मान्यता के आधार पर श्रीकृष्ण को दिव्य नायक मानने के साथ ही साथ उन्हें धीरललित एवं धीरोदात्त नायक माना जा सकता है किन्तु इनकी नाट्यकृतियों में श्रीकृष्ण को धीरललित नायक ही माना जा सकता है। इसका स्पष्ट उल्लेख रूपगोस्वामी ने अपनी नाट्यकृतियों के अन्त में किया है।

विदग्धमाधव नाटक की समाप्ति में रूपगोस्वामी लिखते हैं कि विगत अंकों में चौसठ कलाओं के राधाविलास से युक्त 'विदग्धमाधव' नामक नाटक का विद्वज्जन समुचित रूप से परिशीलन करें।[2] इस प्रकार के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत नाट्यकृति में श्रीकृष्ण के शृङ्गारिक व्यक्तित्व के अनुकूल उन्हें धीरललित नायक मानना ही अधिक समीचीन हैं।

इसी प्रकार ललितमाधव नाटक में भी श्रीकृष्ण के धीरललित नायकत्व को स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। रूपगोस्वामी के अनुसार प्रस्तुत नाट्य कृति में श्री कृष्ण ईश्वर तथा मन्मथ मनोहर होते हुये भी अपने शत्रुओं के प्रति धीरोदात्त नायक के गुणों का प्रदर्शन करते हैं किन्तु श्रीकृष्ण की ये लीलाएं ललित भावमय होने के कारण उनके धीर ललित्व को ही प्रमाणित करती हैं। इसीलिये नाटक का शीर्षक भी उनके धीरललित नायक होने का स्पष्ट प्रकाशन करता है।

---

1. अदिव्यो धर्म पुत्रादिरेषु कृष्णो गुणाधिकः।
   नायकानां गुणाः सर्वे यत्र सर्वविधाः स्मृताः।।8।।
   — वही, वही, कारिका 8
   लालित्ययोदात्तयौरत्र व्यक्त्या सोमामरोधिकः।
   तेनैष नायको युक्तः शृङ्गारोत्तरनाटके।।9।।
   — वही, वही, कारिका 9, पृष्ठ–2–3
2. राधा विलासं वीताङ्कं चतुःषष्टिकलघरम्।
   विदग्धमाधवं साधु शीलयन्तु विचक्षणाः।
   — वि. मा. – ग्रन्थ समाप्ति–1 (पुष्पिका)

रूपगोस्वामी लिखते हैं कि चतुःषष्टि कलाओं एवं समस्त नाट्य–आभूषणों से विभूषित ललितमाधवम् नामक प्रस्तुत नाट्यकृति को धीर लोग स्वीकार करें।[1] ललितमाधवम् में इस प्रकार के उल्लेख से श्रीकृष्ण को धीरललित नायक ही माना जा सकता है।

तृतीय नाटक दानकेलिकौमुदी में भी श्रीकृष्ण धीरललित नायक के रूप में प्रस्तुत किये गये है। एकांकी होने के कारण 'भाणिका' में श्रीकृष्ण का धीरललित नायक होना ही शास्त्र–सम्मत है। 'दानकेलिकौमुदी' यह शीर्षक ही श्री कृष्ण को शृङ्गारिक चेष्टाओं एवं मधुरिम लीलाओं का स्पष्ट अनुमान कराता है।

इस प्रकार रूपगोस्वामी की तीनों नाट्यकृतियों के विवेचन में श्रीकृष्ण का धीरललित चरित्र ही वर्णित किया गया है। कहीं–कहीं उनके उदात्त चरित्र का भी वर्णन मिलता है किन्तु वह भी दलित लीलामय होने के कारण धीरललित नायक के ही गुणों का अंग माना जा सकता है।

तीनों नाट्यकृतियों में श्रीकृष्ण भगवान स्वरूप दिव्य व्यक्ति होते हुये भी नन्द और यशोदा के लाड़ले रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। श्रीकृष्ण का चरित्र तीनों नाट्यकृतियों में 'उपपति' नायक के रूप में प्रदर्शित किया गया है। श्रीकृष्ण का यह औपपत्य वास्तविक न होकर मायाविक रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। इसका स्पष्ट उल्लेख पौर्णमासी द्वारा विदग्धमाधवम् एवं ललितमाधवम् के प्रारम्भ में ही कर दिया गया है। राधा के साथ श्रीकृष्ण का औपपत्य भाव योगमाया के प्रभाव से ही प्रदर्शित कराया गया है। राधा आदि तो श्रीकृष्ण की नित्य स्वकीया कांताएं हैं। अभिमन्यु के साथ राधा का विवाह मात्र मायिक है इसका स्पष्ट उल्लेख पौर्णमासी नान्दी से करती है – वह कहती हैं कि योगमाया ने उसको (मुखरा तथा जटिला) धोखा देने के लिये ही वैसे लोगों को विवाह आदि का झूठा ही विश्वास दिलाया है वे सब तो कृष्ण की नित्य प्रेमिकाएं हैं।[2]

---

1. नाटके समुचिततामपीश्वरः स्वैरमप्रकटयन्नुदात्तताम्।
   अत्र मन्मथ मनोहरो हरिलीलिया ललित भावमाययौ।।
   पूर्ण कला चतुष्षठ्या लक्षणैर्भूषणैरपि।
   भजन्तु श्रितगन्धर्व धीराः ललितमाधवम्।।
   – ल. मा. ना. ग्रन्थ समाप्ति (पुष्पिका)
2. विदग्धमाधवम् – प्रथम अंक, पृ. 12

विदग्धमाधवम् में नायक के रूप में श्रीकृष्ण का चरित्र

वैसे तो रूपगोस्वामी के मत में प्रतिपाद्य नाट्यकृतियों में श्रीकृष्ण का चरित्र धीरललित नायक के रूप में पूर्णतया स्पष्ट है। श्रीकृष्ण का दिव्य चरित्र, नायक की किसी भी कोटि का अधिग्रहण कर सकता है किन्तु विवेच्य नाट्यकृतियों में उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के आधार पर धीरललित नायक के रूप में ही उनका चरित्र वर्णनीय है। इससे पूर्व कि श्रीकृष्ण के धीरललित नायकत्व की विशेषताओं का उद्धरण प्रस्तुत करें, विवेच्य नाट्यकृतियों में उनके प्रकृति–प्रसूत पूर्णतम, पूर्णतर और पूर्ण गुणों का अवलोकन कर लें।

रूपगोस्वामी के अनुसार श्रीकृष्ण की पूर्णतया गोकुल के अन्दर व्यक्त हुई है। इसे ऐश्वर्यगत पूर्णता की दृष्टि से प्रमाणित भी किया गया है। विदग्धमाधव में वृन्दावनबिहारी रसिकचूडामणि रसराज भगवान श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाओं का माधुर्यमय वर्णन हुआ है। एतदर्थ भगवान श्रीकृष्ण अपने अप्रकटधाम की नित्य लीलाओं को प्रकट धाम में सम्पादित करने हेतु अपने नित्य लीला परिकरों के साथ प्राकृत जगत में अवतीर्ण होते हैं। उनकी स्वरूप शक्ति योगमाया अपने प्रभाव से उनकी नित्य लीलाओं में भाग लेने वाले परिकरों को, उनके वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कराके सम्भव को असम्भव और असम्भव को सम्भव कराके श्री कृष्ण के ऐश्वर्य को प्रकाशित करती है। चतुःषष्टिकला समन्वित भगवान् श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य प्रस्तुत नाट्यकृति में पूर्णरूपेण प्रकाशित हुआ है। ब्रजबल्लभाओं के प्रति उनकी सहृदयता, अनुरागप्रियता और आकर्षण–प्रबलता उनके ऐश्वर्य की पराकाष्ठा मानी जा सकती है। ब्रजबालाओं के प्रति उनका औपपत्य सम्बन्ध, और प्रणय की प्रगाढ़ता उनके पूर्णतम व्यक्तित्व को पूर्णतया प्रमाणित करती है।

ललितमाधवम् में श्रीकृष्ण का पूर्णतम, पूर्णतर और पूर्ण तीनों गुण प्रदर्शित किया गया है। प्रथम एवं द्वितीय अंक में श्रीकृष्ण की वृन्दावन लीला का वर्णन है अतः उसमें श्रीकृष्ण का पूर्णतम व्यक्तित्व माना जा सकता है। तृतीय और चतुर्थ अंक में मथुरा लीला का वर्णन होने के कारण श्रीकृष्ण को पूर्णतर नायक कहा जा सकता है। इस प्रकार पंचम अङ्क से लेकर दसवें अङ्क तक श्रीकृष्ण की द्वारिका लीला का वर्णन किया गया है, उसमें श्रीकृष्ण को पूर्ण नायक माना जा सकता है।

दानकेलिकौमुदी में श्रीकृष्ण की वृन्दावन में दानलीला का वर्णन होने के कारण पूर्णतम प्रकृति का नायक कहा जा सकता है।

विदग्धमाधवम् की अपेक्षा इन तीनों नाट्य कृतियों में भी श्रीकृष्ण धीरललित नायक के रूप में ही विशेष रूप से प्रस्तुत किये गये हैं। रूपगोस्वामी ने धीरललित नायक में श‍ृङ्गारोचित पच्चीस गुणों का उल्लेख किया है।[1] ये पच्चीस गुण श्रीकृष्ण के एक विशेष गुण 'विदग्ध' के ही पर्याय कहे गये हैं। इसके आधार पर ही हम रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में वर्णित श्रीकृष्ण के धीरललितोचित गुणों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भक्ति रसामृतसिन्धु में 'विदग्ध' शब्द के विविध अर्थ प्रतिपादित किये गये हैं। ये समस्त अर्थ वे ही हैं जिन्हें रूपगोस्वामी ने अपने उज्जवल नीलमणि में श्रीकृष्ण के श‍ृङ्गारोचित गुणों के रूप में उल्लेख किया है। अतएव इनके उदाहरण हम विवेच्य नाट्यकृति में क्रमानुसार प्रस्तुत हैं।

1. सुरम्य

इसका अभिप्राय है सुरम्याङ् का अर्थात् जिसके अवयवों का सन्निवेश श्लाघनीय हो, उसे सुरम्य कहना चाहिये।

विदग्धमाधवम् के द्वितीय अंक में श्रीकृष्ण के सौन्दर्य से उद्विग्न हुई श्री राधिका को उसकी सखी विशाखा धैर्य बंधाने का प्रयत्न करती है किन्तु राधा उससे कहती है कि उस धूर्त श्रीकृष्ण ने उसे गुणहीन बना दिया है क्योंकि श्रीकृष्ण का वक्षस्थल रूपी तट–समूह धैर्य रूपी नदी की बाढ़ को रोकने के व्यापार में पारङ्गत है। मुख मण्डल रूपी चन्द्रमा कुल धर्म रूपी कमल वन के संकोच में दीक्षित है। उसकी युगल भुजाएं लज्जा के अभिचार यज्ञ के अनुरूप हैं। हाय, खेद है कि उसके नेत्रों की भङ्गिमारूपी सर्पिणी समस्त वस्तु को निगल जाने वाली है।[2]

प्रस्तुत उदाहरण में श्रीकृष्ण के वक्षस्थल मुख, भुजाएं और नेत्र–भंगिमा ये सब शरीरावयव है, जो राधा के धैर्य, कुल धर्म, लज्जा और नार्योचित गुणों को नग्न करने वाले

---

1. उज्जवल नीलमणि – नायक भेद प्रकरण।
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, 2 |45, द्वितीय अंक, श्लोक 45, चौ. प्र., वाराणसी

हैं। ये शरीरावयव ऐसे हैं जिसके सुन्दर सन्निवेश से राधा भी आकर्षित होकर स्वयं को गुणहीन मान लेती हैं। यहां पर श्रीकृष्ण के अवयवों के सौन्दर्य की प्रशस्ति गौण रूप से व्यक्त होने के कारण 'सुरम्य' का सुन्दर उदाहरण मानी जा सकती है।

2. रुचिर अथवा मधुर

सौन्दर्य के द्वारा नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाला रुचिर कहलाता है।

विदग्धमाधव के द्वितीय अंक में श्रीकृष्ण के चित्रपट को एक ही बार के देखने से राधा वशीभूत होकर अपनी सखियों से कहती है कि शरीर से मरकत मणि की कान्तियों की छटा को विकीर्ण करता हुआ मयूर पक्षधारी नवयुवक श्रीकृष्ण जब से मेरी दृष्टि में पड़ा है, भ्रूविक्षेप करके हंसते हुये उसने मेरी बुद्धि को उन्मत बना दिया है। इतना ही नहीं चन्द्रमा उसके लिये अग्नि बन गया है और अग्नि चन्द्रमा। वह अपनी आसक्ति का चरमोत्कर्ष व्यक्त करती हुई कहती है कि एक का सुना हुआ 'कृष्ण' यह नाम ही बुद्धि को हर रहा है। दूसरे की मुरलीध्वनि गहन उन्माद उत्पन्न कर रही है। स्निग्ध घन की कान्ति वाला यह कृष्ण एक ही बार के दृष्टिपात से मेरे मन में समा गया है।[1]

3. सर्वलक्षणान्वित

श्रीकृष्ण समस्त सर्वलक्षणों से समन्वित है। शरीर में दो प्रकार के लक्षण होते हैं – 1. गुणोत्थ और 2. अङ्कोत्थ। शरीर की रक्तता तथा ऊँचाई आदि गुणों के योग से गुणोत्थ सर्वलक्षणत्व होता है। हाथ एवं चरणों में रेखाओं से बने हुये चक्रादि चिन्ह अङ्कोत्थ सर्वलक्षणत्व प्रकाशित करते हैं।[2] विदग्धमाधवम् में भी श्रीकृष्ण के अङ्कोत्थ व गुणोत्थ नामक गुणों का सर्वेलक्षणत्व देखा जा सकता है।

4. बलीयान्

महान प्राण अर्थात् पौरुष से परिपूर्ण व्यक्ति को बलीयान् कहा जाता है। विवेच्यकृति विदग्धमाधवम् में श्रीकृष्ण में यह लक्षण अद्वितीय हैं।

---

1. वि. मा., रूपगोस्वामी, 2 |3, 9 |
2. भ. र. सि. – द. वि. वि. ल. 1

5. नवतारुण्य

रूपगोस्वामी ने नवतारुण्य को 'वयसान्वित' भी कहा है। रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में श्रीकृष्ण का चरित्र नवतरुण रूप में ही वर्णित हुआ है। विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण एक किशोर नवयुवक के रूप में प्रदर्शित किये गये हैं। प्रथम अङ्क में श्रीकृष्ण के चित्रपट को देखकर राधा की आसक्ति उनके प्रति बढ़ जाती है। राधा विशाखा से अपनी लाचारी को व्यक्त करती हुई कहती है कि शरीर से मरकतमणि की द्युतियों की शोभा को विर्कीण करता हुआ मयूर पक्षधारी नवयुवक पर्दा से निकला है। इतना कहकर वह संकुचित होती है और पुनः कहती है कि भ्रूविक्षेप करके हंसते हुये उस नवयुवक ने मेरी बुद्धि को उन्मत कर दिया है।[1] यहाँ पर राधा द्वारा श्रीकृष्ण को 'नवयुवक' के रूप में स्वयं सम्बोधित किया गया है। इससे श्रीकृष्ण का 'नवतारुण्य' गुण पूर्णतया स्पष्ट है।

6. वावदूक

कर्ण प्रिय लगने वाले तथा वाणी के समस्त गुणों से युक्त वयन बोलने वाले को वावदूक कहते हैं।[2]

विदग्ध माधव के प्रथम अंक में 'वावदूक' का सर्वोत्तम उदाहरण देख जा सकता है जिसमें 'कृष्ण' का नाम ही रोमाञ्जित करने वाला है। नान्दी कृष्ण के प्रति राधा की भावविहवलता को पौर्णमासी से निवेदित करती हुई कहती है कि कृष्ण का नाम सुनकर राधा रोमाञ्चित होकर किसी भाव विशेष को प्राप्त करती है अर्थात् वह कृष्ण का नाम सुनकर प्रेमवश विह्वल हो उठती है। इस पर कृष्ण नाम की कर्णप्रियता बतलाती हुई पौर्णमासी नान्दीमुखी का समर्थन करती है –

तुण्डेताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावली लब्धये
कर्णक्रोडकडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम्।
चैतः प्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतेः कृष्णेति वर्णद्वयी।।[3]

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 3
2. भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, द. वि. वि. ल. – 1, का. 11
3. वि. मा. – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, श्लोक 15

विदग्ध माधव के द्वितीय अंक में श्रीकृष्ण के वाणी की मधुरिमा भी उल्लेखनीय है। श्रीकृष्ण से मिलने के लिये उत्कण्ठित राधा जटिला के आगमन से अपने आपको धैर्य बंधाती हुई विशाखा से कहती है कि यहां मैंने कृष्ण के वचन रूपी अमृत का निःशङ्क होकर पान नहीं किया और इसकी मुखाकृति पर अपनी दृष्टि भी नहीं डाल सकी।(1)

प्रस्तुत उद्धरणों में श्रीकृष्ण का मधुर वचन और उनका सुखद दर्शन दोनों राधा को अत्यन्त प्रिय है। वह सदैव यह चाहती हैं कि श्रीकृष्ण का मधुर वचन सुनती रहे और सदैव दर्शन लाभ प्राप्त करती रहे। इनकी वाणी एवं सौन्दर्य से वह इतना आकृष्ट है कि उसके अभाव में श्रवण–शक्ति एवं दर्शन शक्ति न होना ही श्रेयस्कर समझती हैं। यहाँ पर श्रीकृष्ण के कर्णप्रिय मधुर वचन एवं उनकी सर्वगुण सम्पन्नता के कारण 'वावदूक' का उत्तम उदाहरण माना जा सकता है।

7. प्रियंवद

रूपगोस्वामी के मत में अपराधी व्यक्ति के प्रति शान्तिपूर्वक बात करने वाला 'प्रियंवद' कहलाता है।(2)

विदग्धमाधव नाटक के चतुर्थ अंक में राधा श्रीकृष्ण की मुरली छिपा लेती है। कृष्ण राधा पर वंशी चुराने का आरोप लगाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्रचण्ड देवि, यदि तुमने वंशी नहीं चुरायी है तो क्यों उस विषय में मुस्कुराहट की कली के उल्लास से विकसित कपोल से आन्दोलित कटाक्ष वाली हो रही हो ? अर्थात् मुरली विषयक वार्तालाप में मुस्कुरा क्यों रही हो।(3)

प्रस्तुत उदाहरण से श्रीकृष्ण का प्रियंवद गुण पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। राधा द्वारा मुरली की चोरी से उसे अपराधी जानते हुये भी श्रीकृष्ण बड़े प्रेम से उसके मुस्कुराने का कारण पूंछते हैं।

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 56
2. भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, द. वि. वि. ल. 1, का. 10
3. वि. मा. – '' , पृ. 194, चतुर्थ अंक

8. सप्रतिभ

(प्रतिभान्वित) रूपगोस्वामी ने सप्रतिभ को प्रतिभान्वित भी कहा है जिसका अभिप्राय है तत्काल नवीन बातों को कहने वाला।[1] विदग्धमाधवम् में श्रीकृष्ण की प्रतिभा का प्रखर रूप सर्वत्र स्पष्ट हैं।

9. विदग्ध

गीत, वाद्यादि कलाओं के विलासयुक्त व्यक्ति को विदग्ध कहा गया है।[2]

'विदग्धमाधव' नाटक में श्रीकृष्ण की विदग्धता को प्रमाण स्वयं उसका शीर्षक ही है। चतुःषष्टिकला समन्वित श्रीकृष्ण के विविध विलासों का वर्णन ही प्रस्तुत नाट्यकृति का परम उद्देश्य है। जैसा कि रूपगोस्वामी ने नाटक के अन्त में स्वयं ही इस बात की पुष्टि की है। उन्होंने लिखा है कि विगत अङ्कों में चौसठ कलाओं के राधा विलास से युक्त 'विदग्धमाधव' नामक नाटक का विद्वद्गण समुचित रूप से परिशीलन करें।[3]

जहां तक श्रीकृष्ण की गीत वाद्यादि कलआओं एवं विविध विलासों में विदग्धता का प्रश्न है, विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण एक कुशल एवं मधुर मुरलीवादक हैं जिसकी सुमधुर ध्वनि से न केवल चेतन प्राणी अपितु अचेतन पदार्थ भी द्रवित हो उठते है। देवतागण भी उस वेणु वादन को सुनकर स्तम्भित होते हुये से प्रतीत होते हैं।

विदग्धमाधव के द्वितीय अङ्क में बलराम जी वेणु–वादन के प्रभाव को मधुमङ्गल से बतलाते हुये आश्चर्य प्रकट करते हैं। वह कहते हैं कि अरे इस वंशी–रव के प्रभाव से परस्पर विपरीत स्वभाव वाले पदार्थ भी अपने प्रतिकूल धर्म को स्वीकार कर रहे हैं। यमुना तट पर श्रीकृष्ण के वेणु–वादन करने पर उत्पन्न स्तम्भन के कारण सरिताओं के जल कठोर होकर जम गये, प्रस्तर द्रवित होकर कोमल हो गये, कम्पन में स्थिरता को धारण कर लिया और जङ्गम पदार्थ जड़ता के कारण गतिहीन हो गये।[4] इतना ही नहीं

---

1. भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, द. वि. वि. लहरी 1, का. 14
2. 'कलाविलासादिग्धात्मा विदग्ध इति कीर्त्यते'

   – भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, द. वि. वि. ल. – 1
3. वि. मा. – रूपगोस्वामी, ग्रन्थ समाप्ति
4. वि. मा. – '' , द्वितीय अंक, श्लोक 25

उस मुरली की मधुरिम ध्वनि को सुनकर अलौकिक पदार्थ भी प्रभावित हो उठते हैं। वह मुरली का सुमधुर स्वर बादलों को स्तम्भित करता हुआ, नारद की वीणा को चमत्कृत करता हुआ, सनन्दन के मुखों को ध्यानावच्छिन्न करता हुआ, ब्रह्मा को विस्मित करता हुआ, औत्सुक्य के कारण बलि को चंचल बनाता हुआ, शेष नाग को घूर्णित करता हुआ तथा ब्रह्माण्ड रूपी कटाह की भीत का भेदन करता हुआ चतुर्दिक अपनी गूंज का विस्तार कर रहा है।[1]

विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण की गीत–सङ्गीत–कला प्रियता का उदाहरण चतुर्थ अंक में देखा जा सकता है जहाँ नेपथ्य से यह उद्घोष होता है कि सम्पूर्ण संसार में गाये गये सुन्दर गीतों की भङ्गिमा से अङ्गिभाव के प्रथम निवास मुरली को बांये हाथ में संगिनी बनाकर नेत्रों को आनन्दित करने वाला नन्दनन्दन कृष्ण गोवर्धन पर्वत के गुफा–मन्दिर में प्रेम से प्रवेश कर रहा है।[2]

प्रस्तुत प्रसंग में श्रीकृष्ण की वंशी को समस्त सङ्गीत विधाओं का आश्रय कहा गया है। उसी वंशी से निःस्यूत सङ्गीत की समस्त विधाएं संसार में गायी जाती है। वंशी का गीत प्रधान और सर्वाङ्गीण है अन्यत्र गाये गये गीत तो अंगहीन ही माने जाते हैं।

विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण के प्रशस्त विलास का वर्णन सप्तम अङ्क में वृन्दा द्वारा प्रस्तुत किया गया है। वृन्दालता मन्दिर की ओर ललिता को दिखाती हुई कहती है कि देखो ललिते। देखो। हार से विच्छिन्न हुये चञ्चल मणियों से विभूषित, मिले हुये स्वर्णाभूषण के टुकड़े तथा सूखती हुई माला से युक्त और बिस्तर के रूप में व्यवहृत पुष्प–पुञ्ज का अनुरागी यह कुञ्ज चारों ओर से कृष्ण के उत्कृष्ट विलास को सूचित कर रहा है।[3]

विदग्ध के सामान्य अर्थ में एक अर्थ श्रीकृष्ण की रसिकता के सन्दर्भ में भी माना जा सकता है। वैसे विदग्ध शब्द का सामान्य अर्थ, रसिक, निपुण, पारङ्गत और सर्वमनोहर

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 27
2. वि. मा. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 2
3. वि. मा. – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक 42

बताया गया है किन्तु सुरम्य इत्यादि पच्चीस गुण, जो रूपगोस्वामी द्वारा श्रृङ्गार के सन्दर्भ में श्रीकृष्ण के प्रमुख गुण बताये गये हैं, वे भी विदग्ध के पर्याय रूप में ही अथवा अङ्क रूप में ही प्रस्तुत किये गये हैं।

नाट्यकृतियों में श्रीकृष्ण को रसिक शिरोमणि[1], रसिकशेखर तथा 'रसराज' रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह परम रसिक और सहृदय हैं।

विदग्धमाधव के पंचम अङ्क में श्रीकृष्ण वृन्दावन में राधा के साथ विहार हेतु उपस्थित हैं। वहाँ पर विद्यमान दाडिम वृक्ष से अधिक शोभायमान राधा का सौन्दर्य–वर्णन करते हैं। वृन्दा राधा से कर्णिकार–अर्थात् वनचम्पा के वृक्ष को देखने का संकेत करती है। राधा कहती है कि नवीन वनचम्पा के पुष्प पर विद्यमान भौरा रस के लोभ से निश्चल हो रहा है। राधा के इस पूर्वार्द्ध कथन को सुनकर कृष्ण उसका तत्काल ही उत्तरार्द्ध में प्रत्युत्तर प्रस्तुत करते हुये कहते हैं –

'काञ्चन मञ्च निविष्टो रसराजोऽयं शरीरीव'[2] अर्थात् स्वर्ण मञ्च पर आसीन हुआ यह भ्रमरा (कृष्ण) मानो मूर्तिमान रसराज (श्रृङ्गार रस) लग रहा है।

इतना ही नहीं श्रीकृष्ण की रसिकता का सुन्दर उदाहरण द्वितीय अंक में भी देखा जा सकता है। मधुमङ्गल कृष्ण से कहता है प्रिय, देखो, यह प्यासा भी शुक–युवा इस मधुर अनारफल को नहीं प्राप्त कर पा रहा है। कृष्ण मुस्कुराते हुए कहते हैं – हे दाडिमि तुम्हारी कान्ति को वहन करने वाले तुम्हारे पुष्पराग से हृदय में ताडित भी शुक 'तुम्हारा रस पका है या नहीं इस शंका से उदासीन हो रहा है। यहाँ पर श्रीकृष्ण के कथन का अभिप्राय राधा के प्रति ही है। श्रीकृष्ण तो राधा के उपभोग के लिये लालायित ही है, केवल वह राधा के अगाध स्नेह की स्वीकृति की प्रतीक्षा में हैं। वह तो केवल रस परिपाक

---

1. रसिकशिरोमणिरमणः सुलभोगोकुलनिवासिनामेव।
   सन्दर्भो गुणगर्भः स जयति राधामिसाराख्यः।
   – ल. मा., च. अं., श्लोक 13
2. नव कर्णिकार कुसुमे मसलो रसलोभ निश्चलो भवति।
   काञ्चनमञ्च निविष्टो रसराजो ऽयं शरीरीव।।
   – वि. मा., पंचम अंक, श्लोक 51

की प्रतीक्षा में संलग्न है। यदि राधा सचमुच कृष्ण के प्रति समर्पित हो जाती हैं तो कृष्ण अवश्य उसका रसपान करेंगे। श्रीकृष्ण का उक्त कथन उनकी सर्वोत्कृष्ट रसिकता का परिचायक है।[1]

10. धैर्य

विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण राधा के प्रति अपनी आसक्ति का प्रकाशन अपने मित्र मधुमङ्गल से करते है। राधा के दर्शन के लिये उत्कण्ठित श्रीकृष्ण की दशा देखकर ललिता उन्हें राधा का मदन लेख प्रदान करती है। कृष्ण अपने मन को धैर्य बंधाते हुये कहते हैं – हे मन, धीरज धरो, धीरज धरो, मैं समझता हूँ कि तुम्हारे अभिलषित बीज का यह अङ्कुर है।[2]

11. चतुर

एक ही समय अनेक कार्यों के समाधान करने वाले व्यक्ति को 'चतुर' कहते है।[3] विदग्धमाधव के प्रारम्भ में ही पौर्णमासी से राधा विषयक चर्चा सुनकर कृष्ण रोमाञ्चित हो उठते हैं और अपने मनोभावों को छिपाने के लिये पौर्णमासी से किसी महोत्सव की शोभा समायोजित करने का अनुरोध करते हैं क्योंकि मधुमास में पुरानी लताएं भी पल्लवित पुष्पित होने लगी हैं। पौर्णमासी श्रीकृष्ण की चतुरता को समझ जाती हैं और कहती है – नागर। तुम्हारे ही उत्सवों का यह अवसर आया। क्योंकि फूलों और किसलयों की लालसा से गोपों की गोपियां भी यहां (महोत्सव) में आयेगी।[4] राधा के प्रति श्रीकृष्ण की आसक्ति को देखकर तीसरे अंक में उनके परस्पर संयोग कराने का वर्णन किया गया है। राधा अपनी सखियों के साथ लताकुञ्ज में प्रवेश करती हैं। ललिता राधा से कहती है कि तुम्हारे मानस हंस को चुराने वाला चतुर तुम्हारे आगे हैं।[5]

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 55
2. विदग्ध माधवम – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, पृ. 72
3. 'चतुरो युगपदभूरिसमाधान कृदुच्यते' – भ. र. सि. द. – वि. वि. ल. – 1
4. विदग्ध माधव – प्रथम अंक, पृ. 33
5. वही – " , तृतीय अंक, पृ. 123

विदग्धमाधव के अनेक प्रसंगों में कृष्ण की चतुरता देखी जा सकती है जैसे – कृष्ण द्वारा राधा आदि गोपियों की भाव परीक्षा, कृष्ण द्वारा छिपकर राधा की प्रेम दशा का अवलोकन, कृष्ण द्वारा भूलवश अपनी माला को प्रदान कर देना, राधा वियोग से कृष्ण का मूर्च्छित होना, राधा कृष्ण का द्वितीय साक्षात्कार और परस्पर उलाहनापूर्ण वचनों में प्रेमोक्तिया, श्रीकृष्ण द्वारा गोत्रस्खलन और उनके द्वारा अनुनय राधा के आंचल में मुरली का देना, राधा का कृष्ण द्वारा प्रसादन, कृष्ण द्वारा वंशीवादन करके राधा आदि को आकृष्ट करना, राधा के अभाव में चन्द्रावली से ही मनोविनोद करने का कृष्ण का निश्चय, कृष्ण द्वारा राधा का प्रसादन करने का निश्चय, निकुञ्ज विधा का वेश इत्यादि।

श्रीकृष्ण की चतुरता से प्रभावित होकर पौर्णमासी उनके प्रणाम करने पर चतुर होने का आशीर्वाद प्रदान करती हुई कहती है – नागर, गोपीस्तनतटीएवलंपटीभव। अर्थात् गोपियों के स्तनतटों में लम्पट न बनो अथवा गोपियों के स्तनतटों में चतुरता से विहार करो।[1] (अलम् – अत्यधिक पटी भव – चतुर बनो) पौर्णमासी श्रीकृष्ण के लिये 'विदग्धपुंगव' सम्बोधन का प्रयोग करती है जिससे श्रीकृष्ण की चतुरता का बोध हो जाता है।[2]

12. कृतज्ञ

जो अपने प्रति किये गये सेवादि कार्यों का ज्ञान रखने वाला होता है उसे कृतज्ञ कहते हैं।[3]

विदग्धमाधव के तृतीय अङ्क में राधा का दर्शन प्राप्त करने का कारण श्रीकृष्ण पौर्णमासी की कृपा मानते हैं। वह कहते हैं अहो, पौर्णमासी की प्रसन्नता अधिक श्रेष्ठ है जो यह चन्द्रिका आनन्दित कर रही है। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्णिमा तिथि को चांदनी अधिक सुहावनी होती है अर्थात् पौर्णमासी देवी की कृपा से राधा का दर्शन प्राप्त हुआ है।[4]

---

1. विदग्ध माधव – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, पृ. 101
2. वही – '' , पंचम अंक, पृ. 199
3. कृतज्ञः स्यादभिज्ञो यः कृत सेवा दि कर्मणाम्
   – भ. र. सि. – द. वि. वि. ल. – 1
4. विदग्ध माधव – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, पृ. 122

इसी प्रकार दानकेलिकौमुदी के अन्त में पौर्णमासी श्रीकृष्ण से कहती है कि चतुर शिरोमणि। मैंने यह चिन्तामणि प्रस्तुत की है, और आपने तो इसे कान्तामणि मान लिया। कृष्ण पौर्णमासी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुये कहते हैं (लज्जापूर्ण मुस्कुराहट के साथ) अब मेरे पास कहने को कुछ शेष नहीं रहा। इस रमणी मणि के मिलन में भगवती और उनके सभासद की मन्त्रणापूर्ण विद्या विभव ही कारण है।[1]

13. दक्षिण

कोमल चरित्र वाले व्यक्ति को विद्वान् लोग 'दक्षिण' कहते हैं।[2] जैसे – दानकेलि कौमुदी के प्रारम्भ में वृन्दा कृष्ण का परिचय कराती हुई राधा से कहती है कि समस्त भूमण्डल की मृगनयनियों के भी मनोरथ को पूर्ण करने में समर्थ अपने भुजयुगल को डुलाते हुये, कुलीन गोपाङ्गाओं की मन्मथ पीड़ा को उन्मादित करने का व्रत लिये रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण अपने वक्षस्थल की कान्ति से विद्यमान है।[3] इसी प्रकार विदग्ध माधवम् में भी अनेक उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

14. प्रेमवश्य

जो केवल प्रेम के वशीभूत होता है उसे प्रेमवश्य कहते हैं।[4]

श्रीकृष्ण की प्रेमवश्यता का सर्वोत्तम उदाहरण विदग्धमाधव के चतुर्थ अंक में देखा जा सकता है। राधा के मान को भङ्ग करते हुये श्रीकृष्ण कहते है – प्रिये, तुम्हारे अधीन केवल मैं ही नहीं हूँ, अपितु मेरे दशों अवतार भी हैं।[5]

इसी प्रकार रूपगोस्वामी के एक और ग्रन्थ ललित माधव में श्रीकृष्ण राधा के कटाक्षों से आकृष्ट होकर राधा के प्रेम में वशीभूत हुये प्रतीत होते हैं। जैसे –

मीलनं मीलतेनायं विन्दन् फुल्लेन फुल्लताम्।

अपाङ्मेनातिकृष्णेन कृष्णस्तव वशीकृतः।।[6]

---

1. दा. के. कौ. – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, पृ. 283
2. भक्तिरसामृतसिन्धु – रूपगोस्वामी, द. वि. वि. ल. – 1
3. दानकेलिकौमुदी – ” , पृ. 58
4. भ. र. सि. – ” , द. वि. वि. ल. – 1
5. विदग्ध माधव – ” , चतुर्थ अंक, श्लोक 41
6. ललित माधव – ” , प्रथम अंक, श्लोक 56

15. नारीमोहन

जो सुन्दरियों के समूह में मोहन उत्पन्न करने वाला हो उसे नारीमोहन कहते है।[1]

विदग्धमाधव के तृतीय अंक में लताकुञ्ज में श्रीकृष्ण को दूर से ही देखकर राधा एवं उसकी सखियां मोहित हो जाती हैं। ललिता राधा को कृष्ण के समीप ले जाकर कहती है – 'दूर से देखकर अत्यधिक तृष्णा से चंचल सखी का चित्र रूपी हंस तुम्हारे मुख–कमल पर गिर गया है।[2]

16. लीला

श्रीकृष्ण की लीला–मधुरिमा विदग्धमाधव नाटक की नान्दी में अति उत्कृष्ट रूप से व्यक्त की गयी है। हरि–लीला की वन्दना करते हुये रूपगोस्वामी लिखते है कि चन्द्रमा के अमृत–समूह की मधुरिमा के अहंकार को दूर करने और राधा आदि श्रेष्ठ गोपियों के प्रेम रूपी कपूरों से सुगन्धित, भगवान श्रीकृष्ण की लीला रूपी शिखरिणी सभी ओर से दैहिकादि त्रिविध तापों को उत्पन्न करने वाले विषम संसार रूपी मार्ग में भटकने से उत्पन्न तुम्हारी प्यास को दूर करे।[3]

प्रस्तुत नान्दी में हरि–लीला पर शिखरिणी को आरोपित किया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि जैसे चीनी मिश्रित दधि से बना हुआ मसालेदार शरबत (शिखरिणी) मार्गजन्य पीड़ा को दूर करती है उसी प्रकार श्रीकृष्ण की मधुरिम अद्भुत लीलाओं का श्रवण, कीर्तन और मनन लोगों को आनन्द प्रदान करे।

---

1. 'नारीगणमनोहारी सुन्दरी वृन्दमोहनः'

   – भ. र. सि. – द. वि. वि. ल. – 1

2. विद्वरादालोक्य प्रबलतरतृष्णा तरलितः
   सखी चेतोहंसस्तव वदन पद्ये निपतितः।
   भ्रमदभ्रपाशाभ्यां कितव तम बध्नादिह भवान्
   कियस्मासु न्याय्या व्यवसितिरियं ते विसदृशी।।

   – वि. मा. – तृतीय अंक, श्लोक – 29

3. विदग्ध माधव नाटक – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, नान्दी श्लोक – 1

17. प्रेष्ठ–प्रेम्णाप्रियाधिक्य

विदग्ध माधव के प्रथम अंक में श्रीकृष्ण वृन्दावन में प्रवेश कर वहां की शोभन सुषमा को दिखाते हुये अपने मित्र मधुमङ्गल से कहते हैं कि – 'सखे मधुमङ्गल, पश्व माधवीयां वनमाधुरीम्।[1]

कहीं मधुकरी (भ्रमरी) का मधुर गान है, कहीं मन्द मलयपवन की शीतलता है, कहीं लता की थिरक है कहीं स्वच्छ चमेली का पराग है और कहीं स्वर्णफल के समूह का प्रवाहमय रसभार है। इस प्रकार यह वृन्दावन नेत्र आदि इन्द्रियों को विशेष आनन्दित कर रहा है। अर्थात् वृन्दावन की बसन्त सुषमा समस्त इन्द्रियों को उन्मत्त बना रही है।[2]

प्रस्तुत प्रसंग में वृन्दावन की बसन्त–सुषमा के प्रति श्री कृष्ण को प्रेषण प्रियाधिक्यता प्रकट होने के कारण उनके श्रेष्ठ गुण का प्रकाशन होता है।

18. वेणुमाधुर्य

विदग्धमाधव में वंशी की ध्वनि को सुनकर जड़ चेतन सभी द्रवित हो जाते हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में वंशी का रव विर्कीण हो जाता है।[3]

इस प्रकार 'वेणुमार्धुय' श्रीकृष्ण के समस्त गुणों में सर्वोत्कृष्ट माना जा सकता है। श्रीकृष्ण के असाधारण गुणों में भी इसे सर्वोत्तम गुण कहा जा सकता है।

उपपति के रूप में श्रीकृष्ण

रूपगोस्वामी की तीनों नाट्य कृतियों में श्रीकृष्ण का चरित्र उपपति नायक के रूप में प्रदर्शित किया गया है। श्रीकृष्ण का यह औपपत्य सम्बन्ध वास्तविक न होकर योगमायिक कहा गया है क्योंकि मार्धुयरस के आस्वादन की पराकाष्ठा औपपत्य भाव में

---

1. विदग्धमाधव नाटक – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, नान्दी श्लोक – 1
2. क्वचिद् भृङ्गी गीतं क्वचिद निलमङ्गीशिशिरता
   क्वचिद्वल्लीलास्यं क्वचिदमलमल्लीपरिमलः।
   विचाराशाली कनकफलपालीरसभरो
   हषीकाणां वृन्दं प्रमदयति वृन्दावनमिदम्।।
   – विदग्धमाधम – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, श्लोक – 31
3. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, श्लोक – 25, 27

ही प्रतिपादित की गयी है। विवेच्य नाट्यकृतियों में राधा का विवाह अभिमन्यु के साथ दिखाया गया है जो कि योगमाया का विवर्त है। विदग्धमाधव और ललितमाधव के प्रारम्भ में ही पौर्णमासी इसका समुचित समाधान करा देती है।[1]

रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में श्रीकृष्ण का चरित्र पति के रूप में पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। राधा और चन्द्रावली श्रीकृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने की कामना करती हैं और उसके लिये वह सूर्योपासना इत्यादि धार्मिक अनुष्ठानों का व्रत भी करती हैं। नाट्यकृतियों में राधा अभिमन्यु नामक गोप के साथ तथा चन्द्रावली गोवर्द्धनमल्ल नामक गोप के साथ परिणीता बतायी गयी है। गोपसुतों के साथ इनका प्राणिग्रहण योगमाया का विवर्त माना गया है। राधा और चन्द्रावली आदि ब्रजवल्लभाएं श्रीकृष्ण को ही अपने पति रूप में प्राप्त करने की अभिलाषा करती हैं।

रूपगोस्वामी की नाट्यकृति में नायक की शृङ्गाररस सम्बन्धी अवस्था

अनुकूल–नायक के रूप में श्रीकृष्ण

रूपगोस्वामी की तीनों नाट्यकृतियों में श्रीकृष्ण की अनुकूलता राधा के प्रति ही प्रदर्शित की गयी है। विशेष रूप से विदग्धमाधवम् में प्रथम अंक से लेकर तृतीय अंक तक श्रीकृष्ण को राधा के प्रति अनुकूल नायक ही माना जा सकता है। इन अंकों के बीच राधा ही श्री कृष्ण की परम प्रेयसी है जिसके प्रति उनकी मिलनोत्कण्ठा बलवती रहती है। तीसरे अंक के अन्त में श्रीकृष्ण राधा से कहते है कि उन्होंने अपने समस्त सुहृदसमुदाय को छोड़कर उसके साथ संयोग प्राप्त करने का निश्चय किया है। इसी बात को बड़े दार्शनिक तथ्यों के साथ प्रस्तुत श्लोक में व्यक्त किया गया है –

मुक्तानामुपलभ्यमेव कुचयोः सालोक्यमालक्य ते
हित्वा संगमहंसमस्तसुहृदां केवल्यमासेदिवान्।
वैषम्यं तिलमप्यनाश्रितवतोः सान्द्रामृतस्यन्दिभिः
मां पूर्णं कुरु तन्वि तूर्णमनयोः साजुज्यदानोत्सवैः।[2]

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 12
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, श्लोक 51

इसी अंक में श्रीकृष्ण राधा के बिना एक क्षण भी व्यतीत करना असम्भव मानते हैं – 'त्रुटिरपि विना राधां नेतुं मया न हि शक्यते'[1]

दक्षिण नायक के रूप में श्रीकृष्ण

रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में श्री कृष्ण की प्रीति राधा के अतिरिक्त चन्द्रावली आदि अन्य ब्रजांगनाओं के प्रति भी प्रदर्शित की गयी है किन्तु उनकी प्रीति–प्रगाढ़ता राधा के प्रति ही प्रमुख रूप से रहती है। श्रीकृष्ण का चन्द्रावली से भी प्रेम रहता है किन्तु वह अपनी प्रधान प्रेयसी राधा का विस्मरण नहीं कर पाते।

विदग्धमाधवम् के चतुर्थ अंक में श्रीकृष्ण चन्द्रावली से मिलते हैं। चन्द्रावली के साथ मनोविनोद करते हुये 'राधा' गो गोत्रस्खलन करके श्रीकृष्ण राधा के प्रति अपनी अनुरागातिशयता को प्रकट कर देते हैं। वह चन्द्रावली के समक्ष कहते हैं प्रिये। विपिन बीच मिलती हुई मधुररस वाली तथा शीतलस्पर्श वाली अमृतमयी राधा तुम्हारे विरह में मेरे सन्ताप को दूर करने के लिये उत्पन्न हुई है।[2]

इसी अङ्क में श्रीकृष्ण को अन्य गोपियों के साथ कामक्रीडा में संलग्न होने का संकेत पाकर राधा मान कर बैठती है। राधा श्रीकृष्ण के शरीर पर अभिसारोचित चिन्हों को देखकर स्वयं को दोष देती है। श्रीकृष्ण राधा का मानभङ्ग करते हुये कहते हैं कि तुम्हारे अधीन केवल मैं ही नहीं हूँ अपितु मेरे दशावतार भी हैं।[3]

राधा के प्रति श्रीकृष्ण का अनुरागातिशय उस समय देखा जा सकता है जब वह पुष्पों की पुटिका उसके आंचल में समर्पित करते हुये अपनी वंशी भी डाल देते हैं।[4]

सप्तम अंक में श्रीकृष्ण का दक्षिण नायकत्व और भी स्पष्ट हो जाता है। राधा के अभाव में पद्मा और शैव्या श्रीकृष्ण के मनोविनोद के लिये चन्द्रावली को प्रस्तुत करती

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, श्लोक 22
2. विपिनान्तरे मिलन्ती मधुररसा शीतलस्पर्शा
   अमृतमयी त्वद्विरहे समजनि मम तापनुत्तये राधा।
   – विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 9
3. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 41
4. वही – " , चतुर्थ अंक, श्लोक 179

इसी अंक में श्रीकृष्ण राधा के बिना एक क्षण भी व्यतीत करना असम्भव मानते हैं – 'त्रुटिरपि विना राधां नेतुं मया न हि शक्यते'[1]

दक्षिण नायक के रूप में श्रीकृष्ण

रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में श्री कृष्ण की प्रीति राधा के अतिरिक्त चन्द्रावली आदि अन्य ब्रजांगनाओं के प्रति भी प्रदर्शित की गयी है किन्तु उनकी प्रीति–प्रगाढ़ता राधा के प्रति ही प्रमुख रूप से रहती है। श्रीकृष्ण का चन्द्रावली से भी प्रेम रहता है किन्तु वह अपनी प्रधान प्रेयसी राधा का विस्मरण नहीं कर पाते।

विदग्धमाधवम् के चतुर्थ अंक में श्रीकृष्ण चन्द्रावली से मिलते हैं। चन्द्रावली के साथ मनोविनोद करते हुये 'राधा' गो गोत्रस्खलन करके श्रीकृष्ण राधा के प्रति अपनी अनुरागातिशयता को प्रकट कर देते हैं। वह चन्द्रावली के समक्ष कहते हैं प्रिये। विपिन बीच मिलती हुई मधुररस वाली तथा शीतलस्पर्श वाली अमृतमयी राधा तुम्हारे विरह में मेरे सन्ताप को दूर करने के लिये उत्पन्न हुई है।[2]

इसी अङ्क में श्रीकृष्ण को अन्य गोपियों के साथ कामक्रीडा में संलग्न होने का संकेत पाकर राधा मान कर बैठती है। राधा श्रीकृष्ण के शरीर पर अभिसारोचित चिन्हों को देखकर स्वयं को दोष देती है। श्रीकृष्ण राधा का मानभङ्ग करते हुये कहते हैं कि तुम्हारे अधीन केवल मैं ही नहीं हूँ अपितु मेरे दशावतार भी हैं।[3]

राधा के प्रति श्रीकृष्ण का अनुरागातिशय उस समय देखा जा सकता है जब वह पुष्पों की पुटिका उसके आंचल में समर्पित करते हुये अपनी वंशी भी डाल देते हैं।[4]

सप्तम अंक में श्रीकृष्ण का दक्षिण नायकत्व और भी स्पष्ट हो जाता है। राधा के अभाव में पद्मा और शैव्या श्रीकृष्ण के मनोविनोद के लिये चन्द्रावली को प्रस्तुत करती

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, श्लोक 22
2. विपिनान्तरे मिलन्ती मधुररसा शीतलस्पर्शा
   अमृतमयी त्वद्विरहे समजनि मम तापनुत्तये राधा।
   – विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 9
3. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 41
4. वही – " , चतुर्थ अंक, श्लोक 179

हैं। श्रीकृष्ण चन्द्रावली के प्रति अपना अनुराग प्रकट करते हैं किन्तु राधा के प्रति उनकी अनुरागातिशयता सदैव बनी रहती है। श्रीकृष्ण पद्मा से कहती है – 'हे दिव्य अंगों वाली पद्मे' शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं मदमाती गोपियों में अनुराग रखता हूँ, प्रतिकूल गोपियों में नहीं।[1] इस कथन से स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण का स्नेहाधिक्य राधा के प्रति ही प्रमुख रूप से रहता है।

शठ नायक के रूप में श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण का शठोचित व्यवहार विदग्धमाधवम् में देखा जा सकता है। श्रीकृष्ण राधा को अपना सर्वस्व समझते हैं किन्तु उसके अभाव में चन्द्रावली जैसी अन्य नायिका के साथ भी अभिसार करते हुये परिलक्षित होते हैं। चतुर्थ अंक में राधा के समक्ष 'चन्द्रावली' के नाम का गोत्रस्खलन श्रीकृष्ण का राधा के प्रति गूढ़ अपराध माना जा सकता है। इसी प्रकार चन्द्रावली के समक्ष 'राधा' के नाम का गोत्रस्खलन उनके शठोचित व्यवहार को द्योतित करता है। श्रीकृष्ण राधा के समक्ष चन्द्रावली तथा चन्द्रावली के समक्ष राधा का गोत्रस्खलन करके एक दूसरे के प्रति अपने प्रेम का उपहास कराते हैं। श्रीकृष्ण एक ओर तो कहते है कि राधा के बिना वह एक क्षण भी नहीं रह सकते,[2] दूसरी ओर वह चन्द्रावली के साथ भी रमण करते हुये देखे जाते हैं। इसका स्पष्ट उदाहरण सप्तम अंक में देखा जा सकता है – श्रीकृष्ण राधा के साथ अभिसार करने हेतु वृन्दावन के लवङ्ग कुंज में प्रवेश करते है। राधा के यथासमय न पहुँच पाने के कारण श्रीकृष्ण चन्द्रावली के साथ ही अभिसार करने के लिये तत्पर होते हुये कहते हैं कि चन्द्रावली का आना ही राधिका के उद्योग में बाधक हो गया है। अतः तब तक निश्छल स्वभाव वाली इसी को प्रमुदित करता हुआ मैं मनोविनोद करता हूँ। ऐसा विचार कर वह चन्द्रावली से कहते हैं – हे सखि, तुमने पद्मा की उत्सव–परम्परा को ग्रहण किया है। तुममे किसी प्रकार का दोष नहीं है। सदा

---

1. करवाणि हन्त दिव्यं दिव्याङ्गि मदोन्नतासु गोपीषु।
   अनुरागितां सखि दधे राधा गन्धिषु न वामासु।।
   – विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक 20
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, श्लोक – 22

चमकती हो कृष्णपक्ष में पूर्ण हो अतः तुम विलक्षण चन्द्रावली हो।[1]

श्रीकृष्ण को चन्द्रावली के साथ अभिसार–रत जानकर ललिता चन्द्रावली से राधा के प्रति श्रीकृष्ण की उदासीनता को व्यक्त करती हैं। श्रीकृष्ण राधा को सांत्वना दिलाने हेतु ललिता से संदेश कहते हैं – 'हे मृगकान्ते यहां हरिण तुम्हें सदा चाहता है। अतः तुम इस हरिण के हृदय को अपने में आसक्त जानो अर्थात् है कृष्णप्रिये मैं यहाँ रहते हुये भी तुम्हें सदा प्यार करता हूँ। मैं तुम पर अनुरक्त हूँ, इसमें सन्देह नहीं।[2]

सप्तम अंक में राधा और वृन्दा के परस्पर वार्तालाप के समय श्री कृष्ण की क्रीडा–कुरङ्ग की संज्ञा से अभिहित कर राधा ने उनको चन्द्रावली के इशारे पर नाचने वाला कहा है। मदारी के इशारे पर नाचने वाले उसके बन्दर को लोक में क्रीडा–कुरंग कहा जाता है।[3] यहाँ पर श्रीकृष्ण की 'शठता' मानी जा सकती है।

धृष्ट नायक के रूप में श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण को धृष्ट नायक के रूप में विदग्धमाधवम् नाटक के सप्तम अंक में देखा जा सकता है जहाँ राधा और उसकी सखियां उनके शरीर पर विद्यमान नख–चिन्ह, मयूर पंख के स्खलन, रतिखेदजन्य श्रमबिन्दु तथा अस्त–व्यस्त स्वरूप को देखकर चन्द्रावली के साथ अभिसार किये जाने का स्पष्ट सङ्केत प्राप्त कर लेती है। इसके बाद भी श्रीकृष्ण अपनी धृष्टतावश सखियों के समक्ष उपस्थित होने पर राधा की स्वाभाविक सौन्दर्य–सुषमा की प्रशंसा करते हैं तथा पुष्प गुच्छों से विभूषित करने की चाटुकारी प्रस्तुत करते हैं।[4] यह सब उनकी धृष्टता का ही लक्षण माना जा सकता है।

इस प्रकार नायक के उपर्युक्त विवेचन में रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों से समुद्घृत श्रीकृष्ण के श्रृङ्गोरोचित गुणों को पहले प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर

---

1. घृतपद्मोत्सवसंततिरलब्ध दोषीदया सदा स्फुरति।
   सखि कृष्णपक्षपूर्ण चन्द्रावलि रद्भुता त्वमसि।।
   – विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, पृ. 318, श्लोक – 11
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक – 19
3. वही – '' , सप्तम अंक, पृ. 349 हिन्दी अनुवाद
4. विदग्धमाधवम् – '' , सप्तम अंक, श्लोक 46

श्रृङ्गाररस सम्बन्धी अवस्थाओं के आधार पर धीरललित नायक के रूप में श्रीकृष्ण के अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट नायकत्व का चरित्र–चित्रण किया गया है। उक्त विवेचन रूपगोस्वामी द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों पर ही निरूपित किया गया है।

सहनायक – अभिमन्यु

रूपगोस्वामी की नाट्यकृति विदग्धमाधवम् में अभिमन्यु राधा का पति और जटिला का पुत्र कहा गया है। कंस के भय से राधा को इसके साथ पाणिग्रहीत बतलाकर उन सबको धोखा दिया गया है। राधा का अभिमन्यु के साथ विवाह वास्तविक न होकर मात्र योगमाया का विवर्त है इसका स्पष्टीकरण पौर्णमासी द्वारा नाटक के प्रारम्भ में ही करा दिया गया है। राधा का विवाहित पति होकर भी अभिमन्यु उससे कभी भी सम्पर्क नहीं कर पाता।

विदग्धमाधवम् नाटक में वह राधा और कृष्ण के पारस्परिक प्रणय–सम्बन्ध को जानकर राधा को गोकुल से मथुरा ले जाने की योजना बनाता है किन्तु भगवती पौर्णमासी की परामर्श से वह अपने निर्णय को वापस ले लेता है। वह बहुत ही मूर्ख प्रकृति का है क्योंकि जो जैसा कहता है वैसा ही करने के लिये तत्पर हो जाता है। नाटक के अन्त में वह अपने स्वाथ्य लाभ के लिये उपासना करने वाली राधा को देखकर देवी निकुंज विद्या के रूप में विराजमान श्रीकृष्ण की नित्य उपासना करने की सहमति प्रदान करता है और सदैव राधा को गोकुल में ही निवास करने की स्वीकृति देता है।[1] यह उसके अल्पबुद्धित्व का पूर्णपरिचायक माना जा सकता है।

इस प्रकार विवेच्य नाट्यकृतियों में अभिमन्यु का चरित्र अत्यन्त संक्षिप्त और केवल नाम मात्र का है। उसे प्रतिनायक के रूप में भी नहीं स्वीकार किया जा सकता। सहनायक के रूप में उसका चरित्र मान्य तो है किन्तु वह भी औचारिकता मात्र तक ही सीमित है। सहनायक के गुणों का उसमें पूर्णतया अभाव है। राधा के पति के रूप में उसकी सार्थकता केवल माया–विजम्भित ही मानी जा सकती है। राधा के पति होने का दायित्व वह किसी भी प्रकार से निर्वाह नहीं कर पाता। अतः वह सर्वथा असफल पति माना जा सकता है।

---

1. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक

नाटक के सहायक पात्र

विदूषक–मधुमङ्गल

रूपगोस्वामी की विवेच्य विदग्धमाधवम् नाटक में मधुमङ्गल विदूषक के रूप में नायक श्रीकृष्ण का अभिन्न मित्र है। वह सान्दीपनि मुनि का पुत्र और पौर्णमासी का नाती है। पूरे नाटक में वह श्रीकृष्ण के साथ आरम्भ से अवसान तक सहयोग करता है। वह विदूषक के समस्त गुणों से युक्त है। उसका नाम भी वसन्त के पर्याय रूप में ही माना जा सकता है। मधुमङ्गल जाति का ब्राह्मण है। इसका प्रमाण विवेच्य नाट्य कृतियों में देखा जा सकता है। ब्राह्मण होने के कारण वह भोजन क्रिया में सर्वदा आगे रहता है।

विदग्धमाधवम् के पंचम अंक में भौंरे से संत्रस्त राधा के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए कृष्ण उसके कर्णाभूषण में विराजमान कमल से उत्पन्न मुधमङ्गल का पान करने वाले मधुकर से उसे भयभीत न होने का आश्वासन दिलाते है। इस पर मधुमङ्गल श्री कृष्ण से कहता है –

भो वयस्य, कस्माय ब्राह्मण मां मधुपेन विपाययसि।[1]

यहां मधुमङ्गल के ब्राह्मण होने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। इसके अतिरिक्त वह अपने यज्ञोपवीत[2] और गायत्री[3] की शपथ लेता हुआ भी देखा जाता है।

विदग्धमाधवम् नाटक में वह खाने पीने में मस्त रहता है। श्रीकृष्ण जब मधुमङ्गल से वृन्दावन की शोभा देखने को कहते हैं तो वह कहता है मित्र। मैं तो चार प्रकार के अन्नों से निर्मित सभी प्रकार की इन्द्रियों को आकृष्ट करने वाली, गोकुलेश्वरी की 'रसवती' विशेष प्रकार की मिठाई को देखकर ही मस्त हो जाता हूँ।[4] राधा के प्रति उत्सुक श्रीकृष्ण से परिहास करता हुआ मधुमङ्गल 'मनोहर' नामक लड्डू का बहाना बताकर

---

1. विदग्धमाधवम् नाटक – पञ्चम अङ्क, पृ. 244 संस्कृत छाया
2. विदग्धमाधवम् नाटक – चतुर्थ अङ्क, पृ. 194
3. विदग्धमाधवम् नाटक – षष्ठ अङ्क, पृ. 299
4. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 31

मनोहरा अर्थात् सुन्दरी राधा के ऊपर उनकी आसक्ति को प्रकट करता है।[1]

मधुमङ्गल परम डरपोक भी है। श्रीकृष्ण के वेणुवादन से प्रभावित आकाशचारी देवताओं को राक्षस समझकर वह भागने का प्रयास करता है। बाद में श्रीकृष्ण द्वारा देवगणों की जानकारी हो जाने पर वह अपनी बहादुरी बताता हुआ कहता है अरे दुष्ट राक्षसों, ठहरो–ठहरो। यह मैं शाप अथवा धनुष से तुम लोगों के मस्तकों को काटता हूँ।[2] मधुमङ्गल बहुत ही हास्यकारी है। श्रीकृष्ण को मां यशोदा द्वारा 'दुहमुहा' बच्चा कहे जाने पर वह उसका परिहास करता हुआ कहता है मित्र, आप सचमुच दुहमुहें हैं इसीलिए दूध से आकृष्ट हजारों गोपियां आपके मुख का पान करती हैं।[3]

मधुमङ्गल अत्यन्त चतुर है। वह कृष्ण की राधा के प्रति आसक्ति जानकर मां यशोदा से उसकी पोलपट्टी खोलने का प्रयत्न करता है। वह गायों की शपथ लेता हुआ कहता है –

गोभ्यः शपे किमपि दूषणमस्य नास्ति
ताभिर्यदेष रभसादभिकृष्यमाणः।
कुञ्जं विशत्यधिक केलिकलोत्सुकाभिः
पीताम्बरस्त्वरितमम्ब सुहदघटाभिः।[4]

मधुमङ्गल श्रीकृष्ण को राधा के प्रति प्रेमासक्त जानकर यथासम्भव सहायता एवं सत्परामर्श प्रदान करता है। वह श्रीकृष्ण को मन्मथ लेख लिखने के लिए प्रेरित करता है। वह राधा द्वारा प्रेषित प्रणय पत्र को स्वयं पढ़कर श्रीकृष्ण को सुनाता भी है।[5]

मधुमङ्गल कलहप्रिय है। वह जटिला द्वारा कृष्ण को 'किशोरी भुजङ्ग' कहे जाने पर स्वयं उसे चिढ़ाता हुआ कहता है दधीचि की हड्डी के समान जटिले, मेरा यह

---

1. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 35
2. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 28
3. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, पृ. 23
4. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क, श्लोक–20
5. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, द्वितीय अङ्क, पृ. 72

मित्र सदैव उदार दृष्टि वाला ही है। मधुमङ्गल श्रीकृष्ण का पक्ष लेकर गोपियों से कहता है अरी भोली जिसका सम्पूर्ण शास्त्र में विशारद मेरे जैसा मंत्री है, क्या वह भी इस धर्म–मार्ग का उल्लंघन करेगा ? इसीलिए आरण्यरोदन करने से कोई लाभ नहीं।[1]

मधुमङ्गल कई प्रसङ्गों में क्रोधित हुआ भी देखा गया है। चतुर्थ अङ्क के अन्त में मुखरा द्वारा कंस का भय दिखलाये जाने पर मधुमङ्गल उसे क्रोधपूर्वक फटकारते हुए कहता है –

दुर्मुखि वृद्धे, तब कंसात्किं विभीयः, यन्मधुपुरमासन्नं कथयसि।[2]

पंञ्चम अङ्क में वह वृन्दा और ललिता के प्रति भी क्रोधपूर्ण वचन बोलता है।[3] नीच सारिका के तीखे बोलने वाले चञ्चु को तोड़ने के लिए तत्पर होता है तथा जाटिला को अपशब्द भरे वचनों से उपहास करता हुआ कहता है –

भो सरमालाङ्गुलकुटिले, गृहाणात्मनो लगुडीम्। अर्थात अरी कुतियां की पूंछ के समान टेढ़ी जटिले, अपनी छड़ी पकड़ो।

चतुर्थ अङ्क में चन्द्रावली के साथ विहार करते हुए कृष्ण उसके समक्ष 'राधा' के नाम गोत्रस्खलन करते हुए कहते है –

'हृद्भङ्गजङ्गमलता मङ्गलभा राधिका मयोन्मुदिता[4] अर्थात् हृदयरूपी भ्रमर की हिलती हुई लता और मङ्गलदायिनी क्रान्ति से युक्त राधा मुझसे आनन्दित हुई। इतना सुनकर चन्द्रावली ईर्ष्यापूर्वक मधुमंगल की ओर देखती है। मधुमङ्गल तुरन्त बात पलट कर चन्द्रावली से कहता है कि सखि चन्द्रावलि, मंगल के भार से अधिक बढ़ी हो। उक्त कथन में मधुमङ्गल ने 'मङ्गल राधिका' कृष्ण के इस वाक्यांश को 'मंगलभाराधिका' ऐसा कहकर 'कल्याण भार' से बढ़ी हुई अर्ध करके 'राधिका' इस नाम को छिपा लिया है जिससे चन्द्रावली की शङ्का का शमन होता है। यह उसकी 'वाक्पटुता' का परिचायक है।

मधुमङ्गल अपने मित्र श्रीकृष्ण का परम हितैषी है। चतुर्थ अङ्क में कृष्ण को

1. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, द्वितीय अङ्क, पृ. 77
2. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अङ्क, पृ. 196
3. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, पञ्चम अङ्क, पृ. 231, 337, 240, 250
4. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अङ्क, पृ. 166

दुखी देखकर वह सुबल से कहता है कि चाटुकार कृष्ण द्वारा मनायी जाने पर भी चन्द्रावली प्रसन्न नही हुई है जिससे निश्चय ही मित्र दुखी है। अतः दोनों के मिलन मार्ग में हम दोनों की सहायता आवश्यक है।[1]

मधुमङ्गल स्वभाव से चंचल भी है। चतुर्थ अङ्क में राधा के कथन में 'नखरचन्द्रावलि रूचिच्छटाग्रस्तम्' इस पद्यांश को सुनकर मधुमङ्गल ने क्रूर चन्द्रावली (गोपी) की सुन्दर छटा से युक्त यह अर्थ समझा और उससे राधा द्वारा चन्द्रावली के साथ श्रीकृष्ण को देखे जाने का सन्देह समझकर उसने स्पष्ट करते हुए कहना चाहा कि 'हे कल्याणि तुम्हारे मुखचन्द्र को नहीं देखकर दुखी नन्द नन्दन ने चन्द्रावली (के साथ ही अभिसार किया) इतना कहते ही कृष्ण ने उसे भ्रूमङ्गिमा द्वारा' आगे कुछ न कहने कासङ्केत किया। इस पर मधुमङ्गल ने कहा हाय, हाय मैंने ब्राह्मण के बालक के योग्य चपलता कर दी।[2] मधुमङ्गल अपनी चपलता के कारण कभी–कभी कृष्ण का उपहास भी करता है। चतुर्थ अङ्क में गोपियों द्वारा मुरली छिपा लिये जाने पर मधुमंगल कहता है कि सखे। हम लोगों का सौभाग्य है कि इन मोहिनी स्त्रियों ने भला तुम्हें नहीं छिपाया है।[3]

इस प्रकार विदग्धमाधवम् नाटक में मधुमङ्गल का चरित्र विदूषक के रूप में अत्यन्त सराहनीय माना जा सकता है। पूरे नाटक में श्रीकृष्ण के साथ उसकी महत्वपूर्ण भूमिका देखी जा सकती है। अन्य नाटकों में भी मधुमंगल का चरित्र विदूषक के रूप में अवलोकनीय है।

नर्मसखा विट–सुबल

विदग्धमाधवम् नाटक में सुबल श्रीकृष्ण का दूसरा नर्मसखा एक गोपसुत है। वह सदैव अपने मित्र श्रीकृष्ण को प्रसन्न रखने का प्रयास करता है। विट के रूप में भी उसका चरित्र सराहनीय माना जा सकता है। वह नाटक के प्रारम्भ में ही श्री दामा को राधा का भाई बतलाता हुआ कृष्ण से राधा का परिचय देता है।[4] सुबल श्रीकृष्ण के मनोविनोद के

1. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अङ्क, पृ. 162
2. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अङ्क, पृ. 183
3. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अङ्क, पृ. 192
4. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 37

लिए यथावसर अपनी हर सम्भव सहायता भी करता है। चतुर्थ अंक में चन्द्रावली के प्रति आसक्त श्रीकृष्ण को देखकर वह उन्हें मुरली की तान छेड़कर उसे आकृष्ट करने का परामर्श देता है। बाद में वह चन्द्रावली की सखी पद्मा से श्रीकृष्ण की अनुरक्ति चन्द्रावली के प्रति व्यक्त करता हुआ कहता है कि अरी! चन्द्रावली के वियोग से सन्तप्त यह मित्र शीतल जलधारा में देह को फेककर प्यासे चकोर के समान चारों ओर से इसी चन्द्रावली का दर्शन करता है।[1] यहां सुबल की अपने मित्र के प्रति सच्ची आत्मीयता मानी जा सकती है। वह श्रीकृष्ण के मनोनुकूल कार्यों का सदैव ध्यान दिलाता रहता है। केसर–कुञ्ज में अभिसार करते हुए श्रीकृष्ण को चन्द्रावली के प्रेमपाश से मुक्त कराके राधा के प्रति उनका ध्यान आकृष्ट कराता है। राधा के प्रति श्रीकृष्ण की प्रेम प्रगाढता को वह भलीभांति पहचानता है। इसीलिए वह कहता है –

वयस्य सराधिकैव तव प्रमंद करोति किमिति नो राधिकेति भणसि।[2]

पञ्चम अङ्क में सुबल श्रीकृष्ण को राधा के वियोग से विक्षुब्ध देखकर वृन्दा के सहयोग से स्वयं राधा का वेष परिवर्तन करके श्रीकृष्ण का मनोरंजन कराता है। यह उसके विट होने का प्रमाण माना जा सकता है।

सुबल अत्यन्त चतुर है। पञ्चम अङ्क में ही जटिला जब राधा के हाथ से मुरली छीन लेती है तो पौर्णमासी, वृन्दा आदि को चिन्तित देखकर सुबल एक उपाय सोचता है और जटिला से कहता है – आर्ये जटिले। देखो तुम्हारे घर में दही खाने वाली वानरी घुस रही है।[3] यह सुनकर जटिला मुरली फेंककर वानरी को मारती है। सुबल उस मुरली को उठा लेता है। मुरली पुनः सुबल को मिल जाती है। यह उसकी चतुरता का परिणाम है।

इस प्रकार विदग्धमाधवम् नाटक में सुबल को नर्मसखा और विट दोनों रूपों में देखा जा सकता है। 'वेष परिवर्तन' के कारण जहां एक ओर वह 'विट' की भूमिका का निर्वाह करता हुआ माना जा सकता है वहीं राधा के रूप को ग्रहण करने के कारण 'सखी

---

1. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, पृ. 155
2. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, पृ. 161
3. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, पृ. 213

भाव' को भी प्रदर्शित करता हुआ देखा जा सकता है।

विदग्धमाधवम् में अन्यान्य पात्र

विदग्धमाधवम् में श्री दामा भी श्रीकृष्ण का एक गोपसखा है। वह प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में ही प्रवेश करता है। जब मधुमङ्गल आकाश मार्ग में देवताओं को देखकर उनको राक्षस समझकर भयभीत हुआ भागने को तत्पर होता है तो श्रीदामा ही उसे वाचाल कहकर व्यर्थ ही बकने वाला कहता है। वह प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करता है। वह कहता है –

'वातुल, किमिति निरर्गलं प्रलपति'[1]

श्री दामा राधा का भाई है। इस बात का परिचय उस समय होता है जब श्रीकृष्ण उससे पूछते है कि श्री दामन क्या तुमने संसार में अपूर्व राधा को देखा है।

श्री दामन् लज्जा से मुस्कुराता हुआ अपना शिर झुका लेता है। उसी समय सुबल उसका परिचय देते हुये कहता है –

सखे, 'पहले देखा है' यह क्या कहते हो ? यह राधा तो इसकी बहिन है।[2] श्री दामा राधा का भाई होने के कारण श्री कृष्ण का साला भी माना जा सकता है।

रूपगोस्वामी ने श्री दामा को श्री कृष्ण के सहायक पात्र के रूप में रखकर संस्कृत नाटकों में 'शकार' की योजना का अनुकरण किया है। शकार नायक की अविवाहिता स्त्री का भाई होता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् और मृच्छकटिकम् में भी 'शकार' की योजना की गयी है। रूपगोस्वामी ने सम्भवतः उसी का पालन किया है। प्रस्तुत नाट्यकृति में श्री दामा का चरित्र मात्र इसी उद्देश्य की पूर्ति कराने वाला माना जा सकता है। चरित्र–चित्रण की दृष्टि से उसका विशेष महत्व नहीं है। प्रारम्भ में ही उसका संक्षिप्त परिचय प्राप्त होता है इसके बाद सम्पूर्ण कथावस्तु में उसकी अनुपस्थिति ही रहती है।

विदग्धमाधवम् में पुरुष–पात्रों में नन्द का भी उल्लेख अपेक्षित है। वह कृष्ण के पिता में प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में प्रवेश करते है। वृन्दावन की शोभा का वर्णन करते हुये

---

1. विदग्धमाधवम् नाटक – रूपगोस्वामी, चौ. प्रं., प्रथम अङ्क, पृ. 27
2. वि. मा. – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृष्ठ – 37

श्री कृष्ण को देखकर नन्द अपने पुत्र की सराहना करते हैं। तदनन्तर मधुमङ्गल से राधा आदि गोपियों के साथ श्री कृष्ण की व्यस्तता जानकर नन्द यशोदा से श्री कृष्ण के विवाह हेतु किसी कन्या की खोज करने का प्रसंग प्रस्तुत हैं।[1] यहीं पर नन्द का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। इसके बाद सम्पूर्ण नाटक में उनका प्रवेश नहीं हुआ। नाट्यकृति में वह कृष्ण के पालक गोपेश रूप में प्रस्तुत किये गये है।

विदग्धमाधवम् में सूत्रधार

सूत्रधार

विदग्धामाधवम् में सूत्राधार के रूप में नाटककार रूपगोस्वामी स्वयं ही प्रस्तुत हुये प्रतीत होते हैं। विदग्धमाधवम् में पारिपार्श्विक के रूप में एक नट उपस्थित होता है, वह सूत्रधार रूपगोस्वामी से कहता है – 'भाव, भवता निबद्धस्य विदग्धमाधवनाम्नोनवीननाटकस्य प्रयोगानुसारेण गृहीतभूमिकाः कुशीलवा रङ्ग प्रवेशाय तत्र भवन्तमनुज्ञापयन्ति।[2] रूपगोस्वामी सूत्रधार के रूप में ही उस पारिपार्श्विक को 'मारिष' के सम्बोधन से अभिहित करते हुये अपनी रचना की सफलता का श्रेय भगवद् भक्त एवं सहृदय सुधी लोगों को मानते है।[3]

प्रस्तुत नाट्यकृति में पारिपार्श्विक ही नट की भूमिका का निर्वाह करता है क्योंकि वह कहता है विद्वान, रंग लक्ष्मी की कुशलतापूर्ण स्तुतियों से ही सभासदों की अभ्यर्थना करते है, क्योंकि ये विद्वान् दर्शक विद्या आदि के द्वारा उन देवताओं को भी धिक्कारने का उत्साह रखते है, फिर हम नटों की क्या बात ?[4]

इस प्रकार प्रस्तुत नाटक में सूत्रधार और नट (पारिपार्श्विक) दो पृथक्–पृथक् पात्र माने जा सकते हैं।

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 22–23
2. वि. मा. – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 4
3. ममास्मिन्सन्दर्भे यदपि कविता नातिललिता

    मुदं धास्यन्त्यस्यां तदपि हरिगन्धाद्बुछाणाः

    अपः शालग्रामाप्लवनारिमोद्गार सरसाः

    सुधीः को वा कौपीरपि नमित मूर्धा न पिबति।

    – वि. मा. – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, श्लोक 5, 6, 7
4. वि. मा. – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 5

रूपगोस्वामी की नाट्यकृति विदग्धमाधवम् में नायिका विवेचन

रूपगोस्वामी की नाट्यकृति विदग्धमाधवम् में प्रधान नायिका के रूप में राधा का चरित्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह श्री कृष्ण की है तो नित्य स्वकीया कान्ता किन्तु नाट्यकृति में परकीया नायिका के रूप में इसका चरित्र अत्यन्त माधुर्यपूर्ण है। रूपगोस्वामी के मत में मधुर रस का आस्वादन परकीयाभाव में ही पूर्णरूपेण सम्भव हो सकता है अतएव उन्होंने राधा को श्री कृष्ण की परकीया नायिका के रूप में ही प्रस्तुत किया है। नाट्यकृति में राधा को अभिमन्यु नामक गोप–सुत की परिणीता माना गया है। राधा का अभिमन्यु के साथ पाणिग्रहीत होना मात्र माया का विवर्त है। योगमाया के प्रभाव से उनके वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कराके ऐसा किया गया है क्योंकि रूपगोस्वामी भाव में मधुर रस की चवर्णा का पूर्ण परिपाक नहीं स्वीकार करते। इसके लिये वह परकीया भाव को ही आवश्यक मानते हैं। राधा का अभिमन्यु के साथ विवाह पूर्णतया मायिक है इसका उल्लेख स्वयं पौर्णमासी के द्वारा नाट्यकृतियों के प्रारम्भ में प्रस्तुत किया गया है।

विदग्धमाधव के प्रारम्भ में नान्दी जब पौर्णमासी से यह निवेदन करती है कि देवि, यशोदा की धाय मुखरा ने अपनी राधा का विवाह गोकुल में जटिला के पुत्र अभिमन्यु के साथ सम्पन्न करा दिया है जो एक असमञ्जस का विषय बन गया है। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य पुरुष के साथ उस प्रकार की ललनाओं का पाणिग्रहण असहय है, तो भला तुम निश्चिन्त ही क्यों दिखायी पड़ रही हो।[1]

पौर्णमासी उसके कारण को स्पष्ट करती हुई बताती है कि योगमाया ने उसको धोखा–देने के लिये ही वैसे लोगों को विवाह आदि का झूठा ही विश्वास दिलाया है। वे सब तो कृष्ण की सदा की प्रेमिकाएं हैं।[2]

प्रस्तुत प्रसंग से जहां एक ओर राधा का श्री कृष्ण के प्रति नित्य स्वकीयात्व प्रकट होता है वहीं दूसरी ओर राधा के योगमायिक परकीयात्व की भी पूर्ण पुष्टि हो जाती है। विवेच्य नाट्यकृतियों में राधा का परकीयात्व ही प्रशंसनीय है।

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 12
2. वही – ʼʼ , प्रथम अंक, पृ. 12

परकीया नायिका के रूप में राधा अपने कुल धर्म, लोकमर्यादा और गुरूजनों की उपेक्षा करके श्री कृष्ण के प्रति अन्तरङ्ग अनुराग रखती है। वह श्री कृष्ण से मिलने के लिये अपने माता–पिता तथा सगे सम्बन्धियों की आँखें बचाकर सतत प्रयास करती है। निम्नलिखित श्लोक में इसकी पुष्टि की जा सकती है –

यस्योत्सङ्गसुखाशया शिथिलता गुर्वो गुरुभ्यस्त्रपा
प्राणेभ्यो पि सुहत्तमाः सखि तथा यूयं परिवलेशिताः।
धर्मः सो पि महान्मया न गणितः साध्वीभिरध्यासितो
धिग्धैर्य तदुपेक्षितापि यदहं जीवामि पापीयसी।।[1]

इस प्रकार विवेच्य नाट्यकृति में राधा श्री कृष्ण की नित्य स्वकीयाकान्ता होने पर भी माधुर्यरस के नियति के कारण परकीया नायिका मानी जा सकती है। रूपगोस्वामी वस्तुतः स्वकीया पक्ष के ही समर्थक लगते हैं क्योंकि उन्होंने राधा का परकीयात्व योगमाया का विवर्त माना है। अपने पूर्ववर्ती वैष्णव परम्परा की परकीयावादी प्रवृत्ति के कारण वह परकीयावाद को भी स्वीकार करते है। इसी आधार पर रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में परकीया नायिका के रूप में राधा के विविध गुणों एवं उसकी अनेक अवस्थाओं का विस्तृत विवेचन उल्लेखनीय है।

विवेच्य नाट्यकृति विदग्धमाधवम् में नायिका के रूप में राधा के गुण

रूपगोस्वामी ने जिस प्रकार नायक श्री कृष्ण के शृङ्गारोचित गुणों को मुख्य रूप से आवश्यक बतलाया है उसी प्रकार नायिका राधिका के भी 25 गुणों का उन्होंने उल्लेख किया है जिनका वर्णन नायिका–भेद के प्रसंग में किया जा चुका है। यहाँ नाट्यकृति से उनके उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

मधुरा

मधुरा का अभिप्राय है सभी अवस्थाओं में चेष्टाओं एवं अङ्गसौरभ की चारुता से युक्त होना।

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, पृ. 41

विदग्धमाधवम् के प्रथम अङ्क में राधा के मधुरा गुण को प्रकाशित करती हुई पौर्णमासी कहती है कि राधा के नेत्रों की शोभा बलपूर्वक नवीन कुवलय को न्यग्भूत कर रही है, मुख का उल्लास विकसित कमल–वन का अतिक्रमण कर रहा है। शरीर की कान्ति सुवर्ण को भी शोचनीय दशा में प्रस्तुत करा रही है। अतएव राधा का रूप सौन्दर्य कुछ विलक्षण ही दृष्टिगत हो रहा है।[1]

नववया

विदग्धमाधव में श्री कृष्ण को राधा के समीप आया हुआ देखकर जटिला राधा को अपनी बहू रूप में बताती हुई उसकी नव्यावस्था का वर्णन करती है और श्री कृष्ण को उधर चक्कर काटने के लिये मना करती है।[2]

चलापाङ्गी

विदग्धमाधवम् के द्वितीय अंक में राधा के प्रति उत्सुकता प्रदर्शित करते हुये श्री कृष्ण मधुमंगल से कहते हैं कि चंचल भ्रूलताओं के द्वारा प्रत्येक दिशा में कटाक्ष–सञ्चार से हरिणी को मानो नेत्रों के विलासभार की शिक्षा देती हुई विम्ब के समान अधरों वाली उस राधा के मेरे देखने पर क्रोध से भीषण कामदेव ने अपने पुष्प निर्मित धनुष को चढ़ा लिया है अर्थात् राधा के साक्षात्कार में ही मैं कामदेव के बाण से बिंध गया हूँ।[3]

उज्जवल स्मिता

विदग्धमाधवम् में तो राधा की स्मित कान्ति से हार भी पूर्णतया निरर्थक सिद्ध हो गया है। राधा के स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन करते हुये श्री कृष्ण कहते हैं – हे राधे, ललाट तक लटकने वाले तुम्हारे केशों ने कस्तूरिका पत्र को व्यर्थ कर दिया है, तुम्हारे

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, श्लोक 32
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 95
3. भ्रमद्भ्रवल्लीकैः प्रतिदिशमपाङ्गस्य वलनैः

   कुरङ्गीभ्यो भङ्गीभरमुपदिशन्तीमिव दृशोः।

   ततस्तां बिम्बौष्ठीं कलयति मयि क्रोध विकटो

   मनोजन्मा पौष्पं धनुरनुपमं सज्जमकरोत्।

   – वि. मा., द्वितीय अंक, श्लोक 29

दोनों नेत्रों ने कानों में संलग्न कमल युगलों को व्यर्थ कर दिया है, मुस्कान की शोभा से हार भी पर्याप्त रूप से निरर्थक ही सिद्ध हो गया है। इस प्रकार आभूषण से तुम्हें क्या प्रयोजन तुम तो अपने अंगों से ही चमक रही हो। तुम्हारा सौन्दर्य तो स्वाभाविक ही है, उसे कृत्रिम सजावट की भला क्या आवश्यकता।[1]

विदग्धमाधवम् के उक्त उदाहरण में राधा का स्वाभाविक सौन्दर्य भी देखा जा सकता है।

गन्धोन्मादित माधव

विदग्धमाधव के तृतीय अंक में 'गन्धोन्मादितमाधवा' का बड़ा ही मनोरम वर्णन दृष्टव्य है। श्री कृष्ण राधा से मुस्कुराते हुये कहते हैं – हे सुमुखि, कमलिनी रूपी तुम्हारे परम स्नेह के सुगन्ध–प्रवाह की, जो कि मुझ तक दूर से प्रवाहित होने वाला है, जब से कृष्ण रूपी मधुकर ने आनन्द से सेवा की है, तब से तुम्हारे नवीन मुख कमल के मधु को पीने की अभिलाषाओं से गुंजन करता हुआ चक्कर काटने वाला यह आक्रान्त भौंरा घूम रहा है।[2]

रम्यवाक्

जिसकी वाणी रमणीय हो उसे 'रम्यवाक्' कहा जाता है। राधा की सुमधुर वाणी को सुनने के लिये उत्सुक श्री कृष्ण विदग्धमाधव के तृतीय अंक में अन्य सखियों के साथ विद्यमान राधा से प्रेमपूर्वक कहते हैं कि – सुन्दरि। यहाँ कोयल की कूकों से मेरे कर्णद्धय बहरे से हो गये है, अतः इसी क्षण मधुर वचन के मकरन्द से इनके रोग को दूर करो। कामदेव की भीषण अग्निज्वाला के तरंगों के पात्र मेरे शरीर के अवयवों को भी निःशङ्क

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक 47
2. पद्मिन्यास्ते सुमुखि परमप्रेमसारभ्यपूरो
दूरोत्सर्पीमदवधि मुदा कृष्णभङ्गेण भेजे।
आक्रान्तोऽयं तव नवमुखाम्भोजमाध्वीकपान
प्रत्याशाभिस्तदवधि रुवन्संभ्रमी बम्भ्रमीति।।
– वि. मा., तृतीय अंक, श्लोक 50

आलिङ्गन से शीतल करों अर्थात् कोयल की कूक और मदनाग्नि की ज्वाला से मेरा अंग–अंग झुलस रहा है अतः अपने मधुर वचन और गाढ़ आलिङ्गन से इसे शीतल करो।[1]

प्रस्तुत उदाहरण में राधा के मधुर वचनों को सुनने की अभिलाषा के कारण राधा के 'रम्यवाक्' गुण को यहां पर माना जा सकता है।

पाटवान्विता

पाटवान्विता का अभिप्राय है चातुर्यशालिनी। राधा की चतुरता का सर्वोत्तम उदाहरण विदग्धमाधवम् नाटक के तृतीय अंक में देखा जा सकता है। राधा के हावभाव एवं अपने प्रति अनुकूलता पर विचार करते हुये श्री कृष्ण उसके कार्यों का वर्णन करते हैं। वह कहते है कि सखियों के साथ प्रस्थान करती हुई राधा ने अपनी मणिमाला टूट जाने का बहाना बनाकर थोड़ी ही देर सही, कृष्ण को देखने के लिये रूकना चाही और उसने सखियों से कहा कि – 'हे सखि मणिमाला टूट गयी। मुक्ताफल बिखर गये। मैं उन्हें चुन लूँ, इस प्रकार के ब्याज से मुग्धतापूर्वक घूमकर राधा ने गुरूजनों के समक्ष भी मेरे प्रति प्रेम से कटाक्षपात किया था इसे राधा की 'पाटवान्विता' कहा जा सकता है।[2]

इस प्रकार आलोच्य नाट्यकृति में रूपगोस्वामी द्वारा निरूपित नायिका (राधा) के अन्य गुणों के भी उद्धरण देखे जा सकते हैं जिनमें लज्जाशीला, सुमर्यादा, धैर्यशालिनी, गाम्भीर्यशालिनी, सुविलास महाप्रभावोत्कर्षिणी, कृष्णप्रियावली मुख्या, सखीप्रणनयाधीना इत्यादि अनेक गुण अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जा सकते है। विस्तारमय से सबके उद्धरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं अतः यहाँ कुछ ही उदाहरण प्रस्तुत किये गये है।

विवेच्य नाट्यकृति में राधिका के उपर्युक्त गुणों के उद्धरण प्रस्तुत करने के पश्चात् यह निर्णय करना आवश्यक है कि राधा को मुग्धादि भेदों में किस कोटि की

---

1. वि. मा. ना. – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, श्लोक 40
2. छिन्नः प्रियो मणिसरः सखिमौक्तिकानि
   वृत्तान्यहं विचिमुयामिति केतवेन।
   मुग्धं विवृत्य मयि हन्त दृगन्तभङ्गी
   राधा गुरोरपि पुरः प्रणयाद् व्यतानीत्।।
   – वि. मा. ना., तृतीय अंक, श्लोक 3

नायिका माना जाये। रूपगोस्वामी के मत में रसोत्कर्ष की दृष्टि से मध्यानायिका उपयुक्त कही गयी है क्योंकि उसमें मुग्धा और प्रगल्भा दोनों प्रकार की नायिकाओं के गुण विद्यमान होते हैं।[1] इस मान्यता के आधार पर राधा को मध्या नायिका मानना चाहिये किन्तु नाट्यकृतियों में राधा को पूर्णतया मध्या नायिका मान लेना उचित नहीं लगता क्योंकि मुग्धा के रूप में उसका चरित्र अत्यन्त प्रभावोत्पादक है।

विदग्धमाधव में मुग्धा नायिका के लक्षणानुसार राधा को वय एवं काम की दृष्टि से नवीन माना जा सकता है क्योंकि नान्दीमुखी श्री कृष्ण के प्रति उसकी आसक्ति को जानकर कहती है – हे मुग्ध, तुम्हारी बुद्धि चतुराहं की गुरुता से परिचित नहीं है। अभी भी तुम्हारे शरीर में बाल्यावस्था का अन्त नहीं हुआ है अर्थात् अभी तुममें बचपना है फिर भी किसी आन्तरिक पीड़ा को प्रकट कर रही हो। अथवा हे सखि! मैं जान गयी कि यह वृन्दावन के कामदेव श्री कृष्ण का ही पराक्रम है।[2]

नान्दीमुखी के उक्त कथन से जहां एक ओर राधा की मुग्धता प्रकट होती है वहीं दूसरी ओर उसमें श्री कृष्ण के प्रति होने वाली आसक्ति से काम–भावना का भी प्रकाशन होता है। इतना ही नहीं राधा के कथन से उसकी कामोत्तेजना और भी स्पष्ट हो जाती है। जैसे – प्रथम अंक में श्री कृष्ण के चित्र–दर्शन से अभिभूत हुई राधा अपनी मनोदशा को व्यक्त करती हुई कहती है कि किञ्चित् विकसित नीलकमल दल की कान्ति के समान सुन्दर उसके हस्तकमल के सघन स्पर्श के कुतूहल से उत्पन्न संवेगों के समूह का वहन करती हुई मैं यहां उस समय यह नहीं जान सकी कि मैं कहां हूँ, कौन हूं अथवा मैंने क्या किया है।[3] राधा अपने कामोद्रेक की विवशता प्रकट करती हुई आगे कहती है कि मेरे चिल्लाने पर वह श्री कृष्ण करपल्लव से मुंह बन्द कर देता है। भयभीत होकर मेरे भागने पर बांह फैलाकर आगे का मार्ग रोक देता है। क्रोध से दांतो तले ओष्ठ दबाने पर

---

1. सर्व एव रसोत्कर्षों मध्यायामेव युज्यते।
   यद्रस्यां वर्तते व्यक्ता मौग्ध्यप्रागल्भ्ययोर्युति।।
   – उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी, का. 40, पृ. 122
2. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 11
3. वही – ″ , द्वितीय अंक, श्लोक 6

बार–बार चरण पर लोटने लगता है। अतः हे क्रुद्ध माता, मोर मुकुटधारी श्री कृष्ण से मैं अपने आपको अब कैसे बचाऊं।[1]

राधा के उक्त कथनों से विदग्धमाधव में उसे मध्या नायिका के रूप में स्वीकार करना अधिक समीचीन लगता है। रूपगोस्वामी भी इसे उपयुक्त मानते हैं क्योंकि रसोत्कर्ष ही उनका प्रमुख प्रतिपाद्य है। अप्राकृत नायक नायिका के सन्दर्भ में वह दोष को भी निर्दोष मानते है। राधा श्री कृष्ण की परमह्लादिनी महाभाव स्वरूपाशक्ति है अतः उनमें यथावसर जिस भाव की अपेक्षा हो उसके अनुकूल ही उन्हें स्वीकार कर लेना अनुचित न होगा। जैसे–श्री कृष्ण के शठोचित व्यवहारादि अनुचित नहीं माने जाते वैसे राधा के मध्या तथा प्रगल्भोचित व्यवहार भी अनुचित नहीं कहे जा सकते। इसी आधार पर राधा को मध्या नायिका के रूप में प्रस्तुत कर विवेच्य नाट्यकृतियों में उसके विविध रूपों के उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

समानमदनालज्जा

राधा श्री कृष्ण के प्रति आसक्त हुई एक ओर अपनी लज्जा का निर्वाह करना चाहती है दूसरी ओर वह श्री कृष्ण का परित्याग करने में भी अक्षम है। ऐसी स्थिति में वह विचार करती हुई कहती है कि कुलीन युवतियों द्वारा आचरण में लाई हुई कल्याण रूपा उस धर्म–शैली का अविनयपूर्वक सहसा हम लोग कैसे उल्लंघन करें ? इतना कहकर वह पुनः उत्साहपूर्वक कहती है अरे, या तो नेत्र की भंगिमा के प्रकाश को प्रकट करने की कला में निपुण गोकुल की अङ्गनाओं में चतुरशिरोमणि यह कृष्ण कैसे छोड़ा जा सकता है अर्थात् कृष्ण का परित्याग नहीं किया जा सकता।[2]

यहां पर राधा की लाज और काम का एक समान प्रभाव दृष्टिगत होता है।

किञ्चित्प्रगल्भोक्ति

राधा के प्रगल्भोचित वचनों का सुन्दर उदाहरण विदग्धमाधव के छठें अंक में देखा जा सकता है। राधा श्री कृष्ण के पीताम्बर को अपने ऊपर देखकर, उनसे दूर हटना

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 21
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 14

चाहती हुई भी नहीं हट सकती थी अतः उसने श्री कृष्ण से कहा कि हे माधव, मैं प्रतिव्रताओं में अग्रगण्य हूं अर्थात् सुन्दरियों में सर्वश्रेष्ठ हूं, ललिता के साथ ही गौरवान्वित हूं अर्थात् सुन्दर प्रेमासक्ति से आपूर्ण हूं। अतः मार्ग में कामुकता न दिखाओ अर्थात् मुझे अपने बाहुपाश में बांध लो।[1]

यहां राधा के उक्त कथन में दो अर्थों का समावेश है पक्ष में उसका यही अभिप्राय है कि श्री कृष्ण उसका आलिङ्गन करें। इस प्रकार की प्रगल्भोक्ति से राधा को मध्या नायिका ही माना जा सकता है।

मोहान्तसुरतक्षमा

विदग्धमाधव में राधा–कृष्ण की पारस्परिक रतिक्रीड़ा का वर्णन करती हुई वृन्दा और ललिता तज्जन्य संकेतों से आनन्द प्राप्त करती हैं। ललिता पुष्प–शय्या को दिखाती हुई वृन्दा से कहती है – 'कृष्ण के अंगों के सम्पर्क से मिश्रित कुंकुम के अङ्गराग से युक्त, राधा के चरणों से गिरे हुये आलता से पार्श्ववाली तथा सिन्दूर–बिन्दु से सने हुये पसीने से भीगी हुई पीड़ाग्रस्त (मर्दित) पुष्प–शय्या मेरे नेत्रों को आनन्द पहुंचा रही है।[2]

इसी प्रसंग में ललिता रतिक्रीडा में राधा की अभिरूचि का अनुमान करती हुई कहती है कि प्रतिकूलता को बढाती हुई सी राधा दन्त और नखच्छेद से आकुल होकर केलि क्रिया में कुशल हो गयी है अतः कृष्ण अत्यधिक सन्तुष्ट हुये लगते हैं।[3] ललिता का अभिप्राय यह है कि राधा ने केलि–क्रीडा में पर्याप्त अभिरूचि लेकर कृष्ण को सन्तुष्ट कर दिया है।

मान कोमला

विदग्धमाधवम् में राधा श्री कृष्ण के मनोहर अंगों पर रात्रि के विलासजन्य चिन्हों को देखकर दुख प्रकट करती हुई कहती हैं, 'हा धिक् हा धिक् सुष्ठु विडम्बितास्मि'

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, षष्ठम अंक, श्लोक 20
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक 43
3. प्रातिकूल्यमिव यद्विवृण्वती राधिका रदनखार्पणोद्धुरा।
   केलिकर्मणि गता प्रगल्भतां ते तुष्टिमतुलां हरिर्ययोः।।
   – विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक 39

अर्थात् हाय, हाय। मैं खूब धोखा खा चुकी हूं। इस प्रकार दुख प्रकट करती हुई राधा वक्रोक्तिपूर्ण वचनों से मान प्रदर्शन करती हुई कहती है कि निनिमेष दृष्टि से मेरे मार्ग को देखते हुये तुम्हारे दोनों नेत्र केसर की धूलि के गिरने से लाल हो गये हैं और जंगल की ठंडी हवाओं के बिम्ब के समान लाल अधर पर घाव लग गयी है। हे देव, संकोच को छोड़ दो। अभागिन मैं तुमको दोष नहीं दे रही हूं यह तो मेरे भाग्य का ही दोष है तुम्हारा नहीं।[1]

प्रस्तुत प्रसंग में राधा श्री कृष्ण पर व्यंग्यपूर्वक कहना चाहती है कि रात में अन्य गोपियों के साथ काम क्रीडा में जागरण करने के कारण ही तुम्हारे नेत्र लाल हुये हैं और गोपियों के अनवरत चुम्बन की चोट से तुम्हारे अधर छिल गये है। इस प्रकार की व्यंग्योक्ति से राधा अपने स्वभाव की कोमलता के कारण श्री कृष्ण को दोष न देकर अपने भाग्य को ही दोष देती है। मान प्रदर्शन की दृष्टि से प्रेमिका द्वारा प्रियतम को दोष न देकर अपने आपको दोष देना प्रणय—व्यापार के क्षेत्र में एक विलक्षण परम्परा मानी जाती है।

मान कर्कशा

विदग्धमाधव नाटक के पंचम अंक में राधा की कर्कशता का वर्णन करती हुई वृन्दा कहती है, अरी कठोर राधे, मान को बढ़ाकर अपने अंगों को व्यर्थ क्यों कष्ट दे रही हो ? अथवा प्रियजन श्री कृष्ण के प्रणय—प्रार्थना करने पर क्रोध क्यों करती हो ? तुम्हारे कुञ्जभवन का स्वामी कृष्ण सामने अत्यन्त दुखी हो रहा है अतः क्षण भर के लिये यहां दया की शोभा से युक्त कटाक्ष को चंचल करो अर्थात् अपने विरह में दुखी कृष्ण पर कृपा—दृष्टि का विक्षेप करो।[2]

उक्त कथन में राधा के मान की कठोरता व्यक्त की गयी है।

---

1. विदग्धमाधवम् — रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 40
2. मुधा मानोन्नाहाद् ग्लपयसि किमङ्गालि कठिने
   रुषं धत्से किं वा प्रियपरिजनाभ्यर्धनविधो।
   प्रकामं ते कुञ्जालयगृहपतिस्ताम्यति पुरः
   कृपालक्ष्मी वन्तं चटुलय दृगन्तं क्षणमिह।।
   — वि. मा., पंचम अंक, श्लोक 30

मान की दृष्टि से राधा में धीर–अधीर और धीराधीर के लक्षण भी दृष्टिगत होते हैं जो इस प्रकार हैं।

धीर मध्या के रूप में राधा का चरित्र चतुर्थ अंक में ही देखा जा सकता है जहां वह मान में कोमल स्वभाव वाली है। इसका उदाहरण ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है।

अधीर मध्या के रूप में राधा का चरित्र सप्तम अंक में देखा जा सकता है जहां राधिका श्री कृष्ण के मुख से 'चन्द्रानने' यह सम्बोधन सुनकर क्रोध से तमतमा उठती है और दूर हटती हुई वृन्दा से कहती है, 'वृन्दे' में बहुत धोखा खा चुकी हूँ। अतएव छलपरंपरा से युक्त नाटक के सूत्रधार, संसार में कामदेव को प्रोत्साहन देने वाली मुरली को शिक्षा देने में निःशङ्क अर्थात पाप के भय से रहित और करालिका की नतिनी चन्द्रावली के वश में रहकर बन्दर की तरह नाचने वाले इस क्रीडाकुरङ्क श्री कृष्ण को मना करो।[1]

यहां राधा क्रोधावेश में श्री कृष्ण को 'क्रीडाकुरङ्क' कहकर उन्हें उपेक्षित करती हुई सी प्रतीत होती है। यह उसके अधीर मध्या नायिका होने का ही प्रभाव माना जा सकता है।

धीराधीर मध्या नायिका के रूप में राधा का चरित्र विदग्धमाधव के पंचम अंक में देखा जा सकता है। राधा–कृष्ण को मायावियों को भी मोहक कहकर खूब फफक–फफक कर रोती हैं जिससे ललिता सान्त्वना देती हुई कहती है कि सखि मैंने कहा था कि इस कृष्ण में अनुराग करने के इच्छुक मनुष्य की अश्रुधारा रूकती नहीं है, यह जानकर लोभ से नन्द नन्दन श्री कृष्ण में मन मत लगाओ, इस प्रकार मेरे कहने पर भी है चंचले तुमने अपनी दोनों भौहों को टेढ़ी करके मेरे वचनों को महत्व नहीं दिया था, तो आज भला क्यों नहीं रोओगी। मेरी बात न मानने का ही फल है जो तुम आज रो रही हो।[2]

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक 349
2. धारा वाष्पमयी न याति विरतिं लोकस्य निर्मित्सतः
   प्रेमास्मिन्निति नन्दनन्दनरतं लोभान्मनो मा कथा।
   इत्थं भूरि निवारितापि तरले मद्वाचि साचीकृत –
   भ्रूद्वन्दा नहि गौरवं त्वमकरोः किं नाथ रोदिष्यति।
   – वि. मा., पंचम अंक, श्लोक 32, पृ. 235

श्री कृष्ण राधा के अश्रुकणों को अपने करकमल से पोंछते हैं जिस पर राधा उनसे कहती है कि भोले–भाले व्यक्ति के प्रति टेढा व्यवहार करते हुये तुम्हें लज्जा क्यों नहीं आती ?

उक्त उदाहरण में राधा के विरह–विलाप करने के कारण उसे धीराधीर मध्या नायिका के रूप में भी देखा जा सकता है।

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि राधा का चरित्र मध्यानायिका के रूप में ही अधिक स्वीकार्य है। उसमें मध्या नायिका की विविध विशेषताओं का विन्यास सर्वथा समुचित ही माना जा सकता है।

विदग्धमाधवम् में नायिका की अनेक अवस्थाएं

अभिसारिका

रूपगोस्वामी ने अन्धकार में अभिसार करने वाली नायिका को तामस अभिसारिका कहा है। विदग्धमाधव में राधा केसर कुंज में श्री कृष्ण से मिलने के लिये सुसज्जित होकर जाती है और वह अन्धकार के अनुरूप श्यामल वेष भी धारण करती है इसका स्पष्ट उल्लेख चतुर्थ अङ्क में देखा जा सकता है। ललिता राधा से पूंछती है कि अन्धकार में अभिसार के उपयुक्त श्यामल प्रसाधनों से क्या तुमने अपने को सुसज्जित कर लिया है ? राधा इसका सकारात्मक उत्तर देती हुई कहती है – और क्या। ललिता राधा की ओर देखकर मुस्कुराती हुई उसके प्रसाधन का वर्णन करती है, जो अन्धकार के अनुरूप होने के कारण उसके 'तामसी अभिसारिका' होने का प्रमाण प्रस्तुत करती है। ललिता कहती है कि राधा ने रोमराजि के ऊपर नीलरत्न से निर्मित हार को आरोपित कर लिया है, कुच कलशों पर कुवलय समूह से बने गर्भग का विन्यास किया है, अंग में अञ्जन और नेत्रों में कस्तूरी को लगाया है। इस प्रकार कंसारि–कृष्ण से मिलने की अर्थात् अभिसार करने की हड़बड़ी

---

1. धम्मिल्लोपरि नीलरत्नरचितो हारस्त्वया रोपितो
   विन्यस्तः कुचकुम्भयोः कुवलयश्रेणीकृतो गर्भगः।
   अङ्गे कल्पितमञ्जनं विनिहता कस्तूरिका नेत्रयोः
   कंसारे रभिसार संभ्रमभरान्मन्ये जगद्विस्मृतम्।।
   – वि. मा. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 21, पृ. 169

में उसने संसार को ही भुला दिया है, ऐसा मैं समझती हूँ।[1] ललिता के इस वर्णन से राधा को तामसी अर्थात् कृष्णाभिसारिका माना जा सकता है।

वासकसज्जा

उपर्युक्त उद्धरणों से जहां एक ओर राधा के कृष्णाभिसारिका होने का प्रमाण प्रस्तुत होता है वहीं उसके वासकसज्जा होने का भी प्रमाण माना जा सकता है क्योंकि वह प्रिय से मिलने के लिये प्रसाधनों से विभूषित होती है। आगे इसी प्रसंग में उसकी चेष्टाएं भी देखी जा सकती हैं। राधा ललिता से कहती है कि केसर का कुञ्ज समीप में है और कृष्ण का सौरभ दूर से नाक को सुवासित कर रहा है।[1] यह कुञ्ज उनके नखों के कान्तिसमूह से प्रकाशित नहीं हो रहा है। अतः हे सखि, मैं समझती हूँ कि तुम्हारा मित्र किसी एकान्त लताकुञ्ज में परिहास की इच्छा से छिप गया है।

राधा के उक्त कथन से 'वर्त्मवीक्षण' जैसी चेष्टा का भी उदाहरण माना जा सकता है।

राधा की 'स्मरक्रीडा' नामक चेष्टा का भी उदाहरण इसी प्रसंग में द्रष्टव्य है। राधा ललिता से कहती है कि कमललोचने, केसर के फूलों से वञ्चित केलिकुञ्ज में वन्दनवार की रचना करो। कमल के पुष्पों से सुन्दर शय्या निर्मित करो, और शय्या के समीप समुचित रूप से सुरापात्र ले आओ जिससे हे सहचरि आज कृष्ण तुम्हारी कुशलता की प्रशंसा करें।[2]

यहीं राधा की 'संकल्प' जैसी चेष्टा भी देखी जा सकती है जब वह यह कहती है कि अन्धकारपूर्ण रात्रि का प्रहर बीत रहा है फिर भी कुञ्ज–गृह में कृष्ण का आगमन नहीं हुआ, लगता है वह कृष्ण अपनी प्रिय सखी चन्द्रावली की हितसाधना में संलग्न पद्मा

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, श्लोक 21 च. अं.
2. रचय बकुलपुष्पैस्तोरणं केलिकुञ्जे
   कुरु वरमरविन्दैस्तल्पमिन्दी वराक्षि।
   उपनय शयनान्तं साधु माध्वीक पात्रीं
   सहचरि हरिरद्य श्लाधतां कौशलं ते।
   – वि. मा. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 24

द्वारा मार्ग में कहीं रोक लिया गया है। इस प्रकार की कल्पना का होना राधा के 'वासकसज्जा' होने में 'संकल्प' नामक चेष्टा को प्रमाणित करता है।[1]

उपर्युक्त उदाहरणों में राधा के अभिसारिका होने तथा वासकसज्जा होने की अवस्थाओं का प्रमाण प्रस्तुत किया गया है। ललिता राधा को अभिसार करने के लिये प्रेरित करती है इसलिये उसे अभिसारयित्री भी कहा जा सकता है।

विदग्धमाधव में श्री कृष्ण राधा के साथ वासन्तिक छटा–समूह से सुशोभित मण्डलयुक्त चन्द्रमा की चन्द्रिका पंक्ति से युक्त कुञ्ज की शालिका अर्थात् चौबारे में प्रस्थान करते हैं।[2] इस कथन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राधा श्री कृष्ण के साथ चांदनी रात में भी अभिसार करती थी जिससे उन्हें ज्योत्सना में अभिसार करने वाली अर्थात् शुक्लाभिसारिका भी माना जा सकता है। राधा के मुख की कान्ति से चन्द्रमा, कुमुद और नक्षत्रों की भी शोभा तिरस्कृत हो जाती है।[3] जिससे राधिका शुक्लाभिसार के योग्य शोभित होने वाली मानी जा सकती है।

विरहोत्कण्ठिता

विदग्धमाधव में राधा विरहोत्कण्ठिता नायिका के रूप में भी देखी जा सकती है। चतुर्थ अंक में अभिसार के लिये केलि–कुञ्ज में कृष्ण की प्रतीक्षा में राधा उनके विलम्ब करने पर विरहोत्कण्ठित होकर विविध प्रकार के तर्क–वितर्क करती है। वह कहती है कि चन्द्रावली जैसी सखी की हित साधना में संलग्न पद्मा ने कृष्ण को मार्ग में ही कहीं रोक लिया है क्योंकि यह कृष्ण अन्धकारपूर्ण रात्रि के प्रहर बीत जाने पर भी कुञ्ज–गृह में नहीं आया है। हा ! कष्ट है, अभिसारलोलुप रमणी जाति का शत्रु यह चन्द्रमा इन्द्रप्रिया पूर्व दिशा को ठीक से तृप्त करता हुआ उदित हो रहा है।[4]

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 25
2. वि. मा. – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, श्लोक 147
3. वि. मा. – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, पृ. 121, श्लोक 26
4. रुद्धः क्वापि सखीहितार्थपरया शङ्के हरिः पदमया
   प्राप्तः कुञ्जगृहं यदेष न तमीयामेऽप्यतिक्रामति।
   पोलोमीरतिबन्धुदिङ् मुखमसौ हा हन्त संतपय
   न्नुन्मीलत्य भिसारलव्धरमणी गोत्रस्य शत्रुः शशी।।
   – वि. मा., चतुर्थ अंक, श्लोक 25

यहाँ राधा सङ्केत स्थल में कृष्ण के ठीक समय पर न आने से अनेक प्रकार की शङ्काएं कर रही है।

खण्डिता

राधा की खण्डितावस्था विदग्धमाधवम् में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। कृष्ण को दूसरी नायिका के साथ रात्रि–यापन करने का अनुमान करती हुई राधा कृष्ण पर व्यङ्ग्य करती है –

मुक्तान्तर्निमिषं मदीयपदवीमालोक मानस्य ते

जाने केसररेणुभिनिपतितैः शोणीकृते लोचने।

शीतैः काननवायु भिविरेचितो बिम्बाघरे च व्रणः

संकोचं त्यज देव देवहतया न त्वं मया दूष्यसे।।[1]

विप्रलब्धा

राधा की विप्रलब्धावस्था विदग्धमाधव में देखी जा सकती है। श्री कृष्ण राधा को भौरें से संत्रस्त हुई देखकर कहीं छिप जाते हैं। इस पर राधा कृष्ण को सामने न देखकर बेचैन होती हुई कहती है – 'क्या वन की आग से डरी हुई गौओं का आर्तनाद उत्पन्न हुआ अथवा क्या मुझसे कोई अपराध हुआ या उसने मेरी निरङ्कुशता देखी है। अथवा क्या किसी गोपी ने उसे एकान्त में बुलाया है, जिससे इस वन में सहसा कमलनयन कृष्ण ने मुझे त्याग दिया है।[2]

यहाँ राधा श्री कृष्ण की अनुपस्थिति से अपूर्ण कम होने के कारण चिन्ता, खेद शङ्का इत्यादि मनोविकारों को प्रकट करती है। इसे राधा की विप्रलब्धा व्यथा ही माना जा सकता है।

कलहान्तरिता

राधा की कलहान्तरितावस्था का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण विदग्धमाधव में देखा

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 40
2. वि. मा. – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, श्लोक 46

जा सकता है जहाँ राधा पश्चाताप करती हुई कहती है कि मैंने कृष्ण के कान के पास प्रिय वचन का विन्यास नहीं किया। चमेली की माला को दूर फेंक दिया। सदैव हितैषिणी सखियों पर क्रोध किया और पृथ्वी पर मोर–मुकुट का स्पर्श कर प्रार्थना करते हुये इस कृष्ण को आंख उठाकर भी नहीं देखा। अतः आज मेरा हृदय खदिर के उस अंगार से अत्यधिक जल रहा है। जब कृष्ण मुझे मना रहा था तो मैंने उसकी अवहेलना की किन्तु आज अपनी उसी भूल पर पश्चाताप कर रही हूँ तथा उसके विरह में विक्षुब्ध हो रही हूँ।[1]

उक्त उदाहरण में राधा की कलहान्तरितावस्था पूर्णतया स्पष्ट है।

सहनायिका–चन्द्रावली

रूपगोस्वामी के नाटकों में चन्द्रावली श्री कृष्ण की एक अन्य प्रेयसी है। वह गोवर्द्धनमल्ल नाम के एक गोप की परिणीता पत्नी है जो योगमाया के प्रभाव से पाणिग्रहीत प्रदर्शित की गयी है। उसे सहनायिका के रूप में माना जा सकता है। वह प्रधान नायिका राधा के समान ही अनेक गुणों से युक्त मानी जा सकती है। उसके सौन्दर्य का वर्णन करते हुये श्री कृष्ण कहते है कि प्रिये तुम्हारा मुख–बिम्ब चन्द्र है, नख चन्द्र है, दोनों कुण्डल चन्द्र है, तुम्हारा ललाट भी नूतन चन्द्र है, अतः तुम सचमुच चन्द्रावली अर्थात् चन्द्रों की पंक्ति हो।[2]

विदग्धमाधव नाटक में चन्द्रावली का प्रवेश केवल चतुर्थ और सप्तम अंक में होता है। श्री कृष्ण का दर्शन प्राप्त करने के लिये उत्सुक चन्द्रावली मुरली की तान सुनकर उसे उपालम्भ देती है और श्री कृष्ण की अपने प्रति उदासीनता देखकर वह उनके प्रति भी उलाहना प्रकट करती है। चन्द्रावली कृष्ण के प्रति पूर्ण रूप से प्रेमासक्त है। कृष्ण के मुख से 'राधा' के नाम का गोत्रस्खल सुनकर वह भी मान कर बैठती है। कृष्ण उसका मानमर्दन

---

1. कर्णान्ते न कृता प्रियोक्तिरचना क्षिप्तं मया दूरतो
   मल्लीदाम निकामपथ्यवचसे सख्यै रुषः कल्पिताः।
   क्षोणीलग्न शिखण्डशेखरमसौ नाभ्यर्थयन्नीक्षितः
   स्वान्तं हन्त ममाद्य तेन खदिराङ्गारेण दंदह्यते।।
   — वि. म., पं. अं., श्लोक 6
2. वि. मा. ना. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 8

करने के लिये अनुनय विनय भी करते हैं। चन्द्रावली स्वभावतः धीरा है। वह श्री कृष्ण के अनुनय करने पर शीघ्र ही अनुकूल भी हो जाती है। श्री कृष्ण उसके दुर्बोध स्वभाव की प्रशंसा करते हुये सुबल से कहते हैं मित्र चन्द्रावली के नेत्र के कोने में सरलता की किसी निष्ठा ने प्रवेश किया है। वचन में विनय युक्त प्रशंसा की भङ्गिमा ने निवास किया है। इससे मेरे हृदय में घबराहट उत्पन्न हुई है। उसके हृदय में अनुकूलता ने ही क्रोध को अच्छी तरह से दूर कर दिया है।[1] श्री कृष्ण चन्द्रावली की क्रोधपूर्ण उक्ति में भी मधु जैसा मीठापन महसूस करते हैं, और अपने प्रति की गई भर्त्सना को भी श्रेयस्कर समझाते हैं।[2]

सप्तम अङ्क में श्री कृष्ण राधा के अभाव में चन्द्रावली के साथ ही मनोविनोद करते हैं। वह उसके शरीर पर प्रगल्भोचित विकार देखते हैं। चन्द्रावली एक भोली–भाली नायिका के रूप में देखी जाती है। वह प्रणय–व्यापार की कलाओं में पूर्ण रूप से निष्णात नहीं है। वह कृष्ण के प्रति आसक्त तो अवश्य है किन्तु उनमें न विरह की तीव्र अनुभूति है और न मिलने की पूर्ण आकाङ्क्षा। वह बड़ी सहजता से श्री कृष्ण का समागम प्राप्त करती है।

श्री कृष्ण उसके साथ प्रतिकूल नायिका के रूप में भी अपना प्रेम प्रदर्शित करते हुये देखे जा सकते है। राधा के प्रति अपने प्रेमाधिक्य को प्रकाशित करते हुये वह पद्मा से कहते हैं – हे दिव्य अङ्गों वाली पद्मे मैं शपथ लेकर कहता हूँ, कि मैं मदमाती गोपियों में स्नेह रखता हूँ प्रतिकूल गोपियों में नहीं।[3] यहाँ प्रतिकूल गोपियों का अभिप्राय चन्द्रावली से ही माना जा सकता है। चन्द्रावली प्रतिकूल होकर भी राधा–कृष्ण के प्रणय प्रसङ्ग में बाधक नहीं है क्योंकि श्री कृष्ण स्वयं राधा को आश्वस्त कराते हुये कहते हैं कि सुकुमारि तुम पलाश–कलिका में कामदेव की क्रूर अर्ध चन्द्रावली की प्रतीति से असमय में क्यों दुखी हो रही हो ? तुम्हारी मुख शोभा से विक्षुब्ध अब पूर्ण चन्द्रावली भी यहाँ भयभीत हो रही है तो प्रणय के प्रारम्भ में अर्ध चन्द्रावली तुम्हारा क्या कर सकती है अर्थात् कुछ भी नहीं।[4]

---

1. वि. मा. ना. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 13
2. वि. मा. ना. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 156
3. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक 20
4. वही – '' , सप्तम अंक, श्लोक 20

इससे राधा के प्रति उसकी अनुकूलता प्रकट होती है।

चन्द्रावली की प्रेमासक्ति कृष्ण के प्रति जानकर उसकी सास कराला उसके पति गोवर्द्धनमल्ल के पास पहुँचाने का प्रबन्ध करती है। कराला पद्मा को आदेश देती है कि पद्मे, चन्द्रावली को शीघ्र ही गोवर्द्धन के पास ले आओ।[1] पद्मा कृष्ण को चन्द्रावली के प्रति हाथ बढ़ाने से सावधान करती हुई कहती है –

सूरानुरक्तहृदया इयं पद्मिनी प्रसारित मोदा।

इह न त्वंक्षणरागस्ताराधीश क्षिप करम्।।[2]

प्रस्तुत श्लोक में कमलिनी, सूर्य और चन्द्रमा के ब्याज से श्री कृष्ण को यह बताया गया है कि चन्द्रावली गोवर्द्धन मल्ल की विवाहिता पत्नी है। इसने आनन्द को समृद्ध कर लिया है अतः एक क्षण अपने प्रेम को प्रदर्शित करके चन्द्रावली के प्रति हाथ बढ़ाना उचित नहीं है।

इस प्रकार विदग्धमाधव नाटक में चन्द्रावली का चरित्र प्रतिनायिका के रूप में प्रस्तुत तो किया गया है किन्तु उसका सफल निर्वाह नहीं हो पाया है। उसमें प्रतिनायिका के लिये अपेक्षित गुणों का सर्वथा अभाव है। वह सहनायिका के रूप में ही अधिक उपयुक्त मानी जा सकती है। राधा–कृष्ण के परस्पर प्रणय–विस्तार में उसकी उपयोगिता अत्यन्त स्पृहणीय है।

चन्द्रावली को राधा की ही भांति धीरा मध्या नायिका माना जा सकता है क्योंकि वह भी मान करने पर कोमल एवं कठोर स्वभाव वाली रहती है। इसका उदाहरण पीछे प्रस्तुत किया जा चुका है। चन्द्रावली में प्रगल्भोचित काम–जन्य संकेत भी देखे जा सकते हैं। जैसे विदग्धमाधव के सप्तम अंक में चन्द्रावली की बनावटी विमुखता देखकर कृष्ण कहते हैं – हे कृशाङ्गि, मुझे सामने पाकर तुम्हारी रोमराजि उठ खड़ी हुई है, दोनों नेत्रों ने बहते हुये अश्रुप्रवाह से स्नेहपूर्वक पाद्यविधि की क्रिया पूरी की है। वक्षस्थल ने, जहाँ से वस्त्र स्खलित हो गये हैं, दिव्य आसन का संकेत किया है। इस प्रकार पहले विपरीत

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, पृ. 312
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक 14 (संस्कृत छाया)

आचरण करने वाली तुम्हारी अनुकूलता इस समय सौभाग्य से मेरे प्रति अनुचर बन गयी है।[1]

चन्द्रावली 'अभिसारिका' के रूप में भी परिलक्षित होती है। विदग्धमाधव में वह पद्मा आदि सखियों द्वारा छलपूर्वक कृष्ण के साथ अभिसार करने के लिये पहुँचायी जाती है। कृष्ण राधा के अभनव में चन्द्रावली के साथ मनोविनोद करते हैं। यहाँ चन्द्रावली को कृष्णाभिसारिका रूप में ही प्रदर्शित किया गया है।[2]

चन्द्रावली की वासकसज्जावस्था का उदाहरण भी प्रस्तुत किया जा सकता है। विदग्धमाधव नाटक में पद्मा अपनी व्यस्तता बताती हुई ललिता से कहती है कि चन्द्रावली को कृष्ण से संयोग कराने के लिये अनेक बार वेषविन्यास करना पड़ता है जिसमें माला गूंथना, केश संवारना बिम्बफल के समान अधर को रंगना आदि विविध क्रियाएं हैं।[3]

चन्द्रावली की 'कलहान्तरिता अवस्था' का उदाहरण विदग्धमाधव के चतुर्थ अंक में देखा जा सकता है। चन्द्रावली के मानकर बैठने पर कृष्ण उसका अनुनय द्वारा मान भङ्ग करने का प्रयास करते हैं। चन्द्रावली अपने किये हुये पर पश्चाताप करती हुई कहती है कि गोकुल के आनन्ददाता, तुम्हारे आगे मैं अपना मुँह नहीं दिखा सकती, क्योंकि ढिठाई से बोलती हुई मैंने अपराध किया है। अतः घर जाऊंगी।[4]

इस प्रकार चन्द्रावली रूपगोस्वामी के नाटक में परकीया नायिका के रूप में ही प्रदर्शित की गयी है। सहनायिका के रूप में उसका परकीयात्व अत्यन्त शृंगारपेशल है। उसे उपनायिका कहना भी अत्यन्त समीचीन है।

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक 10
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक 3
3. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, पृ. 261
4. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, पृ. 159

रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में नायिका की सहायक सखियां

ललिता और विशाखा

विदग्धमाधवम् नाटक में ललिता और विशाखा का सहयोग राधा के साथ कुछ विशेष रूप से देखा जा सकता है। ललिता राधा की अत्यन्त विश्वासपात्र सखी है इसकी पुष्टि स्वयं श्री राधिका करती है।[1] ललिता राधा को सोच समझकर 'कृष्ण' के प्रति अनुरक्त होने के लिये सावधान करती है। वह बात–चीत में अत्यन्त पटु है। कोई बात राधा को लक्ष्य करके कहना है तो वह किसी अन्य का माध्यम लेकर कहती है जैसे – कुरङ्गी अर्थात मृगी जो कोमल अंगों वाली है उसके जाल में फँसने का संकेत दिलाती है।[2] ललिता राधा को कृष्ण के प्रति आसक्त होने के लिये उनके मुरली के मधुर स्वर का गुणगान करती है।[3] ललिता राधा के कृष्ण विषयक दुख को जानकर अत्यन्त दुखी होती है और उसके उपाय के लिये चिन्तित रहती है। विशाखा भी राधा के दुख से दुखी होकर उसकी वेदना को नष्ट करने वाली किसी औषधि को देने की परामर्श देती है। वे दोनों सखियां राधा से उसके अन्तरस्थ कष्ट को बताने का आग्रह करती हैं। राधा की चंचलता, उसकी चिन्ता, धैर्यस्खलन आदि विकारों को उसके शरीर पर देखकर विशाखा उसके सच बात कहने के लिये प्रेरित करती है क्योंकि वह उसे बताती है कि परिजनों से किसी बात को छिपाना कल्याण कारक नहीं होता।[4]

ललिता भी राधा के वियोग का कारण जानना चाहती है। दोनों सखियां राधा को आश्वासन दिलाती हैं कि वह जिसके लिये दुखी है वह अधिक दुर्लभ नहीं है। वे दोनों राधा को बिना किसी लज्जा के अपनी बात कहने के लिये आग्रह करती हैं। वे कहती हैं सखि, हम दोनों के प्रति तुम्हारा प्रेम आत्मा से भी बढ़कर प्रतीत होता है तो बाह्य लज्जा का यहाँ कैसा आग्रह अर्थात् लज्जा की अपेक्षा हम दोनों तुम्हारे अन्तरंग है अतः बहिरंग लज्जा के अनुरोध से कोई बात हमसे न छिपाओ।[5]

---

1. राधा – हला, कस्मादेवं भणसि। त्वमेव तंत्र प्रमाणम्
   – वि. मा. ना., प्रथम अंक, पृ. 41
2. वि. मा. ना., प्रथम अंक, पृ. 40
3. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 43, श्लोक 37
4. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, पृ. 48
5. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, पृ. 54

वे दोनों अत्यन्त चतुर हैं। वे यह जान लेती है कि गोकुल ललनाओं में गोकुल के स्वामी नन्द के पुत्र को छोड़कर किसी अन्य से कैसे अनुराग हो सकता है।[1] वे दोनों राधा को अन्योक्ति के माध्यम से सावधान करती हैं और कहती हैं कि हे राधे अपनी सुगन्ध की लहर से समस्त दिशाओं में फैल जाने वाली चम्पा का जन्म व्यर्थ है, जिसकी गोद में पर्याप्त मधुपान से मत्त भ्रमर विलास नहीं करता। इस प्रकार की अन्योक्ति से वे राधा को कृष्ण के सहवास के लिये प्रेरणा प्रदान करती हैं और बहुवल्लभानुरागी कृष्ण के प्रति स्वयं समर्पित होने की सलाह देती हैं। ललिता राधा का पक्षपात भी करती है। नान्दीमुखी राधा के शरीर पर कामजन्य विकारों को देखकर कृष्ण के प्रति उसकी आसक्ति का अनुमान करती है। ललिता तत्काल उसे झूठी शंका करने वाली कहकर राधा को मिथ्या कलंकित करने का खण्डन करती है।[2]

ललिता और विशाखा राधा के मनोगत भावों को जानकर कृष्ण के पास पहुँचती है और ललिता उन्हें राधा का प्रेम पत्र प्रदान करती है।[3] ललिता श्री कृष्ण के पास राधा का प्रेम पत्र ले जाने के कारण 'दूती' के रूप में भी देखी जा सकती है। इसे 'पत्रहारिका' भी माना जा सकता है। विशाखा भी दूती का कार्य सम्पन्न करती है जैसे – विदग्धमाधव के प्रथम अंक में श्री कृष्ण का चित्र निर्मित कर वह पौर्णमासी के द्वारा राधा के पास भेजी जाती है।[4] यहाँ उसके 'शिल्पकारी' होने का परिचय प्राप्त होता है। विशाखा बड़ी ही वाक् पटु है। वह श्री कृष्ण को ही कुलयुवतियों के मन रूपी श्रेष्ठ पर्वत को चंचल बनाने वाला मानती है।

ललिता राधा को श्री कृष्ण की ओर से विमुख होने के लिये सुझाव देकर उसकी प्रणय–प्रगाढ़ता का अनुमान करती है। विशाखा अत्यन्त चतुर है वह कृष्ण के लिये राधा की गुञ्जावली प्रदान कर उसके प्रेम का अनुमान करती है। श्री कृष्ण से वह बदले में वैजयन्ती माला प्राप्त कर लेती है। विशाखा बड़ी ही मुंहफट है वह कृष्ण को भी नहीं

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, पृ. 55, श्लोक 10
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, पृ. 56
3. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, पृ. 72
4. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 42

छोड़ती। उनके शरीर पर ललना–सम्पर्कजन्य चिन्हों को दिखाकर वह उनके स्त्री–स्पर्श न करने की दलील का खण्डन करती है।[1] विशाखा श्री कृष्ण की प्रेम–परीक्षा भी लेती है। इसके लिये वह राधा को अभिमन्यु द्वारा मथुरा ले जाने का वृत्तान्त सुनाती है। राधा का वियोग जानकर कृष्ण मूर्छित हो उठते हैं किन्तु विशाखा उन्हें आश्वस्त करती है और उनके वियोग में राधा की विरह चेष्टाओं का निवेदन करती है।

ललिता श्री कृष्ण का परिहास करने में बड़ी पटु है। श्री कृष्ण द्वारा अपनी शुद्धता की परीक्षा का आग्रह करने पर ललिता उनसे कहती है कि यदि तुम मानसिक क्षेत्र से उन्मुक्त होकर राधा के स्तन रूपी स्वर्ण कलश के मध्य में मिलती हुई रोमावली रूपी नागयुवती के मस्तक के प्रेमी बंधे हुये हार के बीच के मुख्य मणि के ऊपर अपना हाथ रखते हो तो तुम्हारे यश मण्डल रूपी चन्द्रमा का कलंक दूर हो सकता है। अर्थात् राधा के कुच कलश के स्पर्श से ही तुम्हारा यश उज्जवल हो सकता है।[2]

ललिता धर्म–भीरु भी है क्योंकि कृष्ण को राधा के साथ अभिसार के लिये बुलाकर भी वह अपनी असमर्थता प्रकट करती हुई क्षमा याचना करती है। वह धर्म को ही प्रेमासक्त दो प्रेमियों के बीच में बाधक मानती है।[3] ललिता और विशाखा दोनों राधा को कृष्ण के पास भेजने का पूर्ण प्रबन्ध करती हैं। विशाखा कुछ अधिक ठीक दिखायी पड़ती है। वह राधा से पूंछती है सखि राधे, जिसको पाने के लिये तुम इतनी उतावली हो, क्या उसे पा गयी हो ? राधा उसे फटकारती है किन्तु विशाखा तुरन्त बात पलटकर कहती है अरी खुद शङ्का करने वाली क्रोध मत करो मैं तो गुञ्जाहार के विषय में पूँछती हूँ।[4]

ललिता अभिसारयित्री भी कही जा सकती है। ललिता राधा को अभिसारोचित वेशभूषा भी धारण करने का ध्यान दिलाती हुई देखी जाती है।[5] ललिता राधा से श्री कृष्ण के शरीर पर परस्त्रीसंसर्ग के चिन्हों को भी दिखाती है।[6] श्री कृष्ण द्वारा राधा के अधीन

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, पृ. 91
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, पृ. 124, श्लोक 30
3. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, पृ. 130
4. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, पृ. 143
5. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, पृ. 168
6. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, पृ. 184

अपने दसावतारों का निवेदन किये जाने पर ललिता उन्हीं में ही उनके दसावतारों का निवास बताती है।[1] यह उसकी प्रतिभा एवं बुद्धिमता का परिचायक है।

ललिता बड़ी ही निर्भीक और साहसी है। वह कृष्ण द्वारा राधा पर मुरली चुराने का आरोप किये–जाने पर कृष्ण से कहती है, ऐसी बातें मत कहो। यहाँ से शीघ्र ही अपने घर चले जाओ धूर्त, क्या हम लोग तुम्हारी वंशी के जामिन हुये है ?[2] वह राधा को भी दोषी ठहराती हुई कहती है – अदक्षिणे, ठहरो, स्वयं ही श्री कृष्ण का निरादर करके भौंरी द्वारा मुझे दोष देती हो।[3]

राधा की ये दोनों सखियां उसे यथावसर सहयोग देती हैं। राधा के शरीर पर पीताम्बर देखकर जटिला क्रोध करती है और विशाखा को दिखाती है राधा विशाखा की शरण याचना करती हुई रक्षा का अनुरोध करती है। विशाखा तुरन्त बहाना बनाती हुई कहती है कि यह श्री कृष्ण का पीताम्बर नहीं है बल्कि उत्सव में गोपियों ने इसके ऊपर हल्दी का रंग डाल दिया था। अतः तुम्हारा भ्रम निर्मूल है।[4]

ललिता और विशाखा की राधा के प्रति आत्मीयता एवं घनिष्ठता छठे अंक में देखी जा सकती है जब वे चन्द्रावली की सखी पद्मा से अपनी सखी राधा की उत्कृष्टता का प्रख्यापन करती है। ललिता श्री कृष्ण से भी अधिक अपनी सखी राधा का औत्कृष्ट्य वर्णन करती हुई कहती है – 'अरे कथन मात्र से ही डींग हांकने वाले (कृष्ण)। इस वृन्दावन में तुम्हारी स्तुति केवल एक ब्रह्मा ने की है, जबकि राधा के प्रत्येक अंग की शोभा की प्रशंसा बहुत से प्रजापतियों ने की है। तुमने गोवर्धन पर्वत को हाथ से केवल एक बार ही उठाया है। इस सखी ने कटाक्ष की छटा से अनेक बार धरणीधर 'कृष्ण' को आकृष्ट किया है। अतः हे वीर, गर्व मत करो क्योंकि राधा प्रत्येक बात में तुमसे आगे है।[5]

सप्तम अंक में पद्मा से अन्योक्ति के माध्यम से राधा का औत्कृष्ट्य वर्णन

---

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, पृ. 187, श्लोक 42
2. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, पृ. 193
3. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, पृ. 205
4. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, षष्ठम अंक, पृ. 255
5. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, षष्ठम अंक, पृ. 292, श्लोक

करती हुई ललिता कहती है भ्रमरी का दल प्यास से जिसके कपोल भाग का स्पर्श करता है वह गजराज स्वयं प्यास से आकुल होकर सरोवर के पास पहुँचता है किन्तु सरोवर उसके पास नहीं आता है।[1] इसका अभिप्राय यह है कि श्री कृष्ण स्वयं राधा के पास जाते हैं। यह राधा का सौभाग्य है। ऐसे अन्य उदाहरण भी देखे जा सकते हैं। ललिता समय–समय पर राधा के मान करने पर सहयोग भी करती है। वह उसकी मानपोषिका भी मानी जा सकती है। राधा को मानवती बनाने में ललिता का विशेष योगदान रहता है। वह श्री कृष्ण से अपनी सखी के मनोगत भावों को बड़ी बुद्धिमता से व्यक्त किया करती है। ललिता अत्यन्त वाक्पटु, चतुर और तीक्ष्ण बुद्धि वाली राधा की सखी है। विशाखा राधा की परिहास परायणा दूती के रूप में कार्य करती है। वह श्री कृष्ण का भी परिहास किया करती है। राधा–कृष्ण के परस्पर प्रेम–विस्तार एवं उनके संयोग कराने में इन दोनों सखियों का अप्रतिम सहयोग माना जा सकता है। विदग्धमाधव में इन सखियों का चरित्र अत्यन्त प्रशंसनीय है। सम्पूर्ण नाटक में वे आदि से अन्त तक विराजमान रहती है और राधा–कृष्ण को परस्पर मिलाने का सतत् प्रयत्न करती है। ये दोनों सखियां कभी संस्कृत बोलती हैं तो कभी प्राकृत। इनके गद्य–भाग प्रायः प्राकृत भाषा में बोले गये हैं तथा श्लोक संस्कृत में किन्तु वे कभी–कभी गद्य भाग भी संस्कृत में ही बोलती हैं तथा श्लोकों को प्राकृत में। इस प्रकार उनका दोनों भाषाओं पर अधिकार देखा जा सकता है।

विदग्धमाधव में पौर्णमासी

रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में पौर्णमासी एक प्रमुख स्त्री पात्र है। यह सान्दीपनि मुनि की जननी एवं देवर्षि नारद की शिष्या के रूप में उल्लेख की गयी है तथा यह ब्रह्मा की स्त्री के समान कान्ति वाली, श्वेत केशों वाली तथा वक्षस्थल पर काषायवस्त्र को धारण करने वाली होने के कारण 'तापसी' मानी जा सकती है।[2] पौर्णमासी उज्जयिनी

1. वि. मा. – सप्तम अंक, श्लोक 21
2. वहन्ती काषायाम्बरमुरसि सान्दीपनिमुनैः
   सवित्री सावित्रीसमरुचि दल रत्नं पाण्डुरकचा।
   सुरर्षेः शिष्येयं परिजनवती नन्दभवना –
   दितो मन्दं मन्दं स्फुटमुटजवीथीं प्रविशति।।
   – वि. मा., प्रथम अंक, श्लोक 11

को छोड़कर देवर्षि नारद के निर्देशानुसार गोकुल में निवास करती है जहाँ राधा–कृष्ण के अवतार की प्रतीक्षा करती हुई उनके परस्पर प्रीति–वर्धन में सहयोग करने का संकल्प करती है। इसका स्पष्ट उल्लेख पौर्णमासी स्वयं विदग्धमाधव के प्रथम अंक में करती है।(1)

विवेच्य नाट्यकृतियों में नाटककार का प्रमुख प्रतिपाद्य है 'राधा–कृष्ण' का परस्पर संयोग स्थापित करना। पौर्णमासी इस अभीष्ट लक्ष्य की एक मुख्य कड़ी है जो तदनुकूल घटनाओं को संयोजित कराने का उपाय करती है। पौर्णमासी योगमाया के माध्यम से असम्भव को सम्भव बनाने में पूर्ण पटु है। वह स्वयं ही योगमाया स्वरूपिणी मान ली जाये तो अत्युक्ति न होगी। उसे 'अपघटत–घटनापटीयसी' की संज्ञा से अभिहित करना भी औचित्य का अतिक्रमण करना न होगा।

विदग्धमाधव में पौर्णमासी ही नान्दी से वार्तालाप करती हुई राधा–कृष्ण के भावी प्रेम–प्रसंग का उद्घाटन कराती है। अभिमन्यु के साथ राधा के पाणिग्रहण की योगमायिक बताकर वही सबको सावधान कराती है और राधा को श्री कृष्ण की नित्य प्रिया के रूप में प्रतिपादित कर योगमाया के प्रभावों का रहस्योद्घाटन कराती है।(2) श्री कृष्ण के प्रति पूर्ण भक्ति भाव से वह आत्म समर्पित होकर 'राधा' और 'कृष्ण' इन दो पवित्र नामों के उच्चारण से राधा और कृष्ण के मध्य पूर्वानुराग का प्रकाश कराती है। पौर्णमासी श्री कृष्ण को माधव कहकर अपनी आत्मीयता प्रकट करती है।(3)

पौर्णमासी उपाय परायणा है। पौर्णमासी कृष्ण के समक्ष राधा और राधा के समक्ष कृष्ण का गुणगान कराकर उनकी एक दूसरे के प्रति तन्मयता का उपाय सोचती है। पौर्णमासी मोदक–वितरण के ब्याज से श्री कृष्ण के पास वृन्दावन में पहुँचती है। वहाँ श्री कृष्ण के द्वारा मोदक वितरण का कारण पूंछे जाने पर पौर्णमासी राधा और अभिमन्यु का विवाह प्रसंग उद्भाषित करती है। पौर्णमासी का उद्देश्य राधा के प्रति श्री कृष्ण को

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 15–16
2. पौर्णमासी (विहस्य) तद्ध चनाद्यर्थमेव स्वयं योगमायया मिथ्यैव प्रत्यायितं तद्विधानामुद्वाहादिकम्। नित्यप्रेयस्य एव खलु ताः कृष्णस्य।।
   – विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 12
3. वही – ″ ′ ″ , पृ. 18

आकर्षित कराना है। इसके लिये वह राधा को आनन्द की चन्द्रिका कहती है। 'राधा' का नाम सुनकर श्री कृष्ण को दूसरे रूप में देखकर पौर्णमासी गोपियों के वहाँ पहुँचने की सूचना देती है।[1]

पौर्णमासी और श्री कृष्ण के बीच अत्यन्त आत्मीयता भी देखी जा सकती है। वह गोपियों के आने की सूचना देकर श्री कृष्ण को यह भी सचेत करती है कि विलासी, गोपियों का घर सूना पाकर वहाँ जाकर तुम्हारे मित्र कहीं दूध–दही न चुरायें। श्री कृष्ण पौर्णमासी को धूर्त कहकर सम्बोधन करते हैं और उस पर परिहास करते हुये कहते हैं कि देखो कोमल मंजरियों को चुनती हुई इन गोपियों के समूह ने मेरे वृन्दावन के वृक्षों की टहनियों को तोड़ दिया है अतः तुम्हें इन सबको रोकना चाहिये पौर्णमासी भी अत्यन्त वाक्पटु है वह कृष्ण को चिढ़ाने के लिये कहती है कि मोहन, पुष्पों के नवीन गुच्छों का आभूषण पहनने वाले आपने ही फूलों के प्रति गोपियों के प्रेम को बढ़ाया है। उन्हें इधर से कैसे रोका जाये अर्थात् तुमने ही गोपियों में काम भाव जगाया है।

पौर्णमासी की परिहास परायणता

कृष्ण पौर्णमासी से बड़े ही मुंहलगे प्रतीत होते हैं वह कहते है – 'हे बगुले के समान श्वेत केश वाली, वार्तालाप में भी कुटिल मार्ग पर आरूढ़ हो जो कि अपराधिनी गोपियों के प्रति पक्षपात का परित्याग नहीं करती हो।' पौर्णमासी बड़ी चतुराई से कृष्ण को उत्तर देती है – 'सुन्दर, इस समय गोपियों (राधा) के साथ होने पर कैसे अपराधिका अर्थात् राधारहित हों अतः तुम्हारे पुन्नाग नामक वृक्ष के पुष्पों को भी हठपूर्वक चुरायेंगी।[2]

कृष्ण पौर्णमासी को 'बगुले के समान श्वेत केश वाली' का सम्बोधन करते हैं इससे पौर्णमासी की वृद्धावस्था होने की पुष्टि हो जाती है। यही तापसी होने का लक्षण भी माना जा सकता है।

कर्तव्यपरायणता

श्री कृष्ण को राधा के प्रति आसक्त कराके पौर्णमासी राधा में श्री कृष्ण के प्रति

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 33
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 35

आसक्ति बढ़ाने के लिये चित्रपट (प्रतिच्छद) का निर्माण कराती है। इसके लिये वह ललिता और विशाखा नाम की सखियों का सहयोग लेती है। उन्हीं के माध्यम से वह राधा के समक्ष 'कृष्ण' नाम की महिमा का गुणगान एवं 'चित्रपट' का प्रदर्शन कराती है। राधा की पीड़ा का अनुमान करके पौर्णमासी उसके भाव–परीक्षण का भी विचार करती है और उससे आश्वस्त होकर उसे पत्र–रचना करने के लिये प्रेरित करती है जिससे कृष्ण के पास सखियों द्वारा उसके प्रणय निवेदन को सम्प्रेषित किया जा सके।[1] इस प्रकार कहकर वह कृष्ण के पास पुनः पहुँचने का यत्न करती है। तृतीय अंक में पौर्णमासी को देखकर श्री कृष्ण उन्हें प्रणाम करते हैं। पौर्णमासी आशीर्वाद देती हुई कहती है – 'नागर गोपीस्तन–तटीष्वलंपटी भव' अर्थात् गोपियों के स्तनतटों में लम्पट न बनो पक्ष में अलं न अत्यधिक पटीभव–चतुर बनो अर्थात् गोपियों के स्तन तटों में चतुरता से विहार करो। इस प्रकार वह कृष्ण को राधा से मिलने के लिये प्रेरित करती हुई परिहास भी करती है। वह कहती है कि 'सुन्दर' प्रेमीजनों के मिलने पर प्रेमपात्रों की उपेक्षा परिणाम में भयंकर अत्यधिक दोषों से उत्पन्न करती है। यह प्रेमी सूर्य अनुरागिणी संध्या को छोड़कर समस्त संसार को अन्धकार में डुबो देता है।[2]

श्री कृष्ण को राधा से मिलने के लिये लालायित कर वह राधा की प्रेम परीक्षा लेती है और उसके प्रेम को और भी प्रगाढ़ करने का प्रयास करती है। राधा को प्रेम से विह्वल देखकर वह उसे धैर्य बंधाती हुई उसके दिव्यत्व का निरूपण करती है।[3] पौर्णमासी राधा–कृष्ण को एक दूसरे के प्रति मिलनोत्सुक देखकर सखियों को उनके मिलाने का आदेश देती है।[4]

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, पृ. 64
2. प्रगयिषु मिलितेषु प्रेमभाजामुपेक्षा
   घटयति कटुपाकान्युच्चकेदूषणानि।
   दिनमणिरनुरागी प्रोज्भय संध्यां हि रक्तां
   तमसि निखिलमुग्रे मज्जयत्येष लोकम्।।
   – वि. मा. – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, श्लोक 11
3. वि. मा. – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, पृ. 113
4. वि. मा. – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, पृ. 114

पौर्णमासी राधा–कृष्ण के संयोग में होने वाली हर बाधाओं को दूर करने का पूर्ण प्रयास करती है। पंचम अंक में जटिला के हाथ में कृष्ण की वंशी को देखकर वह उससे दुखी होती है किन्तु सुबल की चतुरता से मुरली प्राप्त कर लेने तथा जटिला के चले जाने से प्रसन्न होती हैं।

पौर्णमासी श्री कृष्ण को राधा से मिलाने के लिये मधुमंगल की भी सहायता लेती हैं। मधुमंगल को वह अपना परिचर्यक मानती है क्योंकि वह स्वयं प्रारम्भ में ही इस बात का उल्लेख करती है। नान्दी जब पौर्णमासी से यह पूंछती है कि गोकुल में निवास करती हुई आपको क्या सान्दीपनि जी जानते हैं ? तो पौर्णमासी बताती है कि और क्या ? इसलिये तो उन्होंने मधुमंगल नामक अपने पुत्र को यहाँ मेरी परिचर्या के लिये भेजा है।(1)

राधा–कृष्ण में एक दूसरे के प्रति आसक्ति का संचार करके पौर्णमासी अभिमन्यु में होने वाली बाधा का निवारण करना चाहती है। अभिमन्यु राधा को मथुरा ले जाने के लिये तत्पर होता है। वह पौर्णमासी से आज्ञा चाहता है। पौर्णमासी उसे समझाती हुई कहती है, बेटा, चुगुलखोरों के बहकावे में आकर तुमने अवश्य अपने विवेक को खो दिया है। पौर्णमासी उसे कंस का ध्यान दिलाती है जो राधा जैसी सुन्दर हिरनियों की खोज किया करता है। पौर्णमासी बड़ी चतुरता से अभिमन्यु को समझाती हुई कहती है – 'अरे धन्य पुरुषों में श्रेष्ठ गोविन्द माता के मामा के पुत्र हो। तुम गोकुल के अभागे शत्रुओं के समूह में रहने वालों का सहारा क्यों ले रहे हो ? तो आज मैं तुम्हें किसी मर्यादा से सीमित करना चाहती हूँ।(2) इस प्रकार वह अभिमन्यु को समझा बुझाकर राधा की पतिव्रता के प्रति उसे विश्वास दिलाती है और उसके अनुरोध करने पर राधा की चण्डी पूजा का प्रबन्ध कराके मथुरा न ले जाने का निराकरण कर लेती है।

पौर्णमासी की दूरदर्शिता भी अत्यन्त सराहनीय है। सप्तम अंक में पद्मा द्वारा चन्द्रावली को गौरीतीर्थ ले जाने की छल पूर्ण चतुरता का अनुमान कर पौर्णमासी गौरीतीर्थ

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 15
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, पृ. 304

जाकर राधा की सुरक्षा और अभिमन्यु की शंका का निवारण करने के लिये प्रस्थान करती है। गौरी पूजन करती हुई राधा को कृष्ण के साथ देखकर पौर्णमासी अत्यन्त प्रफुल्लित होती है और अपनी अभीष्ट सिद्धि से सन्तुष्ट हो कृष्ण से राधा सहित वृन्दावन में नित्य विहार करने की अभ्यर्थना करती है।

पौर्णमासी निःस्वार्थभाव से राधा–कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पित है। उनकी भक्ति को ही अपना सर्वस्व समझकर, उनके लिये ही अपने आपको सदैव तत्पर रखती है। उसकी भक्ति परायणता भी अत्यन्त प्रशंसनीय है।

नान्दीमुखी

विदग्धमाधव के प्रारम्भ में यह पौर्णमासी के साथ ही प्रवेश करती है। पौर्णमासी नान्दीमुखी से अपने समस्त भावी कार्यों का उद्घाटन करती है। यह बहुत ही वाक्पटु तथा बुद्धिमती है। यह तर्क–वितर्क करने में अत्यन्त प्रवीण है। रहस्यात्मक विषयों को बड़ी चतुरता से जान लेने का प्रयत्न करती है। यही यह 'नान्दी' है जो अभिमन्यु और राधा के विवाह विषयक सन्देहों का निवारण कराती है।[1] यही वह नान्दी है जो पौर्णमासी से पूछती है कि भगवति, यदि वृषभानु की पुत्री राधा का कृष्ण के साथ आपको संयोग कराना है तो संगम के उपयुक्त स्थान गोकुल को छोड़कर यह राधा सान्तनुवास नामक भानुतीर्थ में क्यों छिपाकर रखी गयी ? पौर्णमासी द्वारा 'निर्दयी कंसराज के भय से उत्तर प्राप्त करके भी वह पुनः जिज्ञासु होकर पूंछती है भगवति, फिर भी राजा ने राधा को कैसे जान लिया ? पौर्णमासी राधा के सौन्दर्य–सुरभि को इसका कारण बताती है।[2] यही वह नान्दी है जो पौर्णमासी से राधा आदि के प्रति होने वाली उसकी प्रेम–प्रगाढ़ता का कारण पूंछती है और जिसके कारण अपने इष्टदेव श्री कृष्ण के अवतार से पहले ही उज्जयिनी छोड़कर गोकुल में आ बसती है।[3] इसी प्रकार के गूढ़ प्रश्नों का समाधान कराके वह नाटकीय कथावस्तु के मार्ग को प्रशस्त करती है। यही नान्दी पौर्णमासी से चन्द्रावली विषयक शङ्का का

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 12
2. वही – " " , पृ. 11
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 15

समाधान कराती हुई पूंछती है कि भगवति कंस के गोप मण्डल का अध्यक्ष गोवर्धन–कृष्ण के प्रति अनुराग रखने वाली अपनी पत्नी चन्द्रावली के चरित्र से क्यों नहीं क्रुद्ध होता है।[1]

नान्दी की विश्वसनीयता के कारण ही पौर्णमासी राधा–कृष्ण के परस्पर प्रेम–प्रवर्द्धन के लिये उससे सहयोग करने की अपेक्षा करती है। यही नान्दी पौर्णमासी से राधा का कृष्ण के प्रति अनुराग–भाव प्रकाशित करती है।[2] यहीं कृष्ण के प्रति राधा के प्रेम को स्वाभाविक प्रेम जानकर सखियों की सहायता चाहती है।[3]

नान्दीमुखी का हृदय बड़ा ही संवेदनशील है। वह राधा की अस्वस्थता का निवारण करने के लिये तत्पर रहती है।[4] वह अपनी अनुभव–दृष्टि से उसकी अस्वस्थता का कारण भी जान लेती है और उससे ठिठोली भी करती है।[5] नान्दीमुखी सन्देश वाहिका का भी कार्य करती हुई दृष्टिगत होती है क्योंकि वह ललिता के सन्देश को शिरोधार्य करके सुबल के पास जाने को तत्पर होती है।[6] नान्दीमुखी न केवल राधा अपितु चन्द्रावली के प्रति भी सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करती हुई परिलक्षित होती है।[7] वह दोनों पक्षों अर्थात् राधा और कृष्ण के सहयोगियों को यथावसर प्रेरित करती हुई देखी गयी है। राधा–कृष्ण के परस्पर संयोग कराने में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका मानी जा सकती है। वह संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग करती है।

विदग्धमाधव में वृन्दा का चरित्र कृष्ण के मनोनुकूल वातावरण तैयार करने में अत्यन्त उपादेय माना जा सकता है। पंचम अंक में श्री कृष्ण की मनोवेदना का अनुभव कर वह भगवती पौर्णमासी से उनकी खिन्नता का कारण पूँछती है और उनके मनोविनोद कराने का समुचित प्रबन्ध करती हैं। जटिला द्वारा कृष्ण की मुरली हस्तगत हो जाने पर वह उससे

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 14
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 16
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, पृ. 18
4. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, पृ. 45
5. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, पृ. 56, श्लोक 11
6. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, पृ. 148
7. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, पृ. 149, श्लोक 1

मुरली लूट लेने के लिये पौर्णमासी को आश्वासन देती है।[1] वृन्दा श्री कृष्ण के तत्कालिक मनोविनोद के लिये सुबल से वेष बदलने की परामर्श करती है और स्वयं ललिता का वेष धारण करके वह राधा का वेष धारण करने वाले सुबल के साथ कृष्ण का मनोरंजन कराती है। वह सदैव श्री कृष्ण को उद्दीप्त करने का प्रयास करती है।[2]

वृन्दा राधा का भी मार्ग–दर्शन करती हुई कहती है कि स्नेह–बन्ध का समूह पर्याप्त अन्धा बना देता है, जिससे स्पष्ट चीज भी दिखायी नहीं पड़ती। राधा वृन्दा से अपनी रक्षा का निवेदन करती है।[3] वृन्दा राधा को भी उद्दीप्त करती हुई आभूषणोचित कलीवाले कर्णिकार (वनचम्पा) के वृक्ष को दिखाती है।[4]

वृन्दा प्रकृति प्रेमी है। सप्तम अंक में प्रवेश करती हुई वृन्दा द्वारा वृन्दावन की सुषमा का मनोरम वर्णन किया गया है – उसके द्वारा राधा की शोभा के वर्णन भी इसी अंक में अवलोकनीय हैं।

कदम्बाली जृम्भाभर परिमलोद्‌गारिपवना
स्फुटद्यूथीयूथीकृतमधुपमानप्रगयिनी।
नटत्केलिस्तोमा मृदुलयवसस्या मलिनभू
स्तपान्तेऽद्य स्वान्तं मम रमयति द्वादशवनी।[5]

वृन्दा बहुत ही विवेकशालिनी है। वह किसी कार्य की यथार्थता को जानने के लिये सचेष्ट रहती है।[6] वृन्दा अभिमन्यु को सदुपदेश देती हुई भी देखी जा सकती है। वह राधा की मंगलकामना का सदैव ध्यान रखती हुई कृष्ण–मिलन के मार्ग को प्रशस्त करने का सदैव प्रयास करती है। 'सती स्त्रियों को कलंक लगाने से पुरुष की आयु क्षीण होती

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, पृ. 213
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, पृ. 240, श्लोक 40, पृ. 242, श्लोक 42
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, पृ. 246
4. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, पृ. 248
5. वि. मा. – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक 1, पृ. 36, 37, 38, 39, 40, 41, 42, 43, 44, 52, 54, 55, 56
6. वही – '' सप्तम अंक, पृ. 323

है, यह उपदेश देकर वह अभिमन्यु को सावधान करती है।[1]

इस प्रकार विदग्धमाधव में वृन्दा का चरित्र जहाँ एक ओर वृन्दावन की प्राकृतिक सुषमा को बिखेरता है वहीं दूसरी ओर राधा–कृष्ण के परस्पर समागम के अनुकूल चेष्टाओं का उपस्थापन करता है। उद्दीपन भागों को प्रशस्त करने में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका मानी जा सकती है। उसकी चाटूक्ति पेशलता वृन्दावन के वृक्षों के प्रति भी अत्यन्त प्रशंसनीय मानी जा सकती है।

शङ्के पङ्कजसंभवोऽपि भवतः सौभाग्यमङ्गीभरं

वक्तुं न क्षमते कदम्बनृपते वृन्दाटवीद्योतिनः।

पुष्पैर्यस्य रभासहोदरतयाप्युद्भासुरं कौस्तुभं

दुलीलैरवहेलयद्भिरमितः शीरेरुरद्दाद्यते।[2]

विवेच्य नाट्यकृति में उपर्युक्त पात्रों के चरित्र चित्रण से यह स्पष्ट होता है कि रूपगोस्वामी ने पात्रों के चयन में प्रभूत उदारता प्रदर्शित की है। उक्त पात्रों के चरित्र चित्रण के अतिरिक्त भी नाट्यकृतियों में अन्यान्य पात्रों की महत्वपूर्ण भूमिका देखी जा सकती है जिनमें पद्मा और शैव्या चन्द्रावली की दो सखियां हैं जो राधा की दोनों सखियों ललिता और विशाखा के समान ही अपनी सखी चन्द्रावली के प्रति अपेक्षित सहयोग प्रदान करती हैं। कुछ वृद्धाएं भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं जिनमें राधा की सास जटिला, चन्द्रावली की सास कराला और मुखरा भाण्डुरा आदि अन्य वृद्धाएं उल्लेखनीय हैं जो समय–समय पर कौटुम्बिक परिवेश का और नारी स्वभाव की कर्ण परम्परा पद्धति (जनश्रुति) का यथोचित विस्तार करती रहती हैं।

इस प्रकार रूपगोस्वामी की आलोच्य नाट्यकृति में पात्रों का उपयुक्त विवेचन करने के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि पात्रों के संविधान में नाटककार ने बहुलता का आश्रय लिया है। पात्रों का चयन पौराणिक परम्परा पर पूर्णतया आश्रित नहीं माना जा सकता। रूपगोस्वामी ने गौडीय वैष्णव परम्परा के अनुरूप कुछ विशिष्ट पात्रों को ग्रहण किया है।

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, पृ. 365, श्लोक 58
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, पृ. 336, श्लोक 30

पात्रों के परस्पर सम्बन्ध में भी कुछ परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। विदग्धमाधव नाटक में 'कराला' गोवर्धनमल्ल की माँ और चन्द्रावली की सास है किन्तु ललितमाधव नाटक में भाण्डुरा को गोवर्द्धनमल्ल की माँ और चन्द्रावली की सास कहा गया है। यह एक विलक्षण अन्तर माना जा सकता है। रूपगोस्वामी ने कुछ कल्पित पात्रों का भी चयन किया है। विवेच्य नाट्यकृतियां में स्त्रीपात्रों की संख्या पुरुष पात्रों की अपेक्षा बहुल है।

पात्रों की भाषा–प्रयोग के सन्दर्भ में भी एक नवीनता देखी जा सकती है। इनमें राधा जैसी उत्तम प्रकृति की नायिका भी संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का प्रयोग करती है। इसके गद्य भाग प्रायः प्राकृत में बोले गये हैं और पद्य भाग प्रायः संस्कृत में। कहीं–कहीं अर्द्ध वाक्य संस्कृत में है तो अर्द्ध वाक्य प्राकृत में। स्त्री पात्र प्रायः संस्कृत और प्राकृत दोनों का प्रयोग करती हैं। कुछ परिचारिकाएं केवल प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करती हैं। पुरुष पात्रों में कृष्ण, नन्द, बलराम, ऊद्धव, नारद आदि संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करते हैं। पौर्णमासी, वृन्दा जैसी श्रेष्ठ वृद्धाएं संस्कृत में ही बोलती है। श्री कृष्ण के सहायक (मित्रगण) भी संस्कृत और प्राकृत दोनों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार भाषा प्रयोग के सम्बन्ध में रूपगोस्वामी ने एक नवीन परम्परा का श्री गणेश किया है।

पात्रों के चयन में रूपगोस्वामी ने स्त्री पुरुष के अतिरिक्त पशु पक्षियों तथा अचेतन वस्तुओं को भी ग्रहण किया है। शुक, सारिका, कोर, गरूण जैसी पक्षी भी पात्र रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। शरद् ऋतु, वंशी, गुञ्जावली आदि को भी उन्होंने नाटकीय पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है। वंशी और गुञ्जावली के प्रति गोपियों का सौतभाव भी देखा जा सकता है। ये सखी और दूती रूप में भी उपन्यस्त की गयी हैं। गोपियां इनके प्रति कृष्ण का अनुराग देखकर प्रायः ईर्ष्या भाव भी प्रकट करती हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में पात्रों के विन्यास में एक पृथक् एवं नवीन परम्परा देखी जा सकती हैं। समूचे संस्कृत नाट्य साहित्य में स्त्री बहुल पात्रों की दृष्टि से ये विलक्षण नाटक माने जा सकते हैं। कथावस्तु के घटनाक्रम को देखते हुये विवेच्य नाट्यकृति में प्रभूत पात्रों का सन्निवेश उचित नहीं भी जान पड़ता।

चतुर्थ अध्याय

'विदग्धमाधवम्' का काव्य सौष्ठव

- ☆ भाषा शैली
- ☆ छन्द एवं अलंकार योजना
- ☆ प्रकृति चित्रण

चतुर्थ अध्याय

विदग्धमाधवम् का काव्य सौष्ठव

(i) भाषा

भाषा, प्रवृत्ति का एक आवश्यक अङ्ग है। आचार्य रूपगोस्वामी के अनुसार भाषा के दो भेद होते हैं – भाषा और विभाषा। जो भाषा वाक्यों में प्रयोग की जाती है वह विभाषा कहलाती है उसके 14 भेद होते हैं। संस्कार विरहित होने के कारण इन विभाषाओं का प्रयोग नाटक में निषिध माना गया है। भाषा के भी दो भेद होते हैं – संस्कृत भाषा तथा प्राकृत भाषा। संस्कृत भाषा का प्रयोग देवता, मुनि, नायक, सन्यासी, ब्राह्मण, वणिक, क्षत्रिय, मन्त्री, कंचुकी, वनदेवता, मन्त्रिकन्या, विदुषी, योगिनी, अप्सरा और शिल्प–कारिणी आदि को करना चाहिए।

प्राकृतभाषा के 6 भेद होते हैं – 1. प्राकृत 2. शौरसेनी 3. मागधी 4. पैशाची 5. चूलिका पैशाची 6. अपभ्रंश।

रूपगोस्वामी की मान्यता में प्रायः समस्त स्त्रियों की प्राकृतभाषा निश्चित होती है। ऐश्वर्यहीन से प्रमत्त, दरिद्र तथा जाति और कर्म से जो नीच हो तो उनकी भी प्राकृत भाषा होनी चाहिए। इनमें भी नायिका अथवा उत्तम स्त्री पात्र की भाषा शौरसेनी तथा गाथा आदि में महाराष्ट्री प्राकृत रखनी चाहिये। राजा अन्तःपुर में स्थित भृत्यों, विदूषक, चेट आदि की मागधी भाषा होनी चाहिये। राक्षस, पिशाच आदि पात्रों की चूलिका पैशाची तथा पैशाची भाषा रखनी चाहिए और चाण्डाल और यवन पात्रों की अपभ्रंश भाषा होनी चाहिए।

विवेच्य नाट्यकृतियों में रूपगोस्वामी ने भाषा का अभिनव प्रयोग किया है। इनमें परम्परानुसार स्त्री पात्रों को प्राकृत भाषा का प्रयोग करना चाहिए किन्तु रूपगोस्वामी ने स्त्री पात्रों से संस्कृत और प्राकृत दोनों का प्रयोग कराया है। यह अपनी अपनी मौलिकता मानी जा सकती है। इनकी नाट्यकृतियों में राधा प्रधान नायिका है। राधा तथा उनकी सखियां प्रायः श्लोक संस्कृत में बोलती हैं और गद्य भाग प्राकृत में। कहीं–कहीं श्लोक का

पूर्व भाग प्राकृत में ही बोलती हैं।[1]

केवल संस्कृत ही बोलने वाले पात्रों में नायक श्रीकृष्ण, तपस्विनी पौर्णमासी वनदेवी वृन्दा, शिल्पकारिणी नववृन्दा, देवी एकावंशा मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त ललितमाधव नाटक में सूत्रधार, सुपर्ण, भीष्म, नारद, उद्धव, बलराम, सुनन्द, कञ्चुकी, विश्वकर्मा तथा वृन्दा आदि केवल संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करते हैं। विदूषक मधुमङ्गल संस्कृत और प्राकृत दोनों का प्रयोग करता है। वह गद्य भाग प्राकृत में बोलता है और श्लोक भाग संस्कृत में। कभी–कभी वह गद्य पद्य दोनों प्राकृत में ही बोलता है।[2]

भाषा प्रयोग के सन्दर्भ में रूपगोस्वामी ने सरल, सहज और सामाजिक परिवेश को समक्ष रखकर किसी विषय वस्तु का स्वाभाविक चित्रण किया है। भाषा को भावाभिव्यक्ति के अनुरूप अपनाकर उन्होंने उसे सरल और सुबोध बनाने का प्रयास किया है। भाषा को सर्वग्राह्य, सुरूचिपूर्ण एवं सम्पुष्ट बनाने के लिये रूपगोस्वामी ने मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों, अन्योक्तियों, सुभाषितों एवं देशी शब्दों का बहुधा प्रयोग किया है। रूपगोस्वामी की भाषा पर तत्कालीन लोकप्रिय फारसी भाषा का प्रभूत प्रभाव देखा जा सकता है। रूपगोस्वामी की भाषा में शिलष्ट पदावली में उक्ति वैचित्र्य का अनुपम प्रयोग अत्यन्त श्लाघनीय है। शब्दों के समुचित प्रयोग पर रूपगोस्वामी का पूरा अधिकार है। जहां जैसी आवश्यकता पड़ती है वहां वैसी ही भाषा का ऋजुतम प्रवाह दृष्टिगत होता है। विवेच्य नाट्यकृतियों से कुछ महत्वपूर्ण अंश उद्धरणीय हैं।

मुहावरा प्रयोग

रूपगोस्वामी ने प्रचलित मुहावरों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। विदग्धमाधव में 'चातुराक्षिकं प्रेक्षणमपि नास्ति'[3] का प्रयोग संस्कृत भाषा में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ऐसे प्रयोग कर फारसी भाषा का प्रभाव माना जा सकता है। इसका अभिप्राय है 'आंखे चार न होना'। प्रथम दर्शन में प्रेमी और प्रेमिका के मिलन को व्यक्त करने के लिये 'आंखे चार

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – द्वितीय अङ्क – श्लोक 43, तृतीय अङ्क पृ. 111, 5/10, 5/26, 5/48, 5/52
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – द्वितीय अङ्क – श्लोक 32, पृ. 73, 3/6
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – द्वितीय अङ्क – पृ. 74

होना' इस मुहावरे का प्रयोग प्रसिद्ध है। यहां भी यही प्रसङ्ग है। श्रीकृष्ण राधा से न मिल पाने के लिये उक्त मुहावरे का प्रयोग करते हैं।

इसी प्रकार विदग्धमाधव के षष्ठ अङ्क में जटिला के निम्नलिखित कथन में मुहावरे का प्रयोग द्रष्टव्य है।

''अयि विशाखे, प्रसीद। एषा अङ्गुलिशिखरं मुखे निक्षिप्य अभ्यर्थयामि''[1] यहां 'अङ्गुलिशिखरं मुखे निक्षिप्य' यह एक मुहावरा है जिसका अर्थ है अंगुलि–शिखर नख को मुंह में लेकर अर्थात् सर्वतोभावेन विनीत बनकर प्रार्थना करना।

अन्य नाट्यकृतियों में रूपगोस्वामी ने सुभाषितों का भी प्रयोग किया है।[2]

शैली

आलोच्य नाट्यकृतियों में रचना शैली की दृष्टि से रूपगोस्वामी न तो कालिदास की वैदर्भी रीति प्रधान सुकुमार शैली के पूर्ण पोषक हैं और न केवल भवभूति की गौड़ी प्रधान शब्द प्रौढ़ि के हिमायती ही अपितु उन्होंने अपनी नाट्यकृतियों में वैदर्भी और गौड़ी के छोर को स्पर्श करने वाली पांचाली रीति को अपनाया है। नाटककार ने गद्य और पद्य दोनों भागों में दो प्रकार की रीतियों का आश्रय लिया है। गद्य भाग में प्रवाह सरलता और लघुता है। उनकी भाषा भावानुकूल परिवर्तित होती रहती है। उनके गद्य भाग में भी पद्यमयता देखी जा सकती है। रूपगोस्वामी सरल, सरस और सुबोध शैली के अनुनायी हैं तथापि कहीं–कहीं वातावरण के अनुरूप उनकी शैली भी बदली हुई दृष्टिगत होती है। वृन्दावन के वर्णन में निम्नलिखित श्लोक अवलोकनीय हैं –

क्वचित् क्वणति कौकिलः रचनति हन्त झिल्ली क्वचित्
क्वचिन्नटति चन्द्रकी रटति राजहंसः क्वचित्।
किरवी विरणति क्वचित् क्वचन रौति हारीतिका
तनोति समितिर्भुदं मम परामृतूमानसौ।।[3]

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – षष्ठ अङ्क – पृ. 256
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – 1/4, 1/5, 1/13, 2/2, 2/32, पृ. 73, पृ. 86, पृ. 98, पृ. 118, 3/11, 3/34, 3/43, 3/48, 5/22, 5/31, 5/42, 5/43, 6/17, 7/53
3. ललितमाधव – अष्टम अङ्क – श्लोक–20

प्रस्तुत श्लोक में रूपगोस्वामी के सहज और स्वाभाविक शैली का पुट देखा जा सकता है। वृन्दावन वर्णन में ही दीर्घसमास बहुल बन्धता भी द्रष्टव्य है यथा –

तव स्तवकवल्लरी चटुलगन्धवन्दीकृत –

भ्रमद्–भ्रमर–झंकृतिप्लुतमुदग्रगुञ्जार्बुदम्।

शरत्कृश–कलिन्दजापुलिनवृन्द संवर्द्धितं

परिस्फुरति चन्द्रकस्थगितमद्य वृन्दावनम्।।[1]

इस प्रकार रूपगोस्वामी की रचना शैली में सादगी और सरलता के साथ ही विस्तृतता और श्लिष्टता की झलक भी देखी जा सकती है। ब्रज की माधुर्यमयी शोभा प्रदर्शित कर रूपगोस्वामी गौड़देशीय परम्परा के प्रभाव में संस्कारवश ओजःप्रधान गौड़ी बन्ध से अनुप्राणित हुये भी दृष्टिगत होते हैं।

रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में गद्यभाग में भी वृत्तिगन्धि की छटा देखी जा सकती है। दानकेलिकौमुदी में यथा –

सुधा सिन्धौ साध्वी	–	शिखरिणी	–	पृ. 288
लवारम्भे रम्भे	–	शिखरिणी	–	पृ. 189
आहूताः पञ्चदेव्यः	–	स्रग्धरा	–	पृ. 203
उद्घाटयन्ती मणितुं प्रवृत्ता	–	इन्द्रवज्रा	–	पृ. 207
अलमनया हठरङ्रक्षया	–	मालिनी	–	पृ. 278

अन्य नाट्यकृतियों में भी वृत्तिगन्धि देखी जा सकती है। रूपगोस्वामी ने कहीं–कहीं पर प्रहेलिका तथा कूट पथों का भी प्रयोग किया है जिससे भारवि की अलङ्कृत शैली का आभास होता है यथा –

मम व्याहर वृन्दे प्रहेलिकां दीपप्रहेलिविज्ञाने।

प्रियसखि किमभिख्यया लक्ष्यते माधवो भुवने।।[2]

कूट पथों के प्रयोग में भी कवि की प्रतिभा प्रशंसनीय मानी जा सकती है। राधा

---

1. विदग्धमाधव – षष्ठ अङ्क – श्लोक–3
2. विदग्धमाधव नाटक – सप्तम अङ्क – श्लोक–23

के पास प्रणय पत्र सम्प्रेषित करते हुये श्रीकृष्ण कूट शैली का प्रयोग करके राधा को अपने समीप बुलाने की चेष्टा करते हैं यथा –

त्वयामुक्तगिरिः पाणौ ममातुच्छपदस्थितिः।

निधीयतमधीराक्षि रागिधातु परिच्छदः।।[1]

दानकेलिकौमुदी में कूट पथों का प्रयोग अत्यन्त सराहनीय माना जा सकता है। राधा को 'परार्द्ध' रूप में प्राप्त करने की अभिलाषा प्रकट करते हुये कृष्ण कहते हैं –

गदितुमधिकमार्यापारिषद्यास्तवाग्रे

कथमुचितमथेष्टं केवलं मे परार्द्धम्।

इह यदि तदभावं वक्षि किं तत्र कुर्यां

भवतु मयि परार्द्ध न्यस्य शिष्टाः प्रयान्तु।।[2]

कोमल पद शय्या के प्रयोग में भी नाटककार की प्रतिभा प्रभूत रूप से निखरी हुई प्रतीत होती है यथा –

हा नेत्रनिन्दितकलिन्दसुतारविन्द

गोविन्द गोकुलपुरन्दरनन्दनाद्याः

मां रक्ष रक्षत रसेति कृतार्त्तनादां

राधामधीरनयनां नहि विस्मरामि।।[3]

विदग्धमाधव में यथा –

अयं पुर : स्मेर–मुखारविन्दः प्रयाणलीलाकृतकुम्भिनिन्दः।

कलेवरद्योतिह्रताक्षितन्द्रश्चन्द्रावलीं विन्दति कृष्णचन्द्रः।।[4]

आनुप्रासि की तुकान्त पदावली का प्रयोग निम्न श्लोक में द्रष्टव्य है –

वदनदीप्ति–विधूत–विधूदया, कुमुद–धामधुरामधुरस्मिता।

नखजितोडुरियं हरिणेक्षणा, तृणयति क्षेत्रणदामुखमाधुरीम्।।[5]

---

1. विदग्धमाधव नाटक – षष्ठ अङ्क – श्लोक–2
2. दानकेलिकौमुदी – श्लोक–94
3. ललितमाधव – द्वितीय अङ्क – श्लोक–33
4. विदग्धमाधव – सप्तम अङ्क – श्लोक–9
5. विदग्धमाधव – द्वितीय अङ्क – श्लोक 26

रूपगोस्वामी ध्वनि प्रयोग में भी अत्यन्त निष्णात माने जा सकते हैं। शाब्दी ध्वनि का प्रयोग निम्नलिखित श्लोक में अवलोकनीय है –

कर्णोत्तंसितरक्तपङ्कजजुषो भृङ्गीपतेर्झङक्रिया

भ्रान्तेनाद्य दृग ञ्चलेन दधती भृङ्गावली विभ्रमम्।

त्रासान्दोलितदोर्लतान्तविचलच्चूडाझणत्कारिणी

राधे व्याकुलतां गतापि भवती मोदं ममाधास्यति।।[1]

प्रस्तुत श्लोक में ध्वनि के द्वारा भ्रमर और चूडा के झङ्कृति रूप अर्थ की अभिव्यक्ति की गयी है।

इसी प्रकार विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण को धमकाती हुई मुखरा व्यंजना द्वारा मधुपुरी (मथुरा) जाकर कंस द्वारा उन्हें दण्डित कराने की धमकी देती है।

'ततोऽहं निर्दोषा पथिकियति हंहो मधुपुरी'[2]

रूपगोस्वामी की शब्दयोजना पूर्णतया सरल, सहस और व्यवहारिक है। उन्हें शब्दों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था इसीलिए जहां जैसा चाहते थे वैसा वह प्रयोग करते थे। सिंह के लिए पारीन्द्र, नवदल के लिए संवर्तिका, गूलर के लिए भाण्डीर, उपासना के लिए वरवसित, श्रुतम् के लिए कर्णयौः प्राङ्गणमधिरूढम्, कृष्ण के लिए दर्वीकरादिकेतु, श्रेष्ठ गौ के लिए नैचिकी आदि विविध शब्दों का नवीनतम प्रयोग उन्होंने किया है।[3] देशी शब्दों के प्रयोग में भी वह अत्यन्त पटु थे। विदग्ध के लिए उन्होंने 'छइल्ल' शब्द का अनेकशः प्रयोग किया है।[4] इस प्रकार ऐसे अनेक शब्द उल्लेखनीय हैं जिनका रूपगोस्वामी ने अपनी नाट्यकृतियों में बहुधा प्रयोग किया है। दानकेलिकौमुदी में भी ऐसे शब्द द्रष्टव्य हैं।

बलात्करोतु (पृ. 239), फूत्कृति (237), चातुरिक (104), भुजङ्गेश (106), जैनदीक्षा (111), उत्कोच (121), महावारी (127), नागरनाग (131), उरूसैवा (139), कीर्तिदा (राधा की मां) (165), पुलागप्रिया, पुन्नागप चमी (186) व्यभिचारिष्णुता (284), साधपन्तु (287),

1. विदग्धमाधव – पंचम अङ्क – श्लोक 44
2. विदग्धमाधव – चतुर्थ अङ्क – श्लोक 50
3. ललितमाधव – रूपगोस्वामी
4. दानकेलिकौमुदी – पृ. 254, वि. मा. – पृ. 124, 127

रङ्गिलपुङ्गव (272), सप्ततन्तु, नवतन्तुक (यज्ञोपवीतधारी) (269), परार्द्ध (271) धर्मधुरीण (242), खट्वारूढ़ा (223), तुरङ्गब्रह्मचर्य (167), सद्भनर्दिनि–128, गन्धफली (चम्पा) इत्यादि।

इस प्रकार रूपगोस्वामी शब्दों के प्रयोग में अत्यन्त प्रवीण माने जा सकते हैं।

भावसाम्य

विवेच्य नाट्यकृतियों में रूपगोस्वामी ने यत्र–तत्र कालिदास और भवभूति का भावसाम्य भी ग्रहण किया है।

विदग्धमाधव में 'छिन्नः प्रियोमणिसरः सखि मौक्तिकनि'[1] – प्रस्तुत पद्य में रूपगोस्वामी ने कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम में उद्धृत 'दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे .... शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्'[2] इस पद्य का भाव पूर्ण रूप से ग्रहण किया है। इन दोनों श्लोकों में नायिका की चेष्टाओं का वर्णन नायक के द्वारा किया गया है। दोनों ही श्लोकों में एक ही वसन्ततिलका छन्द है। अन्तर यदि है तो केवल वापस होकर नायक को देखने के बहाने में। वह यह कि शकुन्तला ने यदि पैर में कुश चुभने और वृक्ष की शाखा में आंचल उलझने का बहाना बनाया था, तो राधा ने मुक्तावली के गिरने से विकीर्ण मुक्ताफलों को चुनने का बहाना बनाया है। इस प्रकार दोनों ही श्लोकों में भावसाम्यता द्रष्टव्य है।

नायिका के सौन्दर्य वर्णन में रूपगोस्वामी ने कालिदास के उत्तरमेध में उद्धृत 'तन्वीश्यामाशिखरिदशनापक्वबिम्बाधरोष्ठी' का भी अपने निम्नलिखित श्लोक में पूर्णतया अनुकरण किया है – यथा

सेयं मुग्धे शिखरदशना पद्मरागाघरोष्ठी
राजन्मुक्ता स्मितमधुरिमा चन्द्रकान्तस्य बिम्बा।
उद्दीप्रेन्दोपलकरुचिः पश्य ही राधिकेति
त्यक्तुं युक्ता न किल तरुणी रत्नमाला महिष्ठा।[3]

1. विदग्धमाधव – तृतीय अङ्क – श्लोक 3
2. अभिज्ञान शाकुन्तलम् – कालिदास – द्वितीय अङ्क – श्लोक 12
3. दानकेलिकौमुदी – श्लोक 49

प्रस्तुत श्लोक में रूपगोस्वामी ने कालिदास का न केवल भाव ग्रहण किया है अपितु उनके ही कुछ शब्दों का यथावत् प्रयोग किया है।

रूपगोस्वामी ने कालिदास के 'वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः'[1] – का भी भाव साम्य निम्नलिखिल श्लोक में ग्रहण किया है –

नमौक्तो ममनिर्मितोरूपरमानन्दोत्सवायामपि

श्रीत्रस्थान्तटीमपि स्फुटमनाधाय स्थितोद्यन्मुखी।

राधा लाधवमप्यसादरगिरां भङ्गीभिरातान्वती

मैत्रीगौरवतोऽप्यसौ शतगुणं मत्प्रीतिमेवादधे।[2]

रूपगोस्वामी ने कालिदास के 'न विकृतो मदनो न च संकृतः'[3] का भी भाव अपने इस पद्य में ग्रहण किया है –

मम संगमामृतरसं न जिघृक्षति न च जिहासति प्रकटम्

जटिलाव्याघ्रीचकिता तृषिता राधाकुरङ्गीयम्।[4]

दानकेलिकौमुदी में राधा के राज्याभिषेकोत्सव के समय देवताओं द्वारा प्रदान किये उपहारों के सन्दर्भ में भी रूपगोस्वामी ने कालिदास का अनुकरण किया है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में जिस प्रकार शकुन्तला की विदाई के समय वृक्ष आदि से राज्याभिषेकोत्सव के समय विविध प्रकार के उपहार भेंट किये गये थे ठीक उसी प्रकार राधा को भी उसमें आभूषण के रूप में अनेक उपहार प्राप्त होते हैं – यथा –

पादमीं पद्मभुवः स्रजं प्रणयिनी सौवर्णपट्टं शची

रत्नालङ्करणं कुबेरगृहिणी छत्रं प्रचेतः प्रियः।

द्वन्द्वं चामरयोः प्रभ जनवधूः स्वाहा दुकूलद्वयं

धूमोर्णा मणिदर्पणं सरभसं मत्पाणिना प्राहिणोत्।।[5]

---

1. अभिज्ञान शाकुन्तलम् – कालिदास – प्रथम अङ्क – श्लोक–1
2. दानकेलिकौमुदी – श्लोक–74
3. अभिज्ञान शाकुन्तलम् – कालिदास – द्वितीय अङ्क – श्लोक–11
4. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – पंचम अङ्क – श्लोक–54,
5. दानकेलिकौमुदी – श्लोक – 78, अन्य 82

प्रस्तुत श्लोक में कालिदास के 'क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा'(1) की स्पष्ट भाव प्रतीति होती है। दोनों जगह शार्दूलाविक्रीडित छन्द प्रयुक्त हुआ है। रूपगोस्वामी ने कालिदास के 'गाहन्तां महिषा निपानसलिलं'(2) का अनुकरण दानकेलिकौमुदी के 'सार्द्ध वल्लीवधूभिर्विलसतसुखिनः शाखिनो भूरि फुल्ला'(3) – इत्यादि श्लोक में किया है। शाकुन्तलम् जहां महिषा, मृग और वराह का वर्णन है वहां रूपगोस्वामी अपने पद्य में वृक्ष, पक्षि, भ्रमर, पशुवृन्द, सेनाध्यक्ष आदि का वर्णन करते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि रूपगोस्वामी ने कालिदास का पर्याप्त अनुकरण किया है। भावसम्यता की दृष्टि से ही नहीं अपितु वस्तु निबन्धन की दृष्टि से भी कालिदास को रूपगोस्वामी का प्रेरणाप्रद नाटककार माना जा सकता है।

रूपगोस्वामी ने भवभूति का भी अनुकरण किया है। उनके पद्यों की भावछाया रूपगोस्वामी की कृतियों में भी द्रष्टव्य है।

जगति किल विचित्रे कुत्रचिन्निश्चलात्मा
भवति निरभिसन्धिः कस्यचित्प्रेमबन्धः।
विलसति समुदीर्णे कुम्भजे खञ्जनाली
कलितवति तथास्तं हन्त नाशं प्रयाति।(4)

प्रस्तुत पद्य में भवभूति के उत्तररामचरितम् में उद्धृत 'व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः' – इस पद्य की भाव छाया स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। स्वाभाविक प्रेम किसी बाह्य उपाय की आकाङ्क्षा नहीं करता, यह दोनों की भावसभ्यता है।

सुन्दर पदावली के प्रयोग में रूपगोस्वामी ने जयदेव के 'गीतगोविन्द' का भी अनुकरण किया है। रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में कहीं–कहीं पद्यों की एकरूपता भी देखने को मिलती है। निम्नलिखित पद्य का प्रयोग रूपगोस्वामी ने विदग्धमाधव और ललितमाधव दोनों नाटकों में किया है। यथा –

---

1. अभिज्ञान शाकुन्तलम् – कालिदास – चतुर्थ अङ्क – श्लोक–5
2. अभिज्ञान शाकुन्तलम् – कालिदास – द्वितीय अङ्क – श्लोक–6
3.
4. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – पंचम अङ्क – श्लोक–3

स हरिति भवतीभिः स्वान्तहारी हरिण्यो

हरिरिह किमपाङ्गातिथ्यसङ्गी व्यधायि।

यदनुरणितवंशीकाकलीभिर्मुखेभ्यः

सुखतृणकवला वः साभिलीढाः स्खलन्ति।।[1]

ललितमाधव में भी यही पद्य उद्‌घृत हुआ है। केवल 'सहरिति' के स्थान पर 'हरि हरि' का प्रयोग किया गया है। शेष सभी पद वहीं है। प्रसङ्ग भी दोनों का एक जैसा है। राधा हरिणों से कृष्ण सम्बन्धी सूचना पूंछती है।

इस प्रकार रूपगोस्वामी भाषा, भाव, शैली के प्रयोग में एक अत्यन्त कुशल नाटककार माने जा सकते हैं। उन्होंने अपनी नाट्यकृतियों में गुण, रीति और वृत्तियों का भी प्रयोग किया है। विशेष रूप से रूपगोस्वामी माधुर्य तथा प्रसाद गुण, वैदर्भी रीति और कौशिकी वृत्ति के सफल प्रयोक्ता हैं। उन्होंने वृत्तियों का शास्त्रीय निरूपण भी किया है जो नाटकचन्द्रिका में द्रष्टव्य है।[2] उनकी नाट्यकृतियों में भारती, आरभटी, सात्वती तथा कौशकी वृत्तियों का समुचित सन्निवेश किया गया है।

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – षष्ठ अङ्क – श्लोक–27
2. नाटकचन्द्रिका – रूपगोस्वामी – का. 150 से 266

(ii) अलङ्कार योजना

काव्य के शोभाविधायक धर्मों के काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने अलङ्कारों को एक महत्वपूर्ण अङ्ग माना है। आचार्य रूपगोस्वामी का आर्ययत्व समूचे साहित्य समाज में नाट्यशास्त्रीय आचार्य के रूप में अत्यन्त प्रख्यात है। काव्य के दृश्यपक्ष के शास्त्रीय निरूपण में उनका अप्रितम योगदान माना जा सकता है। काव्यशास्त्र के श्रव्य क्षेत्र में रूपगोस्वामी पूर्णतया मौन प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि उनके शास्त्रीय ग्रन्थों में अलङ्कार सम्बन्धी शास्त्रीय चर्चा नहीं की गयी। काव्य के शास्त्रीय पक्ष में मौन रहकर भी रूपगोस्वामी काव्य प्रणयन में अपने अपूर्व कवित्व–कौशल को प्रदर्शित करते हैं।

रूपगोस्वामी की आलोच्य नाट्यकृतियों में श्लोकों की संख्या अत्यन्त बहुल होने के कारण साहित्यशास्त्र में मान्य प्रायः शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों प्रकार के अलङ्कारों का समुचित संविधान किया गया है। उनकी नाट्यकृतियों में अलङ्कारों की छटा न केवल पद्य भाग में अपितु गद्य भाग में भी अवलोकनीय है। उनके विदग्धमाधव नाटक में श्लोकों की कुल संख्या 347, ललितमाधव में 452 और दानकेलिकौमुदी में श्लोकों की कुल संख्या 99 है। इस प्रकार इतने बहुल श्लोक प्रधान नाटकों में रूपगोस्वामी ने अनेक अलङ्कारों का प्रयोग किया है। इनमें अनुप्रास, यमक, श्लेष, शब्दालङ्कारों में तथा रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति स्वभावोक्ति, दृष्टान्त, निदर्शना, एकावली आदि अर्थालङ्कारों में प्रमुख रूप से प्रयुक्त किये गये हैं। उक्त समस्त अलङ्कारों में रूपक अलङ्कारों के प्रयोग में ऐसा प्रतीत होता है कि रूपगोस्वामी अपने नाम की सार्थकता सिद्ध करना चाहते हैं। रूपक अलङ्कार का जितना सहज और स्वाभाविक वर्णन इनकी नाट्यकृतियों में दृष्टिगत होता है उतना सम्भवतः संस्कृत साहित्य के किसी कवि की काव्य रचना में होना दुर्लभ है। वस्तुतः रूपगोस्वामी को 'रूपक सम्राट' की उपाधि से अलङ्कृत करना सर्वथा समीचीन सिद्ध होगा। रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में उनकी स्वाभाविक अलङ्कारप्रियता का निदर्शन उनके ही शब्दों में व्यक्त हुआ है – यथा –

भक्तानामुदगादनर्गलधियां वर्गो निसर्गोज्जवलः

शीलैः पल्लवितः स बल्लववधूबन्धोः प्रबन्धोऽप्यसौ।

लेभे चत्वारतां च ताण्डवविधेर्वृन्दाटवीगर्भभू –

र्मन्ये मद्विवधपुण्यमण्डलपरीपाकोऽयमुन्मीलति।।[1]

प्रस्तुत श्लोक में 'द्वितीय पंक्ति का अभिप्राय यह प्रकट करता है कि रूपगोस्वामी ने अपनी गोपीवल्लभ श्रीकृष्णमयी विदग्धमाधव नामक प्रबन्ध रचना में स्वाभावोक्ति अलङ्कार का विस्तार किया है।

अब हम रूपगोस्वामी को 'रूपक सम्राट' की सार्थकता सिद्ध करने के सन्दर्भ में कतिपय उद्धरण प्रस्तुत करते हैं जिनके आधार पर उनकी रूपक अलङ्कार प्रियता प्रमाणित हो सकती है।

रूपगोस्वामी के नाटकों का आरम्भ और अवसान सामान्यतः रूपक अलङ्कार में ही होता है। विदग्धमाधव की नान्दी में हरिलीला पर शिखरिणी का आरोप अत्यन्त शोभन है। इसी प्रकार ललितमाधव की नान्दी में 'यश' पर 'शशि' का आरोप मनोहारी माना जा सकता है।

विदग्धमाधव में, मुकुन्दमोहन श्रीकृष्ण की मुरली की मधुर ध्वनि का वर्णन करते हुए कवि राधा के ऊपर तज्जन्य प्रभाव का रूपक प्रस्तुत करता है –

यथा –

एक स्थैर्यभुजङ्गसङ्घदमनासङ्गे विहङ्गेश्वरो

व्रीडाव्याधिधुराविधूननविधौ तन्वङ्गिधन्वन्तरिः।

साध्वीगर्वभराम्बुराशिचुलुकारम्भे तु कुम्भोद्भवः

कालिन्दीतटमण्डलीषु मुरलीतुण्डाद्ध्वनिर्धावति।।[2]

उक्त श्लोक में रूपक अलङ्कार के द्वारा स्थिरता पर भुजङ्ग का, व्रीडा पर लज्जा का और पतिव्रताभिमान पर समुद्र का आरोप करके मुरली की ध्वनि पर क्रमशः विहङ्गेश्वर (गरुण), धन्वन्तरि और कुम्भोद्भव (अगस्त्य) का आरोप किया गया है। इस प्रकार यहां रूपक अलङ्कार के माध्यम से मुरली की ध्वनि के विलक्षण प्रभाव का वर्णन

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – प्रथम अङ्क – श्लोक–8
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – प्रथम अङ्क – श्लोक–37

किया गया है।

विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण के रूपसौन्दर्य का वर्णन करती हुई राधा उनके वक्षस्थल पर तट समूह का, धैर्य पर नदी की बाढ़ का, मुख मण्डल पर चन्द्रमा का कृष्ण की दोनों भुजाओं पर अभिचार यज्ञ के दो यूपों का और कृष्ण के कटाक्ष पर सर्पिणी का आरोप करके उनके अद्भुत रूपमाधुरी का रूपक प्रस्तुत किया गया है।[1]

एक अन्य श्लोक में, राधा के प्रति श्रीकृष्ण की विमुखता का वर्णन करती हुई पौर्णमासी राधा के ऊपर नदी का, कृष्ण के ऊपर समुद्र का, पति के ऊपर वृक्ष का, गुरुजन के ऊपर पर्वत का और कृष्ण के वचनों के ऊपर लहर का आरोप करके कृष्ण से यह कहती है कि जिस प्रकार नदी मार्गवर्ती वृक्षों की परवाह न करके पर्वतों को लांघती हुई समुद्र में जाकर मिलती है किन्तु समुद्र की तरङ्गे उसे लौटाने लगती हैं, उसी प्रकार अपने स्वामी को छोड़कर गुरूजनों के आदेश का अतिक्रमण करके राधा तुम्हारे पास आसक्त होकर आयी है किन्तु तुम अपनी विमुखता प्रदर्शित करके उसे निराश मत करो।[2]

इसी प्रकार राधा के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कृष्ण उसके भ्रूगुच्छ पर कालियनाग का, कटाक्ष पर धेनुक का और वेणी पर प्रलम्ब नामक असुर का आरोप करके, कहते हैं कि पहले श्रीकृष्ण ने कालिय, धेनुक और प्रलम्ब नामक जिन असुरों को पराजित किया था वही सम्प्रति राधा के भ्रूगुच्छादि पर सेवा करते हुए उनसे प्रतिशोध लेने के लिये पराजित कर रहे हैं।[3]

ललितमाधव में राधा के सौन्दर्य का वर्णन करते हुये श्रीकृष्ण के द्वारा रूपगोस्वामी ने अद्भुत रूपक का प्रस्तवन किया है –

यथा –

यस्याः शैवलमञ्जरीविरचितासङ्गं रथाङ्गद्वयं

फुल्लं पङ्कजपञ्चकञ्च विसयोर्युग्मञ्च मूले नतम्।

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – द्वितीय अङ्क – श्लोक–45
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – तृतीय अङ्क – श्लोक–9
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – तृतीय अङ्क – श्लोक–42

उन्मीलत्यतिचञ्चलं सशफरीद्वन्द्वं व्रजे भ्राजते

सेयं शुद्धतरानुरागपयसा पूर्णा पुरो दीर्घिका।।[1]

इस प्रकार आलोच्य नाट्यकृतियों में रूपक अलङ्कार के उद्धरण प्रायः सर्वत्र ही परिलक्षित होते हैं। रूपक के प्रयोग में रूपगोस्वामी का ज्ञान सार्वलौकिक रूप में प्रतीत होता है। उनका पौराणिक–पाण्डित्य अत्यन्त प्रकर्षपूर्ण है जिसके आधार पर वह रूपक की अद्भुत कल्पना करते हैं। अतः उन्हें 'रूपक सम्राट' की संज्ञा से अभिहित करना सर्वथा समुचित है।

रूपगोस्वामी एक ही श्लोक में अनेक अलङ्कारों की योजना करने में भी निष्णात माने जा सकते हैं। यथा –

अप्रौढ़द्विजराजराजदलिका लब्ध्वा विभूतिं रूचां

नव्यामात्मनि कृष्णवर्त्मविलसद्दृष्टिं विशाखाञ्चिता।

कन्दर्पस्य विदग्धतां विदधती नेत्राञ्चलस्य त्विषा

त्वं राधे शिवमूर्तिरित्युरसि मां भोगीन्द्रमङ्गी कुरु।।[2]

प्रस्तुत श्लोक में अनुप्रास, यमक, श्लेष, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षादि अलङ्कारों का एक साथ विन्यास देखा जा सकता है।

अनुप्रास और श्लेष अलंकार की छटा निम्नलिखित श्लोक में अवलोकनीय है –

मधुराक्षि मुधाथ संभ्रमेण क्षिप चेलाञ्चलमञ्जसा न भूयः

पिबत श्रवणोत्पलोद्गतं ते मधुपोऽयं मधुमङ्गलं कृशाङ्गि।।[3]

रूपगोस्वामी शब्दालङ्कार में अनुप्रास और श्लेष के प्रयोग में अत्यन्त पटु हैं। श्लेष अलङ्कार का सर्वोत्तम उदाहरण निम्न श्लोक में स्तुत्य है।

चञ्चन्मीनिविलोचनासि, कमठोत्कृष्टस्तनी संगता

क्रोडेन स्फुरता तवायमधरः प्रहलादसंवर्द्धनः

---

1. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – प्रथम अङ्क – श्लोक–54
2. दानकेलिकौमुदी – श्लोक – 43
3. विदग्धमाधव – पंचम अङ्क – श्लोक 45

मध्योऽसौ बलिबन्धनो, मुखरुचा रामास्त्वया निर्जिता

लेभे श्रीघनताद्य, मानिनि मनस्यङ्गीकृता कल्किता।।[1]

यहां श्लिष्ट पदावली में श्रीकृष्ण ने राधा के सौन्दर्य का वर्णन करने के व्याज से अपने दशावतारों का निर्देश किया है।

पूर्णोपमा अलङ्कार का श्लिष्ट पदावली के द्वारा सुललित उद्धरण प्रस्तुत्य हैं। यथा –

विरतेर्मिरियं सुनीरजा धृतशुद्धोज्जवलसत्वसंततिः

स्फुटकृष्णरुचिर्यमादृता मुनिगोष्ठीव चकास्ति भानुजा।।[2]

यहां यमुना की उपमा मुनिगोष्ठी से प्रस्तुत की गयी है। इस पूर्णोपमा के द्वारा कृष्ण के प्रति राधा के आक्रोश की समाप्ति और मानभङ्ग के कारण अनुकूलता भी ध्वनित हो रही है क्योंकि भानुजा पद श्लिष्ट है जिसका अर्थ रवितनया और वृषभानवी श्रीराधा भी होता है।

उत्प्रेक्षा अलङ्कार के प्रयोग में भी नाटककार रूपगोस्वामी की प्रतिभा प्रशंसनीय मानी जा सकती है। यथा –

श्रेणीभूतवपुः श्रियामभिमुखे गोमण्डलीनां क्रमा –

दासां स्फाटिकगण्डशैलपटलीपाण्डुत्विषां व्याजतः।

शङ्के ज्ञातगुणा पुरन्दरपुराच्चस्कन्दमन्दाकिनी

वृन्दारण्यविहारिधन्ययमुना सेवाप्रमोदायिनी।।[3]

प्रस्तुत श्लोक में वृन्दावन में विचरण करने वाले विमल विभा वाले गोमण्डलों में 'आकाश गङ्गा' की उत्प्रेक्षा की गयी है। यहां उपमा अलङ्कार भी अवलोकनीय है। गायों की श्वेतशोभा उसी प्रकार है जैसे आंधी के झोके से धाराशायी स्फटिक की बड़ी चट्टानों की शुभ्र कान्ति हो।

दृष्टान्त अलङ्कार की दक्षता भी रूपगोस्वामी के नाटकों में द्रष्टव्य है –

---

1. विदग्धमाधव – चतुर्थ अङ्क – श्लोक 41, अन्यत्र – 42
2. विदग्धमाधव – पंचम अङ्क – श्लोक 40
3. विदग्धमाधव – प्रथम अङ्क – श्लोक–18

यथा –

ममास्मिन्संदर्भे यदपि कविता नातिललिता
मुदं धास्यन्त्यस्यां तदपि हरिगन्धाद्बुधगणाः।
अपः शालग्रामाप्लवनगरिमोद्गारसरसाः
सुधी को वा कौपीरपि नमित मूर्धा न पिबति।।[1]

समासोक्ति अलङ्कार के प्रयोग में भी रूपगोस्वामी का प्रयास सराहनीय माना जा सकता है। राधा और कृष्ण के परस्पर अनुराग को रक्ता सन्ध्या और 'दिनमणि' के ब्याज से व्यक्त करते हुये पौर्णमासी कहती है –

प्रणयिषु मिलितेषु प्रेमभाजामुपेक्षा
घटयति कटुपाकान्युच्चकैर्दूषणानि।
दिनमणिरनुरागी प्रोज्भय संध्यां हि रक्तां
तमसि निखिलमुग्रे मञ्जयत्येष लोकम्।।[2]

रूपगोस्वामी ने मुद्रालंकार का भी सार्थक प्रयोग किया है। अपनी नाट्यकृतियों में उन्होंने अपने अग्रज 'सनातन' की वन्दना मुद्रालंकार के माध्यम से की है। इनके उदाहरण द्रष्टव्य हैं।[3]

रूपगोस्वामी ने कहीं–कहीं एकावली का भी प्रयोग किया है –

यथा –

वृन्दावनं दिव्यलतापरीतं लतास्तु पुष्पस्फुरिताग्रभाजः।
पुष्पाण्यपि स्फीतमधुव्रतानि मधुव्रताश्च श्रुतिहारिगीताः।[4]

अनुप्रास और यमक का सुललित वर्णन निम्नलिखित श्लोक में द्रष्टव्य है –

कर्णालङ्कृत कमला कुन्तलवेणीशिखाच्चलत्कमला।
करकमलाश्रितकमला विडम्बयत्यलमसौ कमलाम्।।[5]

---

1. विदग्धमाधव – प्रथम अङ्क – श्लोक–4
2. विदग्धमाधव – तृतीय अङ्क – श्लोक 11
3. विदग्धमाधव – 1/7, दा. के. कौ. श्लोक–7, अन्य श्लोक–12
4. विदग्धमाधव – द्वितीय अङ्क, श्लोक–24
5. वि. मा. – स. अं. श्लोक 32

इस प्रकार रूपगोस्वामी द्वारा प्रयुक्त अलङ्कारों के उपर्युक्त विवेचन है यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने अपनी नाट्यकृतियों में सामान्यतः सभी प्रकार अलङ्कारों का समुचित सन्निवेश किया है। विस्तारमय से यहां कतिपय उद्धरण ही प्रस्तुत करके उनकी अलङ्कारप्रियता का परिचय मात्र कराया गया है। उनकी नाट्यकृतियों में उपर्युल्लिसित अलङ्कारों के अतिरिक्त भी बहुत से अलङ्कार प्रयुक्त हुए हैं जिनमें सन्देह, भ्रान्तिमान, निदर्शना, व्याजस्तुति, व्याजोक्ति, अतिशयोक्ति, आक्षेप विभावनादि अलङ्कार मुख्य माने जा सकते है। वस्तुतः रूपगोस्वामी अलङ्कारों के प्रयोग में पूर्णतया सिद्धहस्त माने जा सकते है।

(iii) छन्द विधान

छन्दों के प्रयोग में रूपगोस्वामी अत्यन्त पटु प्रतीत होते है। उन्होंने अपनी नाट्यकृतियों में छोटे–बड़े कुल छन्द मिलाकर लगभग 45 प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। उनकी एक कृति 'अष्टादश छन्दस' से यह आभास होता है कि उन्होंने छन्दों के प्रयोग मे भी पर्याप्त रूचि प्रदर्शित की है। रूपगोस्वामी शार्दूल विक्रीडित और शिखरिणी छन्द के प्रयोग में पूर्णतया निष्णात हैं। इसके लिए उन्हें जैसे रूपक अलङ्कार के प्रयोग में 'रूपक सम्राट' की उपाधि से विभूषित किया जा सकता है वैसे ही 'शार्दूल शिखरिणी शेखर' की संज्ञा से अभिहित करना अनुचित न होगा। श्लोकों की दृष्टि से रूपगोस्वामी ने जिन छन्दों का जितनी संख्या में प्रयोग किया है उनका क्रमिक आकलन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है।

विदग्धमाधव नाटक में शार्दूल विक्रीडित–75, शिखरिणी–62, वसन्त–तिलका–36, मालिनी–22, मन्दाक्रान्ता–12, पृथ्वी–7, हरिणी–7, वंशस्थ–2, प्रहर्सिणी–2, द्रुतविलम्बित–2, रथोद्धता–1, इन्द्रवज्रा–1, स्रग्धरा–1, उपेन्द्रवज्रा इन छन्दों के अतिरिक्त रूपगोस्वामी ने आर्या छन्द का और उसके अन्य भेदों का बहुतायत प्रयोग किया है तथा अनुष्टुप, सुन्दरी इत्यादि अन्य छन्दों का भी प्रयोग किया गया है।

ललितमाधव नाटक में रूपगोस्वामी ने शार्दूलविक्रीडित–79, शिखरिणी–51, वसन्ततिलका–54, मालिनी–35, पृथ्वी–31, मन्दाक्रान्ता–30, हरिणी–12, वियोगिनी–11, स्रग्धरा–11, पुष्पिताग्रा–9, मालभारिणी–7, द्रुतविलम्बित–6, प्रहर्सिणी–5, रथोद्धता–4, इन्द्रवज्रा–4, उपेन्द्रवज्रा–2, स्वागता–1 तथा आर्या आदि अन्य छन्दों का बहुघा प्रयोग हुआ है।

दानकेलिकौमुदी भाणिका में शार्दूलविक्रीडित–18, पथ्यावक्त्रम्–10, शिखरिणी–7, पृथवी–5, वसन्ततिलिका–5, मालिनी–5, रथोद्धता–4, मन्दाक्रान्ता–4, पुष्पिताग्रा–3, इन्द्रवज्रा–2, हरिणी–2, द्रुतविलम्बित–2, मालभारिणी–2, उपगीति–2, आर्यापथ्याचूर्णा–2, आर्यापथ्याघारी–2, इन्द्रवंशा–2 तथा रताख्यानकी, कुमारललिता, सुन्दरी, शीलातुरा, आर्यापथ्याक्ष्मा, आर्यायुग्मविपुला, आर्यापथ्याकान्ति, चपलावक्त्रम्, गाहादैही, प्रेमा उपजाति,

गीतिप्राकृतिक, आर्याजघनचपला, आर्यापथ्यागौरी, गाथाकान्ति, गीति, उपजातिमाला, उपमेया आदि छन्दों का भी एक–एक बार प्रयोग किया गया है।

छन्दोविधान के क्षेत्र में रूपगोस्वामी ने आर्याछन्द के विविध रूपों को प्रयुक्त किया है। छन्दों के प्रयोग में वह प्रायः सतर्क हुए से प्रतीत होते है। उन्होंने अपनी नाट्यकृतियों में मुद्रालंकार के माध्यम से छन्दों को प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जिससे उनकी छन्दोप्रियता का स्पष्ट रूप से दिग्दर्शन हो जाता है। इनके कुछ उदाहरण अवलोकनीय है।

विदग्धमाधव की नान्दी में शिखरिणी छन्द का प्रयोग करते हुए नाटककार रूपगोस्वामी श्लोक के चतुर्थ चरण में 'प्रणीतां तै तृष्णां हरतु हरिलीलाशिखरिणी' का प्रयोग करके शिखरिणी छन्द की साक्षात् अवतारणा करते हैं।

शार्दूलविक्रीडित छन्द क प्रत्यक्ष दर्शन ललितमाधव नाटक में भी द्रष्टव्य है।

श्रीकृष्ण द्वारा संवर्द्धित पशु–पक्षियों का वर्णन करती हुई यशोदा कहती हैं –

यः पारीपरिवाहितैन कपिलाक्षीरेण खिन्नस्तत्वया
पुष्टः प्रेमभराद्विनष्टजननीसङ्गः कुरङ्गीशिशुः।
त्वामप्रेक्ष्य स कातरः प्रतिदिशं मुक्तार्तनादातुदन्
मर्माणि व्रजवासिनां वितनुते शार्दूलविक्रीडितम्।।[1]

प्रस्तुत श्लोक में 'शार्दूलविक्रीडितम्' का प्रयोग श्लिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

ललितमाधव में मन्दाक्रान्ता छन्द का स्पष्ट रूप से नामोल्लेख अवलोकनीय है।

यथा – विद्योतन्ते गुणपरिमैलयां समस्तोपविष्टा –
स्ताः कस्यार्ति दघति न खलस्पर्शदग्धाः कुमार्यः।
भ्योभृयः स्वयमनुपमां क्लान्तिमासादयन्ती –
मन्दाक्रान्ता भवति जगतः क्लेशदात्री हि चिन्ता।।[2]

पुष्पिताग्रा छन्द के प्रयोग में भी कवि की प्रतिभा प्रशंसनीय मानी जा सकती है।

---

1. ललितमाधव – रूपगोस्वामी, दशम अङ्क, श्लोक–15
2. ललितमाधव – रूपगोस्वामी, द्वितीय अङ्क, श्लोक–9

यथा –

इयमतितृषितं वरानुरागोज्ज्वलसुमनाः कमनीयपत्रलेखा।

मम वरतनुराचकर्ष चित्तं मधुपमशोकलतेव पुष्पिताग्रा।।[1]

इस प्रकार रूपगोस्वामी द्वारा प्रयुक्त छन्दों के उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने छन्दों का प्रयोग बहुत ही सोच समझकर किया है। जहां जैसे भाव उन्होंने देखा है वहां तदनुकूल छन्दों का भी प्रयोग किया है। यह उनके प्रतिभा विलास की पटुता मानी जा सकती है।

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – षष्ठ अङ्क – श्लोक–15

(iv) प्रकृति चित्रण

प्रकृति और मानव का परस्पर तादात्म्य चिरकाल से अत्यन्त प्रख्यात है। प्रकृति मानव की चिरसंगिनी ही नहीं अपितु प्रियदर्शिनी भी है। रूपगोस्वामी ने अपनी नाट्यकृतियों में प्रकृति को सजीव और मानवीय रूप में प्रस्तुत कर अपना प्रभूत प्रेम प्रकृति के प्रति प्रदर्शित किया है। प्रकृति और मानव एक दूसरे के पूरक माने गये हैं। प्रकृति में मानव के समान ही सुख–दुख की अनुभूति होती है। प्रकृति और मानव में परस्पर सौहार्द और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार देखने को मिलते हैं।

रूपगोस्वामी के नाटकों में नायक श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार रूप में परिलक्षित होते हैं। वे अपनी लौकिक क्रीडाओं के प्रदर्शनार्थ लोक में अवतीर्ण होते हैं। उनकी सहायतार्थ परोक्ष रूप में सूर्य, ब्रह्मा, शिव आदि सर्वोच्च देव प्रस्तुत होते हैं तथा प्रत्यक्ष रूप में सुपर्ण, गरुण, नारद, विश्वकर्मा आदि अन्य भी नाटकीय पात्र रूप में प्रदर्शित हुए हैं। प्रकृति को मानवीय रूप में प्रस्तुत कर रूपगोस्वामी ने शरदऋतु हंसिनी, कीर, हारीत आदि को नाटकीय पात्रों के रूप में स्थापित किया है। ललितमाधव नाटक में इनकी चारित्रिक भूमिका अवलोकनीय है।

रूपगोस्वामी ने अन्तःप्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनों का मंजुल समन्वय स्थापित करने का पूर्ण प्रयास किया है। 'वृन्दा' नाम की पात्र प्रकृति की अधिष्ठात्री देवी है जो नित्य नूतन समयानुकूल सुखद और सौन्दर्यमय वातावरण तैयार करती है। रूपगोस्वामी ने सूर्य, चन्द्र, भ्रमर, मधुकर, मधुकरी, चकवा, चकवी, कमलिनी, गजराज इत्यादि अनेक प्रकार के प्राकृतिक विषयों को ब्याज रूप में प्रस्तुत कर नायक और नायिका के क्रियाकलापों को प्रकट किया है।

विदग्धमाधव में सूर्य और रक्ता सन्ध्या के ब्याज से उन्होंने श्रीकृष्ण और राधा के परस्पर अनुराग को प्रकट करने का प्रयास किया है।[1]

आलोच्य नाट्यकृतियों में वृन्दावन की पवित्र धरती ही राधा कृष्ण की केलिक्रीडास्थली है जहां मधुमास की मधुरिमा श्रीकृष्ण की इन्द्रियों को मदमत्त करती हुई परिलक्षित होती है।

---

1. विदग्धमाधव – तृतीय अङ्क – श्लोक–11

यथा –

क्वचिद्भृङ्गीगीतं क्वचिदनिलभङ्गीशिशिरता

क्वचिद्वल्लीलास्यं क्वचिदमलमल्लीपरिमलः।

क्वचिद्धाराशाली कनकफलपालीरसभरो

हृषीकाणां वृन्दं प्रमदयति वृन्दावनमिदम्।।[1]

विदग्धमाधव में रूपगोस्वामी ने षष्ठ अङ्क को शरद बिहार की संज्ञा से अभिहित कर 'शरद' का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। इनके कुछ उदाहरण उद्दीपन विभावों के प्रसङ्ग में प्रस्तुत किये जा चुके हैं। शरद विहार का मनोरम वर्णन करने के बाद रूपगोस्वामी ग्रीष्मावसान और वर्षारम्भ के सुरम्य परिवेश में वृन्दावन की सुषमा को देखकर आनन्दित होते हैं –

यथा –

कदम्बाली जृम्भाभरपरिमलोद्गारिपवना

स्फुटद्यूथी यूथीकृतमधुपमानप्रणयिनी।

नटत्केकिस्तोमा मृदुलयवसस्या मलिनभू –

स्तपान्तेऽद्य स्वान्तं मम रमयति द्वादशवनी।।[2]

विवेच्य नाट्यकृतियों में प्रकृति का मानवीकरण देखते ही बनता है। श्रीकृष्ण के वियोग में राधा विलाप करती हुई वनवासी जीव जन्तुओं तथा वृक्षों से कृष्ण विषयक समाचार पूछती फिरती हैं। वह कौए, हिरणी आदि से कुशल क्षेम का सन्देश पूंछती हैं।[3] श्रीकृष्ण के वियोग में पशु, पक्षी, वृक्ष आदि भी दुख प्रकट करते हुए देखे जा सकते हैं। विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण के विरह में वृक्ष समूहों में पुष्परस का निःस्यूत होना बन्द हो गया, पक्षियों ने स्नेह के अभाव में यत्र–तत्र परिभ्रमण करना प्रारम्भ कर दिया, भ्रमर पुष्प रस का पान नहीं करते, शुक जड़तावश अनारखाना बन्द कर देते हैं। दुखी हरिणी ने भी कृष्ण के वियोग में ग्रासाग्र–चर्वण बन्द कर दी है, तमालवृक्ष काले रंग के प्रतीत होते हैं जिनकी

1. विदग्धमाधव – प्रथम अङ्क – श्लोक–31
2. विदग्धमाधव – सप्तम अङ्क – श्लोक–1
3. ललितमाधव – तृतीय अङ्क – श्लोक–31, वि. मा. – षष्ठ अङ्क – श्लोक 27

तमालशाखा में लिपटकर वानरीपंक्ति रोमांचित होती हुई अपनी अधोमुखी आंखों को विस्फारित कर रही है।[1] इस प्रकार रूपगोस्वामी ने प्रकृति का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। दानकेलिकौमुदी में राधा के अभिषेकोत्सव के समय प्रकृति द्वारा अनेक प्रकार के उपहार भी प्रदान किये गये हैं।[2]

ललितमाधव में श्रीकृष्ण का अपने द्वारा संवद्धित पशु पक्षियों के प्रति लगाव उस समय प्रकट होता है जब वह अपनी माँ यशोदा से उनका कुशल क्षेम पूंछते हैं। माँ यशोदा उनके वियोग में कातर पशु पक्षियों की दशा का वर्णन करती हैं।[3]

रूपगोस्वामी नायक नायिका के मिलन को 'सहकार' के ब्याज से व्यक्त करते हुए प्रकृति का आश्रय ग्रहण करते हैं। श्रीकृष्ण रसालमूल में अपनी नायिका का सहवास न प्राप्त करने का भाव व्यक्त करते हुए कहते हैं – 'सहकारस्य नात्र सहकारिता जाता। भवतु। कैतवमेव सहायं करिष्ये।'[4]

इसी प्रकार 'कौस्तुभ' के मनवोचित कार्यकलाप पर उनका कथन द्रष्टव्य है –

सत्वे कौस्तुभ सोऽयं विलासिनी विश्लेषणलब्धशोकः .... विस्तारय मयूखलेखाम्[5]

इस प्रकार रूपगोस्वामी ने प्रकृति को मानव और मानव को प्रकृति के रूप में प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया है। ललितमाधव में भल्लूकमल्ल प्रकृति रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। वही विन्ध्य को सूचित करते हैं कि राधा–कृष्ण मिलनोत्सव देखने के लिये चलें। इस महोत्सव को गोवर्द्धन, रैवतक आदि पर्वत भी देखते हैं।

आलोच्य नाट्यकृतियों में तमाल, कर्णिकार, कदम्ब, पुनोग इत्यादि वृक्षों का रमणीय वर्णन किया गया है। चम्पा, केतकी, अड़हुल, कनैल, कमल, कमलिनी इत्यादि अनेक पुष्पों का भी उल्लेख किया है।[6] रूपगोस्वामी ने वंशी, गुंजावली और मौक्तिकावली

---

1. विदग्धमाधव – षष्ठ अङ्क – श्लोक – 28, 29
2. दानकेलिकौमुदी – श्लोक – 78, 82
3. ललितमाधव – दशम अङ्क – श्लोक – 15
4. ललितमाधव – नवम अङ्क – पृ. 234
5. ललितमाधव – नवम अङ्क – पृ. 234
6. विदग्धमाधव – 2/10, 2/25, 2/26, 5/51, पृ. 44, 72, 67, 281

आदि को भी दूती रूप में प्रस्तुत कर प्रकृति को सजीवता प्रदान की है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि रूपगोस्वामी ने अपनी नाट्यकृतियों में प्रकृति का बड़ा ही मनोरम और सजीव वर्णन किया है।

इस प्रकार रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों का उपर्युक्त साहित्यिक मूल्याङकन प्रस्तुत करने के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने साहित्य संरचना में अपेक्षित अनेक मानक मूल्यों का यथासम्भव प्रयोग अपनी कृतियों में प्रयुक्त करने का पूर्ण प्रयास किया है। भक्ति साहित्य की पराकाष्ठा में प्रतिपादित उनकी नाट्यकृतियां साहित्यिक दृष्टि से भी प्रतिष्ठापित मानी जा सकती हैं।

पंचम अध्याय

रस निष्पत्ति विवेचन

पंचम अध्याय

(i) रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में रस विवेचन

रस सिद्धान्त का विवेचन नाट्यशास्त्र का एक अनिवार्य और अभिन्न अङ्ग है। दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने इसे रूपक का तृतीय भेदक तत्व कहा है।[1] रस सिद्धान्त का शास्त्रीय–स्वरूप सर्वप्रथम आचार्य भरत ने स्थापित किया। उनकी दृष्टि में यह नाट्यरस नाट्य–रचना के लिये इतना अनिवार्य अङ्ग है जिसके अभाव में किसी अन्य नाट्यार्थ का प्रवृत्त होना सम्भव नहीं। इसीलिये उन्होंने कहा – "न हि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्तते"।[2] नाट्य के अन्तर्गत आने वाले अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति आदि को एक साथ रखकर भी आचार्य भरत ने रस को ही प्राथमिकता दी है।[3] उनके मत में रस तथा भावों की उचित व्यवस्था रख सकने वाला व्यक्ति ही नाट्य रचना में सफल हो सकता है। जो इस व्यवस्था का जानकार है वही उत्तम सिद्धि का अधिकारी है।[4]

रस का प्रादुर्भाव वैदिककाल से ही माना जाता है। आचार्य भरत ने स्वयं नाट्य को पंचम वेद मानकर अथर्ववेद से रसतत्व के आविर्भाव का उल्लेख किया है 'रसानर्थवणादपि'।[5] रस का अभिप्राय विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वाणी की मधुरता, सौन्दर्य की विलक्षणता और प्रेम की प्रचुरता में भी रस का स्वरूप देखा गया है। ऋग्वेद में रस कभी गौ–क्षीर के लिये, कभी सोमरस के हेतु अथवा कभी वाणी की मधुरता[6] को प्रकट करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में 'रसे गोषुः प्रविष्टो यः' (14–2–58) तथा 'रसेन तृप्तो न कृतश्चनो नः' (10–8–44) के द्वारा रस का भिन्न अर्थों में प्रयोग उपलब्ध होता है। 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में रस को सारभूत तत्व कहा गया है।[7]

साहित्यशास्त्र में आनन्द की अनुभूति ही रसचर्वणा की पराकाष्ठा मानी गयी

---

1. दशरूपक – आचार्य धनञ्जय, प्रथम प्रकाश, कारिका – 16
2. नाट्यशास्त्र – आचार्य भरत, चौ. 10/71
3. वही – " चौ. 6/10
4. अभिनव भारती, अ. 7, श्लोक – 121
5. नाट्यशास्त्र – आचार्य भरत, चौ. 1/17
6. वाचा वदामि मधुमद्–भूयांस मधुसन्दशः, 10/24/6, 5/73/8, 12/1/16
7. 'प्राणो वा अंगानां रसः' – वृहदारष्यकोपनिषद्

है। इसकी कल्पना का आधार तैत्तिरीयोपनिषद् को माना जा सकता है क्योंकि उसमें ब्रह्मा को ही रसरूप में स्वीकार किया गया है। 'रसो वैसः रसं हयेवायं लब्ध्वा नन्दी भवति'।[1] वही वास्तविक आनन्द है क्योंकि अनादि काल से जन्म मृत्यु रूप घोर दुख का अनुभव करने वाला यह जीवात्मा इस रसमय परब्रह्म को पाकर ही आनन्दित होता है।

'शतपथ ब्राह्मण' में भी 'रस' शब्द को 'मधु' के पर्याय रूप में 'रसो वै मधु' के इस रूप में प्रस्तुत किया गया है। मधु का अभिप्राय है मधुरता और मधुरता का अर्थ है आनन्द।[2] परवर्ती आचार्यों ने सम्भवतः इसे ही माधुर्य रस के रूप में अभिहित किया।

'आचार्य भरत के मत में नाट्य रस का आस्वादन मानस–व्यापार है और वह अलौकिक रस का आस्वादन कराता है। वह रागात्मक चितवति का रसरूप परिणाम है। यह रस नाट्य समुदाय से ही आर्विभूत होता है अतः नाट्य में रसनिहित है। नाट्यमान (दृश्य) काव्य जैसा रसपेशल होता है वैसा श्रव्य नहीं क्योंकि नाट्य होने से उसमें साक्षात्कार कल्पना का आर्विभाव होता है; साक्षात्कार में जो आनन्द है वह परोक्ष में नहीं।[3]

साहित्यशास्त्र में रसचर्वणा के सन्दर्भ में दो प्रकार की दृष्टियां मानी जा सकती है – 1. नाट्योन्मुखी दृष्टि 2. काव्योन्मुखी दृष्टि।

नाट्योन्मुखी दृष्टि के प्रवर्तक आचार्य भरत माने जाते हैं जिनके अनुसार रस सिद्धान्त नाट्योन्मुखी होता है और नाट्य रचना के लिये उसकी ही अत्यन्त उपयोगिता है उसके अभाव में किसी अन्य काव्यार्थ (नाट्यार्थ) का प्रवर्तन नहीं हो सकता। इसीलिये वह कहते हैं 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'। आचार्य भरत द्वारा प्रवर्तित रस सिद्धान्त को परवर्ती आचार्यों ने भी पल्लवित पुष्पित किया और उसमें अपनी–अपनी अनुभूति के आधार पर नवीन मान्यताओं को स्थापित करने का प्रयास किया है। इन आचार्यों में भट्टोद्भट्ट, भट्टलोल्लुट, शङ्कुक, भट्टनायक, आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त जैसे प्रमुख आचार्यो का महान योगदान माना जा सकता है। इनके अतिरिक्त भी अन्य आचार्यों ने नाट्यशास्त्र के रस सिद्धान्त का अनुशीलन करते हुये अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनमें आचार्य धनञ्जय, आचार्य विश्वनाथ, आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र, आचार्य सागर नन्दी,

---

1. तैत्तिरोयोपनिषद् 2/7,1
2. रस सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण, पृ. 23
3. अभिनव भारती – 1, पृ. 290

आचार्य शारदातनय, आचार्य सिंहभूपाल जैसे प्रभूति आचार्य प्रमुख रूप से माने जा सकते है। इन आचार्यों द्वारा रस सिद्धान्त का विवेचन काव्योन्मुखी दृष्टि से माना जा सकता है।

नाट्याचार्यों की उक्त परम्परा में आचार्य रूपगोस्वामी का स्थान अप्रतिम है जिन्होंने साहित्यशास्त्र सम्मत रस सिद्धान्त को उपजीव्य मानकर भक्तिरस के परिप्रेक्ष्य में एक नवीन एवं अभूतपूर्व रस–सिद्धान्त की स्थापना की जिसकी संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत अध्याय में की गयी है। रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में इसी भक्तिरस को प्रतिष्ठापित करने हेतु तद्विषयक सिद्धान्तों को समुद्धृत करने का प्रयास किया गया है। रूपगोस्वामी ने भक्तिरस को प्रतिष्ठापित करने हेतु दो प्रमुख लक्षण ग्रन्थों का प्रणयन किया – 1. भक्तिरसामृतसिन्धु और 2. उज्जवल–नीलमणि। नाटक चन्द्रिका भी इनकी भक्तिपरक रचना मानी जा सकती है। इन लक्षण ग्रन्थों में अधिकांश उद्धरण विवेच्य नाट्यकृतियों से ही दिये गये हैं। भक्तिरस के सिद्धान्त की निकर्षभूत रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में रस विवेचन के लिये रूपगोस्वामी के रससिद्धान्त का प्रतिपादन अत्यन्त अनिवार्य एवं अपेक्षित है। इससे पूर्व कि इस भक्ति रस के सिद्धान्त का हम विवेचन प्रस्तुत करें, रूपगोस्वामी के पूर्व भक्ति रस के स्वरूप पर संक्षिप्त अवलोकन कर लेना विषय सापेक्ष होगा।

भक्तिरस का उद्भव एवं विकास

साहित्यशास्त्र में भक्तिरस को स्वतन्त्र रस के रूप में स्थापित किये जाने का सुप्रतिष्ठित श्रेय आचार्य रूपगोस्वामी को है। इनके पूर्व साहित्य सम्प्रदाय में कोई ऐसा आचार्य नहीं आविर्भूत हुआ जिसने भक्तिरस की पृथक् सत्ता सिद्ध करने का साहस किया हो। आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में अभिनेयता को दृष्टि में रखकर केवल आठ रसों का निरूपण किया था। उनके समक्ष सम्भवतः कोई भक्तिपरक साहित्य नहीं था जिसके कारण भक्ति विषयक आलोचना करने की प्रेरणा उन्हें न मिल सकी हो। भरत के लिये उनका मुख्य विवेचनीय विषय अभिनेय साहित्य था। भरत के परवर्ती काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने भक्ति को भगवद्–विषयक एक सहज वृत्ति मानकर उसे रसत्व–रूप में न स्वीकार कर केवल 'भाव' रूप में ही स्थापित करने का प्रयास किया है। कुछ आचार्य उसे रसवद्ध अलङ्कार या भाव अलङ्कार के रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु आचार्य भरत ने भक्ति को न तो रस के रूप में स्वीकार किया है और न भाव के रूप में ही। उन्होंने उसका

संचारी भाव में या उसके समकक्षी किसी भाव में भी उल्लेख नहीं किया।

साहित्यशास्त्र में सर्वप्रथम आचार्य भामह ने प्रेयस् अलंकार के लक्षण एवं उदाहरण में जिस श्लोक[1] को समुद्धृत किया उसमें आध्यात्मिकता से संवलित शब्दों का आधार लेकर सप्तम शती के काव्यशास्त्रीय आचार्य दण्डी में प्रयोलंकार के विवेचन में उसी प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत कर भक्ति के साङ्केतिक स्वरूप को समुद्घाटित किया। दण्डी ने कृष्ण के प्रति विदुर तथा महेश्वर के प्रति रातवर्म नाम के राजा के प्रीतिप्रकाशक वचनों का उल्लेख करते हुये 'भक्ति' की स्थापना की है। 'भक्ति–मात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः।[2]

आचार्य दण्डी ने भामह की भांति प्रीति को आध्यात्मिकता से सम्बद्ध मानते हुये इसके दो भेद किये हैं – 1. कृष्ण विषयिणी प्रीति 2. शिव–विषयिणी प्रीति। दण्डी की प्रीति भगवद् विषयिणी है। जिस काव्य में प्रियतरानुभूति कथन हो उसे दण्डी प्रेयस् कहते हैं। अन्य प्रीति रूपों से काव्येतर होने के कारण ही दण्डी ने प्रियतर कहा है। 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्'। आचार्य दण्डी के मत में यह प्रेम शृङ्गार से बहुत ही घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है फिर भी उन्होंने देवविषयिणी प्रीति को शृङ्गार से पृथक् करते हुये कहा है – 'प्राक् प्रीतिर्दशिता सेयं रतिः शृङ्गारतां गता'।[3] दण्डी इस भक्ति (प्रीति) को देवता–विषयक रति से पृथक् रखना उचित समझते थे, इसीलिए उन्होंने शृङ्गार रस का स्थायी भाव रति स्वीकार किया है और प्रीति से उसकी भिन्नता प्रदर्शित की है। इस तरह दण्डी ने भक्ति तथा प्रीति को पर्याय के रूप में स्वीकार किया है। भामह और दण्डी प्रेयस् को प्रीति अथवा रति से सम्बन्धित मानते हैं और 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' के रूप में मानकर उसके मधुर स्वरूप का उद्घाटन करते हैं।[4]

---

1. प्रेयो गृहागतं कृष्णामवादीद् विदुरो यथा।
   अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।।
   कालेनेषा भवेत्प्रीतिस्तवेवागमनात् पुनः।
   – काव्यालंकार – आचार्य भामह 4/5
2. काव्यादर्श – आचार्य दण्डी, द्वितीय परिच्छेद 2/275, 276, 277
3. काव्यादर्श – आचार्य दण्डी 2/281
4. रस सिद्धान्तः स्वरूप विश्लेषण – डा. आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, पटना, पृ. 288

भामह और दण्डी के लगभग एक समान उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि विदुर का कृष्ण के प्रति समादस्पूर्णभाव जिसे हम भक्ति–भाव की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं, प्रेयस्वद् अलङ्कार का विषय है। दण्डी द्वारा कृष्ण का देवताओं से औत्कृष्ट्य–प्रकाशन भी इसी भाव को प्रमाणित करता है।[1]

दण्डी ने प्रेयस् रसवत् एवं ऊर्जस्वि इन तीन भाव प्रधान अलंकारों का एक कारिका द्वारा निरूपण किया था।[2]

इस प्रकार आचार्य दण्डी भक्ति को रस मानते हुये भी स्पष्ट शब्दों में उसे रस नहीं कह सके क्योंकि उन्हें भी भरत सम्मत मतों का परम्परानुमोदन करना था। आचार्य भरत ने वाणी की रसवत्ता आठ ही रसों में स्वीकार की थी।[3]

आचार्य उद्भट 'प्रेयस्' को रसवत् अलङ्कार से पृथक् भावकाव्य के रूप में एक अलङ्कार मात्र मानते हैं और भाव–मात्र को प्रेयस् मानते प्रतीत होते हैं जिसका स्पष्टीकरण डा. वी. राघवन ने किया है और उन्होंने प्रेयस और शृङ्गार की घनिष्ठता तथा पृथकता को बड़े ही प्रतीति जनक शब्दों में उल्लेख किया है।[4]

आचार्य आनन्दवर्द्धन की शान्तरसविषयक धारणा भक्तिरस की समीपवर्तिनी मानी जा सकती है। इन्होंने मोक्ष को शान्ति का अन्तिम लक्ष्य मानकर उसे भक्ति के प्रयोजन के समीप स्थापित किया है। शान्तरस की निष्पत्ति को वे वासुदेव के संकीर्तन का फूल कहते हैं।[5]

---

1. सोमः सूर्यो मरुद्भूमिः व्योमहोतानलो जलम्।
   इति रूपांयति क्रम्यत्वां द्रष्टुं के वयम्।।
   इति साक्षात्कृते देवे राज्ञौ यद्रातवर्मणः।
   प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेयः हत्यवगम्यतपम्।।
   — काव्यादर्श – दण्डी, का. 21, 278–279
2. प्रेयः प्रियतराख्यानम् रसवद् रसपेशलम्।
   ऊर्जस्वि रूढालंकारं युक्तोत्कर्ष च तत्त्रयम्।।
3. 'इह त्वष्टरसावत्ता रसवत्तास्मृतागिराम्' – काव्यादर्श – दण्डी, 2/292
4. दि नम्बर आफ रसास – डा. वी. राघवन, पृ. 107, 289
5. ध्वन्यालोक – आनन्दवर्द्धन, वृत्तिभाग, पृ. 46

अभिनव गुप्त की दृष्टि में शान्त ही समस्त भावों का मूल है। भक्ति जो ईश्वर–प्राणिधान का विषय है एवं श्रद्धा जो कि पूज्य व्यक्ति के गुणों या कार्यों से प्रभावित होकर उसके प्रति विनम्रता की स्थिति है, इन दोनों, श्रद्धा एवं भक्ति को स्वतन्त्र रस न मानकर अभिनव गुप्त ने मोक्ष पुरुषार्थ से सम्बन्धित शान्तरस् में ही अर्न्तभूत किया है।[1]

आचार्य मम्मट ने भक्ति को अध्यात्म रस के रूप में न स्वीकार कर काव्यरस के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने दाम्पत्य रति को ही रसत्व की कोटि में ग्रहण किया है। दाम्पत्येतर रति गुरु, नृप, राजा एवं देवविषयक रतियों को भाव कोटि में ही स्थापित किया है। मम्मट ने अभिनव गुप्त के विचारों का समर्थन करते हुये ही संचारी भाव रूप में स्वीकृत भक्ति के स्वतन्त्र परिपोष को भावध्वनि के रूप में प्रतिष्ठित किया है।[2] आचार्य हेमचन्द्र[3], आचार्य धनञ्जय[4], पं. राज जगन्नाथ[5] आदि प्रमुख आचार्यों ने भी भक्ति को भाव के रूप में ही मान्यता दी है।

साहित्यशास्त्र में आचार्य भरत द्वारा निरूपित रस सूत्र 'विभावानुभाव–वयभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्ति' का आधार लेकर आचार्य रूपगोस्वामी ने भक्तिरस को स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठापित करने का पूर्ण प्रयास किया है। भरतमुनि के लक्षणानुसार रस की निष्पत्ति या अभिव्यक्ति में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, स्थायी भाव और साहित्यक भावों की अपेक्षा हुआ करती है। भरत के इसी रस सिद्धान्त को रूपगोस्वामी ने भक्तिरस के परिप्रेक्ष्य में भी चरितार्थ करने हेतु उनके ही रससूत्र का अनुकरण किया है। इसका विशद विवेचन भक्तिरसामृत सिन्धु के दक्षिण विभाग में पाँच लहरियों के अर्न्तगत किया है। भक्तिरस का निरूपण करते हुये रूपगोस्वामी ने कहा 'सामग्री परिपोषेण रसरूपता' अर्थात् सामग्री–विभाव, अनुभाव आदि रूप के द्वारा पुष्ट होने से भगवद्भक्ति (कृष्णरति) की

1. अभिनव भारती – अभिनव गुप्त, पृ. 636 (भाग 1)
2. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाजितः। भावः प्रोक्तः। आदि
   शब्दात मुनि गुरू नृप पुत्रादि विषया। कान्ताविषया तु व्यक्ता शृङ्गार।
   – काव्यप्रकाश – आचार्य मम्मट, चतुर्थ उ., पृ. 118
3. काव्यानुशासन – हेमचन्द्र, पृ. 68
4. दशरूपक – धनञ्जय, 4/83
5. रसगङ्गाधर – पं. राज जगन्नाथ, 189

परमरसरूपता का उत्पादन किया जा सकता है। इस प्रकार रूपगोस्वामी भक्तिरस का लक्षण प्रस्तुत करते हैं – विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव तथा व्यभिचारियों के द्वारा श्रवण (मनन) आदि की सहायता से भक्तों के हृदय में आस्वाद्यता को प्राप्त हुआ यह भगवद्भक्ति (कृष्ण रति) रूप स्थायिभाव भक्तिरस कहलाता है।[1]

रूपगोस्वामी के प्रस्तुत लक्षण में दो नवीन मौलिक कल्पनाएं मानी जा सकती हैं। पहली तो यह कि सात्विकों के द्वारा रसपरितोष का पृथक् उपादान किया गया है और दूसरी यह कि केवल रति स्थायी की रसरूपता स्वीकार की गयी है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत परिभाषा में प्राक्तन रस सिद्धान्त का ही अनुकरण किया गया है। पूर्व प्रतिपादित रस सिद्धान्त में वासनामय रसिकों को रसास्वादन का अधिकारी कहा गया था। भक्तिरस सिद्धान्त में भी भक्तिमयी वासना से वासित अन्तःकरण वाले (भक्तों) को ही भक्ति–रसास्वादन का अधिकारी कहा गया है।

भक्तिसम्प्रदाय में रस–चर्वणा की प्रक्रिया

काव्यशास्त्रीय आचार्यों के अनुसार आनन्दानुभूति ही रस प्रक्रिया की चरमपरिणति है। आनन्दानुभूति का अधिष्ठान आत्मा को माना गया है। यह आत्मा दो प्रकार से व्यक्त किया गया है – परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा को आनन्द का वास्तविक अधिष्ठान कहा गया है। जीवात्मा में भी सच्चिदानन्द–स्वरूप परब्रह्म का किञ्चिद् आनन्दांश स्वीकार किया गया है। भरत प्रभृति रसाचार्यों का लक्ष्य जीवगत आनन्दांश का उद्बोधन कराना है। मानव देह में विविध प्रकार की वासनाएं परम्परागत योनियों से सञ्चरित होती हुई, उसमें अविकल रूप में सन्निहित होती हैं। परमतत्वगत पूर्ण आनन्दानुभूति को भरत आदि रसाचार्यों ने जीवगत आनन्दांश की अपेक्षा दुष्कर कहा है और जीवगत आनन्दांश को परमतत्वगत आनन्द की पृष्ठभूमि रूप में प्रातिपादित किया है। भरत आदि रसाचार्यों ने

---

1. विभावैरनुमावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिमिः।
   स्वाद्यत्वं हुदि भक्तानामानीता श्रवणादिमिः।
   एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसोमवेत्।।
   – भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, दक्षिण विभाग, लहरी 1, श्लोक 5, 6

जिस परमतत्वगत आनन्द को दुष्कर कहा था उसी तत्व की गवेषणा को अपना प्रमुख प्रतिपाद्य बनाकर भक्तरसाचार्यों ने भक्तिरस की चर्वणा की नवीन प्रक्रिया का श्रीगणेश किया। भक्ति रस के आचार्यों ने जीवगत आनन्दांश को ही साध्य नहीं बनाया बल्कि उनका लक्ष्य आनन्दराशि भगवद्गत आनन्द का पूर्ण आस्वादन कराना है। भक्तिरसाचार्य मधुसूदन सरस्वती के अनुसार पुष्कल रसतापति तो तभी सम्भव होती है जब परमानन्द स्वरूप भगवान स्वयं ही मनोगत हो जाते हैं। चित्त जब द्रवित होकर विभु, नित्य, पूर्णबोध, सुखात्मक भगवान को ग्रहण कर लेता है तब और शेष रह ही क्या जाता है ?[1]

रूपगोस्वामी के मतानुसार आनन्दस्वरूपा जो कृष्ण रति है, वह कृष्णादि विभावादि के साथ मिलकर आस्वाद्यता को प्राप्त करके प्रौढानन्द चमत्कारिता की पराकाष्ठा को प्राप्त करती है। इसका अभिप्राय यह है कि भक्ति या 'कृष्णरति' ह्लादनी शक्ति (राधा) की वृत्ति होने से स्वतः ही आनन्दस्वरूपा है। वह स्वतः ही आस्वादनीय है किन्तु स्वतः अस्वादनीय होने पर भी केवल मात्र रति में आस्वादन चमत्कारिता नहीं है। अतः केवल रति को रस नहीं कहा जाता क्योंकि चमत्कारिता ही रस का सार है। दही स्वतः आस्वादनीय वस्तु है किन्तु मिश्री, इलायची आदि मिलने से जैसे वह अपूर्व स्वादिष्टता को धारण करती है उसी प्रकार कृष्णरति भी अनुकूल सामग्री अर्थात् विभावानुभावादि के साथ संयोग प्राप्त करने से अपूर्व चमत्कारिता को धारण करके रस रूप में परिणत हो जाती है जो परमास्वनद्य है।

शान्त, दास्य, सख्यादि स्थायिभावों के साथ मिलकर विभावादि जब भक्त के 'अनुभव' में आते हैं, तभी वह इसकी आस्वादन चमत्कारिता को जान सकता है। किन्तु अनुभव का रूप क्या है – इस सन्दर्भ में एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुये कहा गया है कि यदि हम एक बलिष्ठ निर्दयी–पुरुष को एक बालक को मारते हुये देखते है तो भावना द्वारा हम अपने को बालक की अवस्थापन्न करते हुये बालक के कष्ट का किञ्चिद् अनुभव करते हैं। भक्तिरस का अनुभव भी क्या इस प्रकार की भावना से प्राप्त किया जा सकता है ? इसका समाधान प्रस्तुत करते हुये रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में कहा है कि नहीं,

---

1. रसमञ्जरी–मधुसूदनसरस्वती–हिन्दी भक्तिरयामतसिन–डा. उदघृत।

भावना द्वारा ही भक्तिरस का अनुभव नहीं किया जा सकता। भावना के पथ को अतिक्रमण करके एवं अतिशय चमत्कारिता का आधार स्वरूप होकर जो सत्वोज्जवल चित्त में आस्वादित होता है उसे 'रस' कहते है।[1]

रस और भावना में पार्थक्य प्रतिपादित करते हुये जीवगोस्वामिपाद ने कहा है कि जो पार्थक्य समाधि और ध्यान में होता है वही पार्थक्य रस और भावना में भी माना जा सकता है। ध्यान और भावना में अन्तःकरण की वृत्ति ध्येय वस्तु में सम्यक् रूप से केन्द्रीभूत नहीं होती किन्तु समाधि में ऐसा होता है और इसीलिए अन्य समस्त विषयों में इन्द्रियों की क्रिया स्तम्भित हो जाती है। रस के सम्बन्ध में भी यही अवधेय है। किसी वस्तु के आस्वादन में यदि ऐसा सुख मिले, जिसकी आस्वादन चमत्कारिता में समस्त बहिरिन्द्रियों की तथा अन्तरिन्द्रियों की वृत्तियां केन्द्रीभूत हो जायें एवं अन्य समस्त विषयों में इन्द्रियों की क्रिया स्तम्भित हो जाये तो ऐसा होने पर स्वकारणीभूत विभावादि के साथ सम्मिलित उस आनन्द चमत्कारितामय सुख को रस कहते हैं। ऐसे रस का अनुभव भावनाजगत अनुभव नहीं है। वह हृदय में शुद्ध सत्व के अस्तित्व का ज्ञापक अनुभव है। शरीर को बर्फ का स्पर्श होते ही जैसे शीतलता का अनुभव होता है उसी प्रकार भक्त के चित्त में स्थायिभाव जब रस रूप में परिणत होते हैं, चित्त तभी ही उनमें अस्तित्व का अनुभव करता है। शुद्ध सत्व या रति रूप में परिणत रति के स्वप्रकाशत्व गुण के कारण ही रस का इस प्रकार अस्तित्व ज्ञापित होता है। इस अस्तित्व–ज्ञापन को ही यहाँ 'अनुभव' कहा गया है। इस अनुभव के उत्पन्न होने पर ही भक्त भक्तिरस का आस्वादन किया करता है।[2]

इस प्रकार भक्तिरस का आस्वादन केवल कृष्णभक्त ही कर सकते हैं, जो अभक्त है उनके लिये इस रस का आस्वादन असम्भव है। भक्त का लक्षण प्रतिपादित करते हुये रूपगोस्वामी ने लिखा है कि जिसका अन्तःकरण श्री कृष्ण के भाव से भावित है उन्हें श्री कृष्ण भक्त कहते हैं। 'तद्भावभक्ति स्वान्ताः कृष्णभक्ता इतीरिता।'' भक्त भी दो प्रकार के होते हैं – 1. साधक और 2. सिद्ध। इनमें सिद्ध भक्तों के द्वारा ही कृष्ण भक्तिरस का

---

1. भक्तिरसामृतसिन्धु – रूपगोस्वामी
2. चैतन्यचरितामृत – कृष्णदास गोस्वामी

आस्वादन सम्भव माना गया है। यही भक्ति सम्प्रदाय में रसचवर्णा की प्रक्रिया मानी गयी है।

आचार्य रूप गोस्वामी ने भक्तिरस को प्रधान रस के रूप में स्थापित कर साहित्यशास्त्रियों द्वारा निर्धारित रसों के गौण रूप में निरूपित किया है उन्होंने मुख्या और गौणी रति के अनुसार भक्तिरस के भी मुख्य भक्तिरस और गौण भक्तिरस ये दो प्रकार किये है जो इस प्रकार है –

	मुख्य भक्तिरस	**स्थायीभाव (मुख्या रति)**
1.	शान्त भक्तिरस	शान्ति रति स्थायी
2.	प्रीति भक्तिरस	प्रीति रति स्थायी
3.	प्रेयान् भक्तिरस	वात्सल्य रति स्थायी
4.	वत्सल भक्तिरस	मधुरारति स्थायी
	गौण भक्तिरस	**(गौणी रति)**
1.	हास्य भक्तिरस	हास–रति स्थायी
2.	अद्भुत भक्तिरस	विस्मय–रति स्थायी
3.	वीर भक्तिरस	उत्साह–रति स्थायी
4.	करूण भक्तिरस	शोक–रति स्थायी
5.	रौद्र भक्तिरस	क्रोध–रति स्थायी
6.	भयानक भक्तिरस	भय–रति स्थायी
7.	वीभत्स भक्तिरस	जुगुप्सा–रति स्थायी

रूपगोस्वामी का रस–विभाजन आचार्य भरत के मत का ही अनुकरण माना जा सकता है क्योंकि भरतमुनि ने भी चार मुख्य और चार गौण रसों की स्थापना की है। उन्होंने श्रृङ्गार, वीर, रौद्र और वीभत्स को मुख्य रस मानकर उन्हीं में से क्रमशः हास्य, अद्भुत, करूण और भयानक रसों की उत्पत्ति मानी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भरत के समय से ही मूल रस चार ही थे और कालान्तर में इनसे उत्पन्न रसों ने अपने स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। इस आधार पर रूपगोस्वामी के रस विभाजन को सर्वथा स्वीकार

किया जा सकता है क्योंकि उन्होंने भक्तिरस को मुख्य रस के रूप में प्रतिष्ठापित करने हेतु ही अन्य रसों की कल्पना की है। परम्परानुवर्ती होने पर भी रूपगोस्वामी का रस सिद्धान्त भक्तिरस के परिप्रेक्ष्य में पूर्णतया मौलिक माना जा सकता है।

साहित्यशास्त्र में जिस प्रकार शृङ्गार रस को मुख्य अर्थात् 'रसराज' के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है उसी प्रकार रूपगोस्वामी ने भक्तिरस को मूल रस मानकर उसके एक भेद 'मधुर भक्तिरस' को ही 'रसराट्' रूप में स्थापित किया है। इसे 'उज्जवल रस' के नाम से भी अभिहित किया गया है। इस विशेष रस का विस्तृत विवेचन 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक रूपगोस्वामी के ग्रन्थ में किया गया है।[1]

---

1. मुख्य रसेषु यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
   पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्येत मधुरः।
   वदयमाणैविभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
   नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः।।
   — उज्जवल नीलमणि – रूपगोस्वामी, नायकभेद प्रकरण – का. 23

मधुर रस

रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में मधुर भक्तिरस को सांगोपांग प्रस्तुत किया गया है। इस मधुर रस को अलौकिक शृङ्गार, उज्ज्वलरस, भक्तिरस इत्यादि विविध नामों से अभिहित किया गया है। देवविषयक रति–प्रधान शृङ्गार को अलौकिक शृङ्गार माना गया है। भक्तिशास्त्र में भक्तिभावापन्न मधुर रस को लौकिक शृङ्गार से पृथक् कहा गया है। शृङ्गारपरक मधुरा भक्ति को मधुररस या उज्ज्वल रस कहकर उसे 'रसराज' के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। नाट्य शास्त्रकार आचार्य भरत ने शृङ्गार रस का वर्ण श्याम और वेश उज्ज्वल माना है।[1] इसमें 'रति' स्थायी भाव से शृङ्गार रस की निष्पत्ति बतलायी गयी है और यह उद्भावना सम्भवतः शृङ्गार के देवता विष्णु के श्यामवर्ण और पीताम, कान्तिमान और उज्ज्वल वेश के आधार पर ही की गयी है।[2] रूपगोस्वामी द्वारा निरूपित 'उज्ज्वलनीलमणि' शब्दों का एक साथ संयोग, श्याम वर्णन विष्णु देवता वाले उज्ज्वलवेशात्मक शृङ्गाररस का अनुकरण माना जा सकता है। रूपगोस्वामी के मत में 'उज्ज्वल' शब्द का प्रयोग अलौकिक रागानुगा मधुर भक्ति के लिये किया गया है और शृङ्गार को उसी में अन्तर्भूत हुआ माना गया है।[3] आचार्य भरत के अनुसार 'संसार में जो पवित्र, स्वच्छ और दर्शनीय हो, वह शृङ्गार से उपमित होता है। उज्ज्वल वेश वाला शृङ्गारवान् कहा जाता है।[4]

भगवद्भक्ति चन्द्रिका में भक्तिरस की सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादित करते हुये उसे सामरस्य की समुपस्थितिकारिणी एवं परमप्रेम रूप परमानन्दप्रदायिनी मधुराभक्ति कहा गया है। इसी मधुराभक्ति को ही पराभक्तिपरक मधुर रस का अधिष्ठान माने जाने की सम्भावना व्यक्त की गयी है।[5] 'भगवद्भक्तिरसायन' में मधुरस की श्रेष्ठता स्थापित करते हुये मधुसूदन

---

1. 'तत्र श्रृङ्गारो नाम रति स्थायिभावप्रभव उज्जवलवेषात्मकः'
   — नाट्यशास्त्र – 6/45–46
2. मधुर रस : स्वरूप और विकास – राम स्वार्थ चौधरी 'अभिनव' पृ. 294
3. मधुर रस : स्वरूप और विकास – राम स्वार्थ चौधरी, 'अभिनव' पृ. 295
4. 'मधुरस : स्वरूप और विकास में उद्घृत' – नाट्यशास्त्र – आचार्य भरत – 6/46
5. 'मधुरस : स्वरूप और विकास' – राम स्वार्थ चौधरी, 'अभिनव' पृ. 297

सरस्वती ने कहा है कि 'कान्ताभा[1] संकलित मधुररस के अतिरिक्त अभ्यासों में पूर्ण सुख का स्पर्श नहीं रहने के कारण एक मात्र मधुररस ही ऐकान्तिक रूप से पूर्ण सुखमय है। इसीलिये रसमयी भगवद्–रति के सामने अन्य रस वैसे ही क्षुद्र प्रतीत होते हैं जैसे आदित्य के समक्ष खद्योत उन्होंने भक्तिरस में शास्त्र सम्मत नवरसों का अन्तर्भाव प्रदर्शित कर उसको 'रसराज' के रूप में अधिष्ठित किया है।[2]

अष्टछाप के भक्तकवि नन्ददास ने भी उज्ज्वल रस के 'सुझाव' की 'बांकी छवि' का सुन्दर वर्णन किया है।[3]

रूपगोस्वामी ने भक्तिरसों के मुख्य और गौण दो वर्ग निरूपित कर उनमें शान्त, प्रीत, प्रेयस, वात्सल्य और मधुर इन पांच रसों को मुख्य भक्तिरस माना है किन्तु इनमें मधुररस की प्रधानता होने के कारण इसे भक्तिरस का ही वाचक मान लिया गया है और इस प्रकार उज्ज्वल रस, मधुर रस तथा भक्तिरस एक दूसरे के पर्याय रूप में ही स्थापित किये गये हैं।[4]

मधुररस के सुप्रतिष्ठित आचार्य रूपगोस्वामी ने मधुररस को रसराट् (रसराज) की संज्ञा से अभिहित कर मधुरोपासनाजन्य परमानन्द के समक्ष समाधिजन्य ब्रह्मानन्द को परमाणुतुल्य भी नही स्वीकार किया।[5] उन्होंने भक्ति के समक्ष ज्ञान, कर्म और योग को

---

1. कान्तादि विषया वा रसाद्यास्तत्र नेदृशम्।
   रसत्वं पुष्यते पूर्ण सुखास्पर्शित्व कारणात्।।
   परिपूर्णरसा क्षुद्रसेभ्यो भनवद्रतिः।
   खद्योतेभ्य इवादित्य प्रभेव बलवत्तरा।
   — भगवद्भक्तिरसायन – मधुसूदन सरस्वती 2/77–78
2. भगवद् भ. र. – मधुसूदन सरस्वती – 1/13
3. उज्जवल रस कौ यह सुझाव बांकी छवि छावै
   बेकनहनि पुनि कहनि बंक अति रसहि बढ़ावै।।
   — रासपंचाध्यायी : नन्ददास, श्लोक 42
4. मधुररस : स्वरूप और विकास – राम स्वार्थ चौधरी 'अभिनव' पृ. 297
5. ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् पराद्धगुणीकृतः।
   नैतिभक्तिसुखाम्मोधेः पराम्राणतुलामपि।।
   — भ. र. सि. – पू. वि. 1 लहरी

सर्वथा नगण्य मानते हुये मोक्ष को भी तुच्छ माना है।[1]

मधुररस का स्वरूप वर्णन करते हुये भक्तिरसामृत सिन्धु में कहा गया है कि 'आत्मोचित विभावादि द्वारा मधुररति जब सदाशय व्यक्तियों के हृदय में परिपुष्ट होती है, जब उसे 'मधुर' नामक भक्तिरस की संज्ञा दी जाती है। यह मधुररस निवृत्तजनों के लिये अनुपयोगी, दुरूह तथा रहस्यपूर्ण है। यद्यपि यह मधुररस बहुत ही विशाल एवं विततांग है।[2]

उज्ज्वलनीलमणि के अनुसार वक्षमाण (राधाकृष्ण, ब्रजवल्लभाएं, वृन्दानवन आदि) विभावादिकों से आस्वाद्यमान मधुरारति ही 'मधुर' नामक भक्तिरस है।[3]

भक्तिरसामृत सिन्धु में यह मधुरा 'रति' नायक एवं नायिका को आनन्द प्रदान करने के कारण तथा प्रणय–व्यापार एवं संभोग की प्रेरणा प्रदान करने के कारण 'प्रियता' की संज्ञा से अभिहित की गयी है।[4]

जीवगोस्वामी ने अपने प्रीतिसन्दर्भ में श्री कृष्ण एवं ब्रजवल्लभाओं की नित्य विलास लीला को मधुर रस की आत्मा कहा है क्योंकि श्री कृष्ण की प्रकट एवं अप्रकट दोनों लीलाओं में ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य की लीला ही श्रेष्ठ मानी गयी है।[5]

रसराज मूर्ति रसिक शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी परम–ह्लादिनी

---

1. भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, पू. वि., लहरी 11–13
2. आत्मोचितेर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि।
   मधुराख्यो भवेद्भक्तिरसो सो मधुरा रतिः।।
   निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादय रसः।
   रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततांगो पि लिख्यते।।
   – ह. भ. र. सि. – प. वि. ल. 5
3. वक्ष्यमाणैविभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
   नीताभक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः।।
   – उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, नायकभेद प्रकरण – का. 3
4. मिथो हरेमृगाक्ष्याश्च संभोगस्यादिकारणम्।
   मधुरापरपर्यूर्याया प्रियता खोदिता रतिः।।
   – भ. र. सि., द. वि., 5 लहरी
5. प्रीति सन्दर्भ – जीवगोस्वामी, पृ. 704–715 द्रष्टव्य।

शक्तिस्वरूपा रासेश्वरी श्री राधिका जो दिव्य मधुररस के विषयालम्बन हैं, उन दोनों की 'प्रियता' अर्थात् मधुरा रति ही उस दिव्य मधुररस का स्थायी भाव है जो दोनों को संयोग की प्रेरणा प्रदान करती रहती है। यही मधुरा रति भगवद् रति के नाम से भी अभिहित की गयी है। यह भगवद् रति साधक की रूचि, प्रवृत्ति और स्वभाव के अनुसार, शान्ता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और कान्ता रतियों के नाम से पांच प्रकार की बतलाई गई है। साधन भक्ति के द्वारा भक्त के हृदय में रति का उदय होता है, जो प्रगाढ़ होकर प्रेम के नाम से अभिहित होता है। वही प्रेम क्रमशः विकसित होकर स्नेह, मान, प्रणय, राग अनुराग, भाव और महाभाव में परिणत हो जाता है। इन सबको ही मधुररस का स्थायीभाव माना गया है।[1]

मधुरारति—स्थायी भाव

उज्ज्वलनीलमणि के अनुसार मधुररस (शृङ्गारस) का स्थायीभाव मधुरा रति है जो अभियोग, विषय, सम्बन्ध, अभिमान, तदीय विशेष, उपमा तथा स्वभाव आदि से उत्पन्न होती है।[2]

ब्रजवल्लभाओं की दृष्टि से मधुरा रति के तीन भेद किये गये हैं। 1. साधारणी 2. समंजसा और 3. समर्था। कुब्जादि में साधारणी मधुरा रति बतलायी गयी है। इसके अन्तर्गत 'आत्मतर्पणैकलात्पर्या' अर्थात् अपनी ही तृप्ति को मुख्य माना गया है। यह साधारणी—मधुरारति—हरि के साक्षात् दर्शन से उत्पन्न होती है। यह अति सान्द्र नहीं होती तथा संभोगेच्छा से युक्त रहती है। संभोगेच्छा के ह्रास से इसका भी ह्रास होता है।[3]

समंजसा रति श्री कृष्ण की सत्यभामा, रुक्मिणी आदि महिषियों में मानी गयी है। यह श्री कृष्ण के गुणादि के श्रवण से उत्पन्न, सघन तथा पत्नीभाव में समन्वित अभिमान वाली सान्द्ररति है जिसमें संभोगेच्छा कभी—कभी खण्डित भी होती है। इसमें उभयनिष्ठा रति की प्रधानता रहती है।[4]

---

1. चैतन्य चरितामृत — मध्यलीला, परि. 23, पृ. 288
2. 'स्थायिभावो त्र श्रृङ्गारे कथ्यते मधुरा रतिः'
   — उज्जवलनीलमणि — रूपगोस्वामी, स्थायिभाव प्रकरण, का. 1 से 4
3. 'स्थायिभावो त्र श्रृङ्गारे कथ्यते मधुरा रतिः'
   — उज्जवलनीलमणि — रूपगोस्वामी, स्थायिभाव प्रकरण, का. 36 से 39
4. उज्जवलनीलमणि — रूपगोस्वामी, स्थायिभाव प्रकरण, का. 42, 44

जिस रति (साधारण रति) में संभोगेच्छा एकीमात्र को प्राप्त करती है वह 'समर्था रति' कहलाती है। यह साद्रतमा होती है और कृष्ण सुख की भावना से संचालित होती है। यही सर्वश्रेष्ठा मधुरा रति है जो ब्रज देवियों में विद्यमान होती है। यह नित्य एवं एक रस है।[1] इसमें केवल कृष्ण के सांख्यार्थ ही उद्यम होता है। इसमें अद्‌भुत विलास लहरियों का चमत्कार उत्पन्न करने वाली शोभा विद्यमान रहती है। शनैः शनैः यही रति प्रौढ़ता को प्राप्त होकर क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग तथा 'महाभाव' की दशा को प्राप्त करती है।

रूपगोस्वामी ने मधुरा रति के उपर्युक्त तीनों भेदों साधारणी, समंजसा और समर्था रति के पारस्परिक महत्व पर प्रकाश डालते हुये कहा है कि ये तीनों क्रमशः मणि के समान नाति सुलभ, चिन्तामणि के समान सुदुर्लभ, तथा कौस्तुभ मणि के समान अनन्यलभ्य होती हैं।[2] इस आधार पर समर्था–रति को 'अनन्यलभ्या' माना जा सकता है।

भावों के आधार पर मधुरा रति के आठ भेद माने जा सकते हैं – 1. प्रेम 2. स्नेह 3. मान 4. प्रणय 5. राग 6. अनुराग 7. भाव और 8. महाभाव। महाभाव की दशा ही समर्था रति की चरम परिणति मानी गयी है। इसके क्रमिक विकास के सन्दर्भ में कहा गया है कि जैसे बीज से ऊख उत्पन्न होता है, फिर उससे रस, रस से गुड़, गुड़ से खांड, खांड से शर्करा और शर्करा से सितोपला या मिश्री निर्मित होती है। उसी प्रकार मधुरा रति का भी प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग भाव और महाभाव में क्रमशः विकास होता है और उसी में उसकी पूर्णता प्राप्त होती है।[3] इसका विशद विवेचन अगले अध्याय में किया जायेगा।

---

1. उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी, स्थायिभाव प्रकरण, का. 46, 51
2. साधारणी निगदिता समंजसासो समर्था च।
   कुब्वादिषु महिषीषु च गोकुलदेवीषु च क्रमतः।।
   मणिवच्चिन्तामणिवत्कौस्तुभ मणिवत्त्रिघाभिमता।
   नाति सुलमेयममितः सुदुर्लभा स्यादनन्यलभ्या च।।
   – उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी, स्थायिभाव प्रकरण, का. 37–38
3. स्याद्‌दढेयं रतिः प्रेमा प्रोद्यन्स्नेहः क्रमादयम्।
   स्यान्मानः प्रणयो रागोनुरागो भाव इत्यपि।।
   बीज भिक्षुः स च रसः स गुडः खण्ड एव सः।
   स शर्करा सिता सा च सा यथा स्यात्सितोपला।।
   – उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, स्थायिभाव प्रकरण, का. 53–54

मधुररस के आलम्बन

मधुररस के नियसि में निखिल रसानन्द मूर्ति ब्रजेशनन्दन श्री कृष्ण और उनकी नित्य कान्ता महाभावस्वरूपा श्री राधिका को ही नायक और नायिका के रूप में परिकल्पित किया गया है।[1] मधुररस में भगवान श्री कृष्ण और उनकी वल्लभाएं आलम्बन कहे गये हैं।[2] चैतन्यचरितामृतम के अनुसार परमात्मा–स्वरूप श्री कृष्ण के निखिल रसामृत मूर्ति होने के कारण उनसे सम्बन्धित समस्त विषय रसस्वरूप ही है। उनका सौरभ्य से उद्वर्तन, स्नेह से अभ्यंजन, मार्धुय से स्नान, लावण्य से मार्जन, सौन्दर्य से अनुलेपन और त्रैलोक्य श्री से शृङ्गार होता है। श्री कृष्ण धीरललित नायक शिरोमणि है। वे मधुररस की रसमयी मूर्ति तथा उसके आश्रय हैं। निरन्तर अपनी वल्लभा महाभाव–स्वरूपा राधा के साथ क्रीड़ा करते हैं। श्री कृष्ण का वल्लभाओं के साथ सदैव काम–क्रीड़ा करना ही उनका उज्ज्वल चरित्र है। अपनी रूपमाधुरी, वेणुमाधुरी और ऐश्वर्य माधुरी से ये पुरुष, स्त्री, स्थावर, जङ्गम सब के चित्त को आकर्षित करते हैं। अपने–अपने स्वाभावानुसार भक्तों के हृदयों में जो भिन्न–भिन्न प्रकार के रसों का उद्रेक होता है, उनके वे आश्रय हैं। कृष्ण साक्षात् मन्मथ मदन–रसराज–मूर्तिधर शृङ्गार हैं। उनका रूप माधुर्य लक्ष्मीकांतादि के साथ–साथ उनके मन को भी हरण कर लेने वाला है जिससे अपने आपका ही वे आलिङ्गन करना चाहते हैं।[3] चतुःषष्टि कलासमन्वित श्री कृष्ण अनन्त गुणों से युक्त कहे गये हैं तथापि प्रेमी के रूप में उनके पच्चीस गुण विशेष माने गये हैं। श्री कृष्ण को पति और उपपति दो रूपों में प्रदर्शित किया गया है। उपपति के रूप में ही प्रेमी कृष्ण के प्रेम का शृङ्गार–भाव का परमोत्कर्ष होता है। औपपत्य भाव का प्रेम प्राकृत नायक के लिये वर्जित माना गया है

---

1. नायक नायिका दुह रसेर आलम्बन।
   सेह दुइ श्रेष्ठ राधा ब्रजेन्द्र नन्देन।।
   – चै. चरितामृत – कृष्णदास गोस्वामी, मध्यलीला, परि. 24, पृ. 292
2. अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च वल्लभाः।
   – उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी, नायक भेद प्रकरण
3. चैतन्यचरितामूत – कृष्णदास गोस्वामी, परि. 8, पृ. 148–149
   उद्घृत – मधुररस : स्वरूप और विकास, पृ. 319

किन्तु अप्राकृत नायक श्री कृष्ण के लिये वह वर्जित नहीं है क्योंकि रसावतार श्री कृष्ण की अलौकिक लीला भूमि को प्राप्त कर यह उपपति–भाव वन्दनीय बन जाता है। परकीयाभाव की रति के लिये ही कृष्ण का अवतरण हुआ था। इस मान्यता के आधार पर नायक शिरोमणि श्री कृष्ण के ब्रज में 'पूर्णतम' मधुरा में 'पूर्णतर' और द्वारिका में 'पूर्ण' कहा गया है। इस प्रकार श्री कृष्ण एवं उनके नित्य लीलापरिकरों को मधुर रस का आलम्बन माना जा सकता है। इनका विस्तृत विवेचन नायक के वर्णन–प्रसंग में किया जा चुका है।

मधुररस के आश्रयालम्बन के रूप में श्री कृष्ण की कान्तागणों को लक्ष्मीगण, महिषीगण तथा ब्रजांगनागण इन तीन रूपों में निरूपित कर ब्रजांगनाओं को ही मधुर रस का आश्रयालम्बन माना गया है। श्री कृष्ण की अनन्त कान्ताएं बतायी गयी है उनसें श्री राधिका को मुख्य रूप से उनकी नित्य कान्ता कहा गया है। इस प्रकार श्री कृष्ण की ब्रजवल्लभाओं को स्वकीया और परकीया हम दो भेदों में विभाजित कर उनके पृथक्–पृथक् भेदोपभेदों का वर्णन किया गया है जिसका विस्तृत विवेचन नायिका–निरूपण के प्रसङ्ग में किया जा चुका है।

मधुररस के उद्दीपन विभाव

भक्तिरस के परिप्रेक्ष्य में उद्दीपन विभाव का लक्षण करते हुये रूपगोस्वामी की मान्यता है कि जो भगवान के प्रति प्रेम को उद्दीप्त करें वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं।[1] विभाव दो प्रकार के कहे गये हैं – आलम्बन और उद्दीपन। मधुररस में श्री कृष्ण तथा उनकी प्रियाओं के गुण, नाम, चरित्र, मण्डन, सम्बन्धी तथा तटस्थ को उद्दीपन विभाव कहा गया है।[2] गुण उद्दीपन विभाव के तीन भेद किये गये हैं – 1. मानस 2. वाचिक तथा 3. कायिक। मानस गुण में कृतज्ञता, क्षमा, करूणा आदि को ग्रहण किया गया है। वाचिक गुण वे होते हैं जो कर्ण को आनन्द प्रदान करते हैं। कायिक गुणों में वय, रूप, लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूपता, माधुर्य तथा मृदुता आदि को स्वीकार किया गया है। मधुररस में चार प्रकार के वय कहे गये हैं – वयः सन्धि, नव्य, व्यक्त और पूर्ण। रूपगोस्वामी ये सभी उद्दीपन

1. भक्तिरसामृतसिन्धु – रूपगोस्वामी, उद्दीपनविभाव लहरी
2. उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी, उद्दीपनविभाव प्रकरण, का. 1

विभाव नायक और नायिका दोनों पक्षों में स्वीकार करते हैं।[1]

चरित्र नामक उद्दीपन विभाव के दो भेद किये गये हैं। 1. अनुभाव 2. लीला। चित्त में स्थित भावों के बोधक अनुभाव माने जाते हैं। इनका वर्णन आगे करेंगे। लीला के अन्तर्गत अनेक क्रियाएं बतायी गयी है। जैसे – चारु विक्रीड़ इसमें रासलीलाएं तथा कन्दुक क्रीड़ा मुख्य मानी गयी हैं। इनके अतिरिक्त ताण्डव (नृत्य), वेणुवादन, गोदोहन, पर्वतोद्वार, गोहूति, गमन इत्यादि विविध क्रियाएं उद्दीपन विभाव बतलायी गयी हैं।[2]

मण्डन उद्दीपन विभाव के भी चार भेद होते हैं – वस्त्र, आभूषण, माल्यधारण तथा अनुलेपन।[3]

इसी प्रकार 'सम्बन्धित उद्दीपन' विभाग के भी दो भेद किये गये हैं 1. लग्न 2. संनिहित। लग्न के अन्तर्गत अनेक उद्दीपन विभाव कहे गये हैं –

वंशीरव, श्रृङ्गीरव, गीत, सौरभ्य, भूषणक्वणन, पदचिन्ह, विपञ्चीनिक्वाण, शिल्पकौशल इत्यादि।[4]

संनिहित सम्बन्धित उद्दीपन विभाव के भी कई अंग होते है – निर्माल्य अर्थात् उतारी हुई माला, बर्हगुञ्ज, अद्रिधातु, नैचिकीसमुदय, लगुडी, वेणु, श्रृङ्गिका, तत्प्रेष्ठदृष्टि, गनेधूलि वृन्दारण्य इत्यादि। इनके आश्रित भी कुछ अन्य उद्दीपन बताये गये हैं – जैसे – पक्षी, भृङ्ग, मृग, कुञ्ज, लता, तुलसी, कर्णिकार, कदम्ब, गोवर्द्धन, रविसुता (यमुना) तथा रासस्थली इत्यादि।[5]

तटस्थ उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत नायक–नायिका से असम्बद्ध कुछ प्राकृतिक वस्तुएं प्रतिपादित की गयी हैं। इनमें चन्द्रिका, मेघ, विद्युत, बसन्त, शरद्, पूर्णचन्द्र, गन्धवाह, खग, मुरली–माधुरी, सखी स्नेह आदि मुख्य माने गये हैं।[6]

---

1. उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी, उद्दीपनविभाव प्रकरण, का. 2–7
2. उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी, उद्दीपनविभाव प्रकरण
3. उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी, उद्दीपनविभाव प्रकरण, पृ. 281
4. उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी, पृ. 283, कारिका – 58
5. उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी, पृ. 287, का. – 71–72
6. उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी, पृ. 287, का. – 98

उपर्युक्त उद्दीपन विभावों में श्री कृष्ण की मुरली–माधुरी को सर्वश्रेष्ठ उद्दीपन विभाग माना गया है।

मधुररस के अनुभाव

'अनुभाव' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये आचार्य भरत ने कहा है कि 'अनुपश्चात् भवन्तीति अनुभावाः' अथवा अनुभावयन्ति, ज्ञापयन्ति भावान् इति अनुभावाः' ।[1] इस व्युत्पत्ति के अनुसार रसोत्पत्ति के बाद होने वाले उसके सूचक जो बाह्य लक्षण हैं उनको साहित्य शास्त्र में अनुभाव कहा गया है।

भक्तिशास्त्र में इस अनुभाव को 'उद्भासुर' के नाम से अभिहित किया गया है। इसका लक्षण निरूपित करते हुये रूपगोस्वामी ने लिखा है कि 'अनुभाव तो चित्त में स्थित मुख्य भावों के बोधक होते हैं। वे प्रायः बाह्य विक्रिया रूप होते हैं और 'उद्भासुर' की संज्ञा से व्यक्त किये गये हैं।[2]

उज्जवलनीलमणि में मधुररस के अनुभाव तीन प्रकार के बताये गये हैं – 1. अलङ्कार 2. उद्भास्वर और 3. वाचिक। अलङ्कार के अन्तर्गत भी तीन प्रकार के अनुभाव कहे गये हैं – अङ्गज, अयत्नज और स्वभावज। अङ्गज अलङ्कारों में भाव, हाव और हेला मुख्य माने गये हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य तथा धैर्य ये सात अनुभाव 'अयत्नज' कहे गये हैं। स्वभनवज अलंकारों में दस प्रकार के अनुभाव बताये गये हैं – लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित तथा विकृत। विब्बोक भी गर्व और मान भेद से दो प्रकार का कहा गया है।[3] विकृत भी ह्यिा, मान, ईर्ष्या–इत्यादि भेदों से अनेक प्रकार का माना गया है। रूपगोस्वामी के मत में अलङ्कारों के अन्य भेद भी सम्भव हैं किन्तु भरतमुनि के मत से असम्मत होने के कारण उनका निरूपण नहीं किया गया। फिर भी उन्होंने मौग्ध्य और चकित जैसे भेदों का

---

1. नाट्यशास्त्र – आचार्य भरत, 6/31
2. अनुभावस्तु चित्तस्थभावनामबोधकः।
   ते बहिर्विक्रियाप्रायाः प्रोक्ता उद्भासुराख्यया।
   – भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, द. वि. अनुभावलहरी, का. 1
3. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, अनुभाव प्रकरण, कारिका 1–5

उल्लेख अवश्य किया है।[1]

'उद्भास्वर' अनुभावों के भी कई भेदों का वर्णन किया गया है। इनमें मुख्य हैं – नीवीविस्रंसन, उत्तरीयस्रंसन, धम्मिलस्रंसन, गात्रमोटन, जम्भा, प्राण–फुल्लत्व और निःश्वास इत्यादि।[2]

इसी प्रकार वाचिक अनुभाव भी कई प्रकार के है जैसे – आलाप, विलाप, संलाप, अनुलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश, निर्देश, व्यपदेश, कीर्तित तथा वचनारम्भ ये 12 भेद वाचिक अनुभाव के भेद होते हैं।[3]

रूपगोस्वामी ने मधुररस के अनुभावों में सहज प्रेम से प्रादुर्भूत ललित, विलास इत्यादि भावों को भी अनुभावों के अन्तर्गत स्वीकार किया है। उन्होंने अनुभावों को सात्विक अलंकार के नाम से भी अभिहित किया है। रूपगोस्वामी की मान्यता में उपर्युक्त समस्त अनुभाव सभी रसों में उपयुक्त माने जा सकते हैं किन्तु माधुर्याधिक्य के पोषक होने से इस मधुर (शृङ्गार) रस में ही इनका निरूपण किया गया है।[4]

मधुररस के सात्विकभाव

आचार्य रूपगोस्वामी के अनुसार साक्षात् अथवा किञ्चिद् व्यवधान से कृष्ण सम्बन्धित भावों से आक्रान्त चित्त को विद्वज्जन 'सत्व' कहते है। इस 'सत्व' से जो भाव उत्पन्न होते है वे सात्विक भाव कहलाते हैं।[5] रूपगोस्वामी ने परम्परागत काव्यशास्त्र में स्वीकृत सात्विक भावों को ही अपने मधुररस के सिद्धान्त में स्वीकार किया है। स्तम्भ, स्वेद इत्यादि आठ सात्विक भाव रूपगोस्वामी ने भी माने हैं।[6] इनके निरूपण में कुछ नवीनता अवश्य देखी जा सकती है। जैसे – इन्होंने आठों सात्विकों को स्निग्ध, दिग्ध और रूक्ष तीन वर्गों में विभक्त किया है। स्निग्ध के भी मुख्य और गौण दो भेद किये हैं। वृद्धि की

---

1. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, अनुभाव प्रकरण, कारिका 59–60
2. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, अनुभाव प्रकरण, कारिका 63
3. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, अनुभाव प्रकरण, कारिका 46
4. उ. जी. म. – रूपगोस्वामी, अनुभाव प्रकरण, कारिका – 91
5. भक्तिरसामृतसिन्धु – रूपगोस्वामी, भ. र. सि. द. वि. सात्विक भाव लहरी, कारिका – 1–2
6. उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी, सात्विक भाव प्रकरण

दृष्टि से सात्विकों को धूमायित, ज्वलित, दीप्त और प्रदीप्त इन चार भेदों में वर्णन किया गया है। भक्तिरस के परिप्रेक्ष्य में इनका विस्तृत वर्णन भक्तिरसामृतसिन्धु में किया गया है।

मधुररस के व्यभिचारिभाव

साहित्यशास्त्र में व्यभिचारिभावों को संचारी भावों के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। व्यभिचारी की व्युत्पत्ति करते हुये कहा गया है कि – 'विशेषण आभिमुख्येन च स्थायिनं प्रति चरन्ति' इति अर्थात् विशेषरूप से और स्थायिभाव के प्रति अनुकूलता को चरण करते हैं, इस व्युत्पत्ति के अनुसार वाचिक, आङ्गिक और सात्विक रूप जो भाव हैं वे 'व्यभिचारिभाव' कहलाते हैं और वे स्थायिभाव की गति का संचालन करने के कारण 'संचारिभाव' भी कहे जाते हैं।[1] इन व्यभिचारिभावों की संख्या 33 निर्धारित की गयी है। ये व्यभिचारिभाव स्थायिभावरूप सुधा सिन्धु में लहरों के समान उन्मज्जित और निमज्जित होकर (लहरों के समान) उसको बढ़ाते हैं तथा तद्रूपता को प्राप्त होते हैं। वे व्यभिचारी भाव निम्नलिखित हैं –

1. निर्वेद 2. विषाद 3. दैन्य 4. ग्लानि 5. श्रम 6. मद 7. गर्व 8. शङ्का 9. त्रास 10. आवेग 11. उन्माद 12. अपस्मार 13. व्याधि 14. मोह 15. धृति 16. आलस्य 17. जाड्य 18. व्रीडा 19. आकार–गोपन (अवहित्थ) 20. स्मृति 21. वितर्क 22. चिन्ता 23. मति 25. घृति 25. हर्ष 26. औत्सुक्त 27. उग्रता 28. अमर्ष 29. असूया 30. चपलता 31. निद्रा 32. स्वप्न 33. बोध[2]

इनके अतिरिक्त मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, वलीबता, क्षमा, आश्चर्य, उत्कण्ठा, विनय, संशय, धृष्टता आदि 13 भावों को उपर्युक्त व्यभिचारिभावों में अर्न्तभूत बताया गया है। इनका पृथक् विवेचन रूपगोस्वामी द्वारा नहीं किया गया।

---

1. अथोच्यन्ते त्रयस्त्रिशद्भावा ये व्यभिचारिणः।
   विशेषेणामिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति।।
   वागङ्गसत्व सूच्या ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः।
   संचारयन्ति भावस्य गतिं संचारिणो पि ते।।
   – भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, द. वि. व्यभिचारिभाव लहरी, का. 1, 2
2. भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, व्यभिरिमावलहरी, का. 4–6

रूपगोस्वामी द्वारा निरूपित व्यभिचारिभावों का वर्णन पूर्वपरम्परा से कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है। इसमें व्यभिचारिभावों को स्वतन्त्र और परतन्त्र भेद से दो प्रकार का कहा गया है। परतन्त्र के भी वर तथा अवर (उत्तम तथा अधम) दो भेद किये गये हैं। वर को भी 'साक्षात्' और 'व्यवहित' इन दो वर्गों में विभक्त किया गया है। इनमें मुख्य रति को उत्पन्न करने वाले (वर परतन्त्र व्यभिरिभाव साक्षात् कहलाते हैं) गौणी रति को पुष्ट करने वाले भाव व्यवहित परतन्त्र भाव कहे जाते हैं। इसी प्रकार अवर परतन्त्र भाव का लक्षण करते हुये कहा गया है कि मुख्य और गौण दोनों प्रकार की रति (रस) को जो अंग न बन सके वह अवर व्यभिचारिभाव कहा जाता है।

स्वतन्त्र संचारिभावों के संदर्भ में कहा गया है कि वे स्थायिमावों से पृथक रहकर स्वतन्त्र रूप से विकास को प्राप्त होते हैं। स्वतन्त्र संचारिभाव या तो रतिशून्य अर्थात् स्थायी के सम्पर्क से शून्य होगा अथवा रतिगंधिन् अर्थात् स्थायी का संकेत देने वाला होगा।

साहित्य शास्त्र में जिन व्यमिचारिभावों और संचारिभावों को परस्पर पर्याय रूप में प्रतिपादित किया गया है उन्हें रूपगोस्वामी ने भक्तिरस के परिप्रेक्ष्य में व्यमिचारी एवं संचारी भावों का विश्लेषण पृथक–पृथक रूप से किया है। आचार्य रूपगोस्वामी की मान्यता है कि व्यमिचारीभाव सम्मुख उपस्थित होकर स्थायी भाव को पुष्ट करते हैं और इनका प्रदर्शन वचन, अङ्क तथा सात्विकों द्वारा होता है किन्तु संचारी भाव 'भाव' की गति का संचालन करते हैं। ये संचारी प्रकट विलीन तो होते ही है साथ ही स्थायी भाव को पुष्ट करके तद्रूप भी हो जाते है।

उपर्युक्त 33 व्यमिचारिभावों को जो उल्लेख हुआ है उनमें प्रारम्भ के निर्वेद से व्याधि तक के 13 भावों को संचारिभावों के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। बाद के अर्थात् 'मोह' से 'बोध' तक के 20 भावों को व्यमिचारियों के अन्तर्गत स्थापित किया गया है।

इनका विस्तृत विवेचन रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृत सिन्धु में दिया है।[1] रूपगोस्वामी ने व्यमिचारिभावों के अन्तर्गत भावोत्पत्ति, भावसन्धि, भावशाबल्य और भावशान्ति को भी स्वीकार किया है।

---

1. भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, दक्षिण वि. व्यभिरिमावलहरी लहरी।

मधुररस के भेद

रूपगोस्वामी ने श्रृङ्गार, जिसे मधुर अथवा उज्जवलरस के रूप में अभिहित किया है, उसके दो भेद हैं – 1. विप्रलम्भ 2. सम्भोग। विप्रलम्भ को परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा है कि प्रथम मिलन से पूर्व अथवा मिलन के पश्चात् नायक–नायिका की युक्त वा आयुक्त अवस्था में एक दूसरे से अभीष्ट आलिङ्गन (चुम्बनादि) की अप्राप्ति में प्रबल उत्कण्ठावश जो भाव प्रकटित होता है उसे 'विप्रलम्भ' कहते है।[1]

रूपगोस्वामी ने विप्रलम्भ को संयोग के पूर्व ही प्रतिपादित किया है और संयोग के विकास में उसे कारण के रूप में प्रस्तुत किया है। अन्य आचार्यों ने पहले संभोग (संयोग) का वर्णन किया है फिर विप्रलम्भ का किन्तु रूपगोस्वामी ने पहले विप्रलम्भ को ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार विप्रलम्भ के बिना संभोग की पुष्टि सम्भव नहीं है। मधुररस के परिपाक में उन्होंने विप्रलम्भ को ही मुख्य माना है और उसमें ही राग की चरम परिणति प्रतिपादित की है। जैसे कषैले है उसी प्रकार विप्रलम्भ के कारण मधुर रस अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त करता है।[2]

रूपगोस्वामी ने विप्रलम्भ के चार भेद किये है –

1. पूर्वराग 2. मान 3. प्रेम वैचित्र्य 4. प्रवास

1. पूर्वराग

पूर्वराग का लक्षण करते हुए उन्होंने लिखा है कि नायक–नायिका के मिलन से पूर्व परस्पर प्रत्यक्ष दर्शन करने से, (चित्रपटादि) देखने से तथा एक दूसरे के गुणों को (किसी अन्य से) श्रवण करने से, एक–दूसरे के प्रति जो रति प्रादुर्भूत होती है वही रति

---

1. 'स विप्रलम्भः संयोग इति द्वेघोज्ज्वलो मतः'
   यूनोरयुक्तयोर्भावो युक्तयोर्वाथ यो मिथः।
   अभीष्टालिङ्मनादीनामनवाप्तौ प्रकृष्यते।
   स विप्रलम्भो विज्ञेयः संभोगोन्नति कारकः।
   उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, शृङ्गारभेद प्रकरण, का. – 1, 2
2. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. – 3

(विभावादि के साथ मिलकर जब आस्वादनीय होती है) तो उसे पूर्वराग कहते है।[1] इस पूर्वराग के कुछ संचारी भाव भी बताये हैं – जैसे – व्याधि, शङ्का, असूया, श्रम, क्लम, निर्वेद, औत्सुक्य, दैन्य, चिन्ता, निद्रा, प्रबोधन, विषाद, जड़ता, उन्माद, मोह एवं मृत्यु आदि।[2]

पूर्वराग के भी तीन भेद बताये गये है –

1. प्रौढ 2. समञ्जस 3. साधारण

समर्थ रति को ही प्रौढ़ कहा गया है। इसकी दस अवस्थाएं पूर्व परम्परा की ही अनुकरण मानी जा सकती हैं। वे दस दशाएं इस प्रकार है –

1. लालसा 2. उद्वेग 3. जागर्या 4. तनुता
5. जडिमा 6. वैयग्रय 7. व्याधि 8. उन्माद
9. मोह 10. मृति।

कही–कहीं 'तनुता' के स्थान पर 'विलाप' का वर्णन किया गया है।[3]

समञ्जस नामक पूर्वराग की भी अनेक अवस्थाएं प्रतिपादित की गयी हैं – इनमें अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण–संकीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मृति आदि दशाएं मुख्य मानी गयी है। समञ्जस रति को ही सामान्यतः समञ्जस कहा गया है।[4] इसी प्रकार 'साधारण रति' को ही प्रायः 'साधारण' नामक पूर्वराग कहा गया है। इसकी भी छः दशाएं बतलायी गयी है – 1. अभिलाष 2. चिन्ता 3. स्मृति 4. गुण संकीर्तन 5. उद्वेग तथा 6. विलाप। पूर्वराग के अन्तर्गत कामलेख तथा माल्यार्पण को भी स्वीकार

---

1. रतियां संगमात्पूर्व दर्शनश्रवणादिजा।
   तयोरुन्मीलति प्राज्ञैः पूर्वरागः स उच्यते।।
   उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. 4–5
2. उज्ज्वलनीलमणि – रूपगोस्वामी, कारिका – 16–17
3. समर्थरतिरूपस्तु प्रौढ़ इत्यमिधीयतै।
   लालसादिरिह प्रौढ़े मरणान्ता दशा भवेत – उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. 18–21
4. भवेत्सम जसरतिस्वरूपो यं समञ्जसः।
   अन्नाभिलाषचिन्तास्मृतिगुणसंकीर्तनोद्वेगाः।।
   सविलापा उन्मादव्याधी जडता मृतिश्च ताः क्रमशः।उ.नी.म. – रूपगोस्वामी, का. – 46

किया गया है।[1] ये सब कार्य कृष्ण, उनकी कान्ताओं तथा मित्रों के द्वारा सम्पन्न किये जाते है। कामलेख के भी दो भेद किये गये है – 1. निरक्षर तथा 2. साक्षर। इन सबके उदाहरण आगे इसी अध्याय में प्रस्तुत किये जायेंगे।

2. मान

रूपगोस्वामी के अनुसार नायक–नायिका के परस्पर अनुरक्त होने पर एक स्थान पर रहते हुए भी उनके अभीष्ट आलिङ्गन व दर्शनादि का जो विरोधी भाव है उसे मान कहते है।[2] निर्वेद, शङ्का, अमर्ष, चपलता, गर्व, असूया, अवहित्या (भावगोपन) ग्लानि एवं चिन्ता आदि इसके संचारी भाव कहे गये हैं। मान के दो भेद होते है – 1. सहेतु और 2. निर्हेतु। प्रणय ही मान की उत्तमावस्था है। सहेतु और निर्हेतु को क्रमशः ईर्ष्यामान तथा प्रणयमान के रूप में भी अभिहित किया गया है। प्रियतम के द्वारा किसी अन्य नायिका के प्रति प्रणयोत्कर्ष प्रकट हो जाने पर (प्रधान नायिका) में ईर्ष्या रूप जो भाव प्रकट होता है वहीं 'ईर्ष्यामान' कहलाता है। यह ईर्ष्यामान तीन प्रकार से प्रकट होता है – श्रवण, अनुमिति और दर्शन। इनमें श्रवण के अन्तर्गत सखियों तथा शुक्र आदि के वचन माने गये हैं। अनुमिति का अभिप्राय है अनुमान। यह अनुमान तीन प्रकार से प्रकाशित होता है – 1. भोगाङ्क दर्शन 2. गौत्रस्खलन और 3. स्वप्न।

भोगाङ्क का अभिप्राय सम्भोग जन्य चिन्हों से है। यह नायक और प्रतिनायिका दोनों के ऊपर परिलक्षित हो सकता है।

दूसरी नायिका का नाम ग्रहण हो जाना, गोत्रस्खलन कहलाता है। यह अतिशय ईर्ष्या का कारण होता है और मृत्यु से भी अधिक दुखदायी होता है। 'स्वप्न' द्वारा भी ईर्ष्यामान का प्रादुर्भाव होता है। यह स्वप्न कभी हरि के और कभी विदूषक के द्वारा प्रकट होता है।

---

1. भवेत्सम जसरतिस्वरूपो यं समञ्जसः।
   अन्नाभिलाषचिन्तास्मृतिगुणसंकीर्तनोद्वेगाः।।
   सविलापा उन्मादव्याधी जडता मृतिश्च ताः क्रमशः।उ.नी.म. – रूपगोस्वामी, का. – 58
2. दम्पत्ययोभवि एकत्र सतोरप्यनुरक्तयौः।
   स्वामीष्टाश्लेषणवीक्षादि निरोधी मान उच्यते। उ.नी.म. – रूपगोस्वामी, का. 68–71

निर्हेतु मान अकारण तथा कारणाभास दो प्रकार का होता है। यह नायक और नायिका दोनों पक्षों में उत्कृष्ट रूप से होने वाला प्रणय ही निर्हेतु मान हुआ करता है।[1] कभी–कभी दोनों में एक साथ ही दिखाई पड़ता है। विद्वानों द्वारा इसे ही 'प्रणयमान' कहा गया है। इसका अभिप्राय है प्रेम के द्वारा (प्रिय को) प्रसन्न अथवा वश में करना। उसको भङ्ग करने वाला मान प्रणयमान कहलाता है।[2]

रूपगोस्वामी के अनुसार विद्वानों ने निर्हेतुमान को प्रणय का सर्वोत्कृष्ट विलास का वैभव कहा है। उनके अनुसार प्रेम की गति सांप की गति के समान–स्वभाव से ही कुटिल होती है, इसलिए हेतु या निर्हेतु दोनों प्रकार से प्रेमी तथा प्रेयसी में 'मान' उत्पन्न हो जाता है।[3] निर्हेतु मान प्रिया या प्रियतम के आलिङ्गन, तथा मुस्कान पर्यन्त ही रहकर स्वयं शान्त हो जाता है। अतः मान में जो हेतु होते है उन्हें शांत करने के लिए रूपगोस्वामी ने मान–मोचन के उपायों का भी वर्णन किया है। इन उपायों में साम, भेद, क्रिया, दान, नति (प्रणति) उपेक्षा तथा रसान्तर (अन्य रस) आदि मुख्य माने गये है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी इन्हीं उपायों का वर्णन किया है। इनके लक्षण एवं भेद–उदाहरण के साथ ही आगे प्रस्तुत किये जायेंगे।

रूपगोस्वामी के मत में ब्रजवल्लभाओं में मान–भङ्ग देशकाल बल से या मुरलीश्रवण आदि से बिना उपाय के भी हो सकता है।[4]

मान के उपर्युक्त दो भेदों के (सहेतु और निर्हेतु) अतिरिक्त भी इसके तीन अन्य भेदों का वर्णन किया गया है। वे हैं – लघु, मध्यम और महिष्ठ (गुरू) सरलतापूर्वक समाप्त हो जाने वाला मान लघु, यत्नपूर्वक साध्य होने वाला मान मध्यम तथा उपाय से अत्यन्त असाध्य होने वाला मान महिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ कहा गया है।[4]

रूपगोस्वामी के अनुसार कृष्ण के प्रति गोपियों द्वारा जिन रोषपूर्ण वचनों को

---

1. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी – मान प्रकरण, का. 17
2. प्रेमपूर्वको वशीकारः प्रणयः, तदभङ्गो र्मान प्रणयमानः स च द्वयोनविकय र्मिवलि
   दशरूपक – आचार्य धन जय, वृत्ति भाग–का. 59
3. उ.नी.म. (हिन्दी टीका) – रूपगोस्वामी, भान प्रकरण, का. – 17–22
4. उ.नी.म. (हिन्दी टीका) – रूपगोस्वामी, भान प्रकरण, का. – 38

सम्बोधित किया जाता है वे इस प्रकार है – दुलीलेशेखर, कितवेन्द्र, महाघूर्त, कठोर, निरपत्रम, अनिदुर्ललित, गोपीभुजङ्ग, रतहिण्डक, गोपिकाधर्मविध्वंसी, गोपसाध्वीविडम्बक कामुकेश, तसिसौघ, श्यामात्माम्बरतस्कर, गोवर्द्धनतट तथा अरण्य मार्ग पर विचरण करने वाला पाटच्चर इत्यादि।[1] इन सबके उदाहरण रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में देखी जा सकते हैं।

3. प्रमवैचित्र्यम्

विप्रलम्भ के तृतीय भेद 'प्रेमवैचित्रय' का लक्षण प्रतिपादित करते हुए रूपगोस्वामी ने लिखा है कि प्रेमोत्कर्षण के कारण प्रिय के सन्निकट रहने पर भी उससे विछोह होने के भय से जो पीड़ा का अनुभव होता है उसे ही 'प्रेमवैचित्य' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।[2] प्रेमवैचित्य का अभिप्राय है 'प्रेम जनित विचित्तता' प्रेमी में चित्त की केन्द्रीभूततावशतः अन्यान्य विषय में अमनस्यकता। रूपगोस्वामी ने इसके भेदों का वर्णन नहीं किया है। अन्य आचार्यों के मत में प्रेमवैचित्य एक विचित्र प्रकार की अनुराग दशा है इसमें स्नेह, मन–प्राण को ढक लेता है और प्रेमिका भावावेश के कारण सुध–बुध भूलकर उन्मत्त सी हो जाती है। प्रेमी के रूप, कर्म, श्रृंगारादि के प्रति उसके मन में प्रबल अनुराग का उदय होता है। प्रेम वैचित्य के तीन भेद बताये गये है – 1. रूपानुराग, 2. अपेक्षानुराग और 3. रसोद्‌गार। प्रेमी के रूप में प्रबल आकर्षण और अनुराग को 'रूपानुराग' प्रेमाविधक्य के कारण नायक से सम्बन्धित वस्तुओं दूत एवं दूतियों, सखा एवं सखियों या अपने आपको दोष देना अपेक्षानुराग तथा अतीत की मधुर स्मृतियों, क्रीडाओं एवं आनन्दपूर्ण मधुमयी घड़ियों के स्मरण को रसोद्‌गार की संज्ञा दी गयी है।[3]

4. प्रवास

रूपगोस्वामी के अनुसार नायक–नायिका के मिलन के पश्चात जो देशान्तर

---

1. उ.नी.म. (हिन्दी टीका) – रूपगोस्वामी,
2. प्रियस्य संनिकषेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभातः।
   या विश्लेशधियार्तिस्तत्प्रेमवैनिचत्यमुच्यते। उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. 134
3. मधुररसः स्वरूप और विकास – डॉ. राम स्वार्थ चौधरी

गमन (ग्राम, वन) आदि से उनका एक दूसरे से व्यवधान है अर्थात् वियोग अदर्शन ही विद्वानों द्वारा 'प्रवास' कहा गया है।[1] इसके कुछ व्यभिचारिभाव भी कहे गये हैं, वे निम्नलिखित हैं। हर्ष, गर्व, मद, व्रीडा को छोड़कर शृङ्गार योग्य समस्त व्यभिचारिभाव 'प्रभाव' में परिलक्षित होते है। इनमें चिन्ता, जागर्या, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह एवं मृत्यु आदि ये दशाएं प्रवास नाम विप्रलम्भ में विशेष रूप से प्रकाशित होती है। प्रवास के दो भेद होते है ' 1. बुद्धिपूर्वक प्रवास, 2. अबुद्धिपूर्वक प्रवास। बुद्धिपूर्वक प्रवास में कृष्ण दूर कहीं, किसी कार्यवश अनुरोध करने पर प्रस्थान करते है। कृष्ण का कार्य अपने प्रिय भक्तों के प्रसादनार्थ ही कहा गया है।[2] श्रीकृष्ण का प्रस्थान भी दो प्रकार से होता है – 1. किंचिद् दूर का प्रस्थान और 2. सुदूर का प्रस्थान। सुदूर प्रस्थान भी तीन प्रकार का होता है – भावी, भवन और भूत। इस प्रकार इस प्रवास काल में श्रीकृष्ण द्वारा परस्पर सन्देश प्रेषण कार्य सम्पन्न किये जाते है।

अबुद्धिपूर्वक प्रवास पारतन्त्रोद्भव कहा गया है। यह दिव्य अदिव्य आदि रूप से उत्पन्न होता है। यह पारतन्त्र्य प्रवास अनेक प्रकार का बतलाया गया है।[3] चिन्ता, जागरण, उद्वेग, तनुता, मलिनाङ्गता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह तथा मृत्यु ये दश अवस्थाएं श्रीकृष्ण के प्रवास काल में विप्रलम्भ के विकार माने गये है।[4]

कुछ आचार्यों ने विप्रलम्भ के भेदों के वर्णन में 'करूण' को भी एक भेद माना है। रूपगोस्वामी ने करूण को 'प्रवास' का ही एक विशेष रूप स्वीकार किया है जिसका पृथक रूप से वर्णन नहीं कहा गया है।

विप्रलम्भ के भेदोपभेदों का वर्णन करने के पश्चात् रूपगोस्वामी ने श्रीकृष्ण की प्रकट एवं अप्रकट लीला के आधार पर संयोग–वियोग की स्थितियों का वर्णन किया है। श्रीकृष्ण की अप्रकटलीला नित्य संयोगमयी मानी गयी है। प्रकट लीला में ही श्रीकृष्ण की संयोग–वियोग की अवस्था उत्पन्न होती है। इसमें भी कहा गया है कि श्रीकृष्ण जब ब्रज

---

1. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. 139
2. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. 142
3. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. 151
4. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. 153

में निवास करते हैं तो उनका किसी से वियोग नहीं हुआ करता। वृन्दावन में बिहार करते हुए विविध प्रकार की विलासमयी रास लीलाओं के कारण ब्रजवल्लभाओं का श्रीकृष्ण से कभी भी वियोग नहीं होता है।[1]

श्रीकृष्ण की प्रकट–अप्रकट लीलाओं की विस्तृत व्याख्या उज्ज्वलनीलमणि में की गयी है। प्रस्तुत प्रसंग में विस्तार भय से उसका वर्णन करना सम्भव नहीं है।

संभोग श्रृंगार

रूपगोस्वामी ने संभोग शृङ्गार का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि आनुकूल्यमय दर्शन एवं आलिङ्गन–चुम्बनादि के आचरण द्वारा नायक–नायिका के उल्लास–वर्द्धनकारी–भाव को सम्भोग कहा जाता है।[2] रूपगोस्वामी के मतानुसार अप्राकृत नायक–नायिका के संभोग शृङ्गार में वासनात्मक भावना का सर्वथा अभाव हुआ करता है। उनके भीतर स्वसुखतात्पर्यमूलक कोई भी वासना नहीं होती। इसके विपरीत प्राकृत नायक–नायिका का संभोग कामजन्य हुआ करता है इसीलिए दूसरे आचार्य उसे विलासीजनों द्वारा उपयुक्त होने वाला मानते हैं। रूपगोस्वामी का संभोग शृङ्गार सम्बन्धी यह वैशिष्ट्य ही उन्हें पूर्ववर्ती आचार्यों से सर्वथा पृथक करता है। यही उनकी अपनी मौलिकता मानी जा सकती है। रसशास्त्र के आचार्य भरतमुनि का यह मत है कि सम्भोग काल में नायक–नायिका को समान सुख की अनुभूति होती है। आचार्य भरत की यह बात लौकिक संभोग रस में भले ही सार्थक हो सकती है, परन्तु श्रीकृष्ण तथा ब्रज–सुन्दरियों के सम्भोग में यह बात नहीं लागू हो सकती। इस सन्दर्भ में चैतन्य चरितामृतम् में कृष्ण द्वारा कहा गया है कि भरतमुनि नायक–नायिका दोनों के सुख को जो समान मानते है, वे गोपियों के साथ मेरे (कृष्ण के) संगम रस के विषय में कुछ नहीं जानते हैं। श्री राधा तथा मेरे परस्पर संगम में

---

1. विप्रलम्भं परं केचित्करुणामिधमूचिरे।
   स प्रवासविशेषत्वान्नैवात्र पृथगीरितः।
   उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. –170
2. दर्शनालिङ्गनादीनामानुकूल्यान्निडोवया।
   यूनोरुल्लाससमारोहन् भावः संभोग ईर्यते।
   उ.नी.म.–रूपगोस्वामी, संभोग प्रकरण का. –1

जो सुख मुझे प्राप्त होता है उससे शतगुणा अधिक सुख राधा को मिलता है।[1] इसका अभिप्राय यह है कि अप्राकृत नायक–नायिका का संभोग शृङ्गार स्वसुखाधिलेशशून्य हुआ करता है।

रूपगोस्वामी के अनुसार विद्वानों ने संभोग को मुख्य तथा गौण भेद से दो प्रकार का कहा है। इनमें जागृत अवस्था का संभोग ही मुख्य संभोग है। यह संभोग चार प्रकार का होता है – 1. पूर्वरागोपरान्त उत्पन्न संक्षिप्त संभोग, 2. मानोपरान्त उत्पन्न–सङ्कीर्ण संभोग, 3. किञ्चित् दूर प्रवासोपरान्त–उत्पन्न–सम्पन्न संभोग तथा 4. सुदूर प्रवासोपरान्त–उत्पन्न समृद्धिमान संभोग।[2] ये संभोग नायक और नायिका दोनों पक्ष में सम्पन्न होता है।

गौण संभोग

गौण संभोग का निरूपण करते हुये रूपगोस्वामी ने विद्वानों द्वारा कहे गये 'छन्न' और 'प्रकाश' इन दो भेदों को स्वीकार किया है। उनके मत में ये दोनों रूप अभीष्ट होने पर भी व्यञ्जित नहीं किये गये क्योंकि ये विशेष उल्लास से पूर्ण नहीं होते।[3]

रूपगोस्वामी के अनुसार श्री कृष्ण का स्वप्न में मिलन ही गौण संभोग कहलाता है। स्वप्न दो प्रकार का होता है – सामान्य तथा विशेष।

भावोत्कण्ठा से युक्त गौण संभोग भी मुख्य संभोग के समान चार प्रकार का होता है – 1. स्वप्न में होने वाला संक्षिप्त गौण संभोग 2. स्वप्न में होने वाला सङ्कीर्ण गौण संभोग, 3. स्वप्न में होने वाला सम्पन्न गौण संभोग, 4. स्वप्न में होने वाला समृद्धमान गौण संभोग।

रूपगोस्वामी के अनुसार संक्षिप्त आदि में संभोग के कुछ ऐसे सुन्दर तथा विशेष

---

1. दोहार ये सम रस भरतमुनि माने। अप्रभार ब्रजेर रस से हो नाहि जाने।
   अन्योन्यसङ्गने आमि यत सुख पाइ। ताहा हेते राधा–सुख क्षत अधिकाई।।
   – चैतन्यचरितामृत – कृष्णदास गोस्वामी, आदि लीला, चतुर्थ परिच्छेद
2. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, संभोग प्रकरण, का. 2–3
3. वही – " " (हिन्दी टीका) गौण संभोग प्रकरण, का. 18–21

प्रकार है, जिनसे इस रति की स्फुट भाव दशा की प्राप्ति हो जाती है। इनमें मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं –

संदर्शन, जल्प, स्पर्श, मार्गावरोध, रास, व्रजकेलि, यमुना–जलक्रीड़ा, नौकाविहार व चौर्यलीला, घाट तथा कुंज में छिपना, मधुपान, वधुवेषधारण, कपटशयन, द्यूतक्रीड़ा, वस्त्रखींचना, चुम्बन, आलिङ्गन, नखच्छेद, ओष्ठचुम्बन तथा संप्रयोग आदि।[1] इन सबके उदाहरण रूपगोस्वामी की नाट्य कृतियों में अवलोकनीय हैं।

इस प्रकार रूपगोस्वामी द्वारा, मधुरस के परिप्रेक्ष्य में मान्य रस–सिद्धान्तों का उपर्युक्त विवेचन प्रस्तुत करने के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने रस सिद्धान्त के विवेचन में पूर्ववर्ती परम्परा का अनुकरण करते हुये भक्ति रस के सन्दर्भ में अपनी विशिष्ट मान्यता निरूपित की है जो पूर्व परम्परा पर आधृत होकर भी विभाव, अनुभाव, सात्विक, संचारी, स्थायी आदि भावों के सम्बन्ध में एक नवीनता मानी जा सकती है। रूपगोस्वामी का रस सिद्धान्त पूर्णतया भक्ति भावना से संवलित होने के कारण राधा–कृष्ण के रसमय स्वरूप का समुचित संदर्शन माना जा सकता है। रूपगोस्वामी ने अपने रस सिद्धान्तों को अपनी नाट्यकृतियों में पूर्ण पुष्टि प्रदान की है। इसीलिये उनकी आलोच्य नाट्यकृतियों को उनके रस सिद्धान्तों का निष्कर्ष मानकर, उनमें प्रयुक्त होने वाले 'मधुरस' की सार्थकता सिद्ध करने का यथासम्भव प्रयास आगे अवलोकनीय है।

---

1. वही – " " (हिन्दी टीका) गौण संभोग प्रकरण, का. 18–21

(ii) रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में प्रयुक्त भावतत्व

रूपगोस्वामी की विवेच्य नाट्यकृतियों में मधुर रस का चरम परिपाक ही नाटककार का अभीष्ट प्रयोजन है। भक्तिरस की शास्त्रीय स्थापना करके आचार्य रूपगोस्वामी ने मधुररस को ही 'रसराज'[1] की संज्ञा से अभिहित किया है। इसी रस को उन्होंने 'उज्जवल रस' भी कहा है। साहित्यशास्त्र में इसी रस को शृङ्गाररस माना गया है। रूपगोस्वामी ने मधुर रस को शृङ्गार रस से श्रेष्ठ माना है क्योंकि मधुर रस अलौकिक रस का आस्वादन करने वाला है जबकि शृङ्गार रस केवल लौकिक रस का ही। इसके अतिरिक्त मधुररस और शृङ्गार रस में एक विशेष अन्तर यह है कि जब शृङ्गार रस में रजोगुण तथा तमोगुण का अवशेष समाप्त हो जाता है और उसमें केवल सत्व गुण की ही सत्ता अवशिष्ट रह जाती है तो वही दिव्य रस मधुर रस या उज्जवल रस के रूप में परिणत होता है। इस रस की ही शास्त्रीय स्थापना करने के लिये रूपगोस्वामी ने 'उज्जवलनीलमणि' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें मधुररस के सम्पूर्ण स्थायीभावों की विस्तृत सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इसमें अधिकांश उद्धरण नाटककार रूपगोस्वामी ने अपनी नाट्यकृतियों से भी समुद्घृत किये हैं। इस प्रकार की प्रामाणिकता के होते हुए विवेच्य नाट्यकृतियों में 'मधुररस' को अङ्गीरस के रूप में स्वीकार करना पूर्णतया असन्दिग्ध माना जा सकता है। इसका शास्त्रीय विवेचन पीछे विस्तारपूर्वक किया जा चुका है अतः लक्षणानुसार ही यहाँ पर विवेच्य नाट्यकृतियों से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं।

रूपगोस्वामी की तीनों नाट्यकृतियों में रसिकशिरोमणि रसराज श्री कृष्ण और उनकी नित्यहलादिनी शक्तिस्वरूपा नित्य कान्ता रासेश्वरी श्री राधिका मधुर रस के विषयालम्बन हैं। वृन्दावन बिहारी श्री कृष्ण जिनका आश्रय लेकर मधुर रस का उदय हुआ है अथवा शरणागत भक्तों के लिये जिनका करूणामय अवतार हुआ है, प्रकाशमान वृन्दावन के निकुञ्ज में निर्मित मण्डप समूह के मध्य में जिनका निवास निश्चित है, जो अबाध कृपा के सागर हैं – तथा ब्रज में विहार करने से जिनका मन अनुरञ्जित रहता है वे सनातन शरीरधारी प्रभु सदैव सन्तोष प्रदान करें, ऐसी नाटककार रूपगोस्वामी की अपनी प्रार्थना है

1. उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी, पृ. 4, का. 2

जो विदग्ध माधव के प्रारम्भ में ही निविदित की गयी है।[1] गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण के चरित्र से समन्वित उनकी यह कृति विदग्धमाधव उन्हीं श्रीकृष्ण के लिये समर्पित है ऐसा द्रष्टव्य है।[2]

विदग्धमाधव के सप्तम अंक में राधा और कृष्ण को शृङ्गार रस का सर्वस्व–स्वरूप प्राण कहा गया है जिनकी विलासक्रीडा का वर्णन किसी भी व्यक्ति के लिये पूर्णतया अपूर्ण ही माना जा सकता है। रूपगोस्वामी ने यहां भी मधुर (शृङ्गार) रस को ही 'प्रथम रस' के रूप में उल्लेख किया है।[3] विदग्ध माधव के पंचम अंक में श्रीकृष्ण स्वयं को एक भ्रमर के व्याज से स्वर्णमंच पर विराजमान साक्षात् रसराज मान लेते हैं।

''काञ्चन मञ्च निविष्टो रसराजोऽयं शरीरीव''[4]

विदग्धमाधव के द्वितीय अंक में श्रीकृष्ण के मानस गुण का उदाहरण देखा जा सकता है। राधा के प्रति अपनी अपेक्षा पर खेद करते हुये कृष्ण कहते हैं कि मेरी कठोरता को सुनकर चन्द्रमुखी राधा प्रेम के अङ्कुर को मसलती हुई प्रायः दुखी अन्तःकरण में शान्ति स्थापना कर मुझसे विमुख हो जायेगी अथवा क्या पामर कामदेव के वाणों से संत्रस्त हुई वह अपने प्राणों को त्याग देगी। हाय, मूढ़ता से मैंने फलवती कोमल मनोरथ लता को जड़ से उखाड़ दिया।[5]

वाचिकि गुण कानों को आनन्द प्रदान करने वाला होता है।[6] जैसे – विदग्धमाधव

---

1. प्रपन्नमधुरोदयः स्फुरदमन्दवृन्दाटवी
   निकुञ्जमय मण्डपप्रकरमध्य बद्धस्थितिः।
   निरङ् कुशकृपाम्बुधिर्व्रजविहार रज्यन्मनाः
   सनातनतनुः सदा मयि तनोतु तुष्टिं प्रभुः।। – वि. मा.–रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, श्लोक 7
2. वि. मा. – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, श्लोक 8
3. सर्वस्वं पथमरसस्य यः प्रथीयान् .... ।
   – वही, सप्तम अंक, श्लोक 2
4. वि. मा. – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, पृ. 248
5. विदग्धमाधव – '' , द्वितीय अंक, श्लोक–40
6. 'वाचिकास्तु गुणाः प्रोक्ताः कणनिन्दकतादयः'
   – उ. नी. म., उ. प्र., पृ. 265

में राधा श्रीकृष्ण के वचन रूपी अमृत का पान न कर पाने का खेद व्यक्त करती है।[1]

नान्दीमुखी राधा से कहती है यथा –

न मुग्धे वैदग्धीगरिम परिदिग्धा तव मति

विरामो नेदानीमपि वपुषि बाल्यस्य वयसः।

कमप्यन्तः क्षोभं प्रथयसि तथापि त्वमथवा

सखि ज्ञानं वृन्दावनमदन विस्फूर्जितमिदम्।[2]

नव्य यौवन का वर्णन नायक–नायिका के चरित्र चित्रण में द्रष्टव्य है।

रूप

किसी भी अलंकार से भूषित न रहने वाले अंग जिसके द्वारा भूषित से प्रतीत होते हैं उसे 'रूप' कहते हैं। यथा –

श्रीकृष्ण राधा के स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन करते हुये कहते हैं कि हे राधे, ललाट तक लटकने वाले तुम्हारे केशों ने कस्तूरिका पत्र को व्यर्थ कर दिया है। तुम्हारे दोनों नेत्रों ने कानों में लगे हुये कमल युग्मों को व्यर्थ कर दिया है। मुस्कान की शोभा से हार भी पर्याप्त रूप से निरर्थक हो गया है। इस प्रकार के स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त होते हुये तुम्हारे लिये बाह्य सजावट की क्या आवश्यकता है। तुम तो अपने अंगों से ही परिस्फुरित होती रहती हो।[3]

दानकेलिकौमुदी में भी राधा का निरलङ्कृत शरीर–सौन्दर्य अत्यन्त शोभन दिखायी पड़ता है।[4]

लावण्य

अङ्गों के ऊपर मोतियों की क्रान्ति के तरलत्व (झलक) के समान को प्रतिभासित

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक – 56
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक – 11
3. वही – " , सप्तम अंक, श्लोक – 47
4. त्रपते विलोक्य पद्मा ललिते राधां विनाऽप्यलङ्कारम्।
   तदलं मणिमयमण्डनमण्डलरचना प्रयासेन।
   – दानकेलिकौमुदी – रूपगोस्वामी, श्लोक – 22

होता है उसे 'लावण्य' कहते हैं। यथा – ललितमाधव में राधा के मुख बिम्ब का लावण्य अत्यन्त स्पृहणीय है। उस मुख–बिम्ब के तेज की समता प्राप्त करने के लिये चन्द्रमा कपर्दिन महादेव शिव की तपस्या करने के लिये तत्पर होता है।

कृष्ण स्वयं राधा को देखकर कहते हैं –[1]

समीक्ष्य तव राधिके वदन बिम्बमुद्‌मासुरं

त्रपाभरपरीतधीः श्रीयतुमस्य तुल्यश्रियम्।

शशी किल कृशीभवन्सुरधुनीत रङ्गोक्षितां

तपस्यति कपर्द्दिनः स्फुटजटाटवीमाश्रितः।। 1/55

सौन्दर्य

अङ्ग–प्रत्यङ्ग का सुष्ठ–सन्निवेश ही सौन्दर्य कहलाता है। यथा – दानकेलिकौमुदी में कृष्ण वृन्दा से राधा का सौन्दर्य वर्णन करते हुये कहते हैं कि अरी भोली वृन्दा! देखे जिसके अनारदाने जैसे दांत हैं, माणिक जैसा अधर है, मुख–मण्डल पर मोती जैसी मुस्कराहट की मधुरिमा है, चन्द्रकान्त जैसा चेहरा है, ऐसी यह उद्दीप्त इन्द्रमणि जैसी कान्तिवाले केशपाश से सुशोभित राधिका श्रेष्ठ तरुणियों में सबसे वरिष्ठ है।[2]

अभिरूपता

जो अपने गुणों के उत्कर्ष से समीप में स्थित किसी वस्तु को अपने स्वरूप में परिणत कर लेता है उसे विद्वान 'अभिरूपता' कहते हैं। श्रीकृष्ण की मुरली के प्रति 'अभिरूपता' का उदाहरण विदग्धमाधव के चतुर्थ अंक में देखा जा सकता है। चन्द्रावली मुरली पर उपालम्भ करती हुई कहती है सखि मुरलि, तुम विशाल छिद्रजाल से पूर्ण हो, हल्की हो, अति कठोर, मोटी और नीरस भी हो तथापि निरन्तर स्पर्श सुख से सघन हरि के हाथ के आलिङ्गन को किस पुण्य के उदय से प्राप्त करती हो।'[3]

---

1. ललितमाधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, श्लोक – 55
2. सेयं मुग्धे शिखरदशना पद्मरागाधरोष्ठी

   राजन्मुक्ता स्मितमधुरिमा चन्द्रकान्तस्य बिम्बा।

   उद्दीप्तेन्द्रोपलकचरुचिः पश्य ही राधिकेति

   त्यक्तुं युक्ता न किल तरुणी रत्नमालामहिष्ठा।

   – दा. के. कौ. रूपगोस्वामी, श्लोक 49
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक – 7

ताण्डवम्

विवेच्य नाट्यकृतियों में मयूर का नर्तन 'ताण्डवम्' नामक उद्दीपन के उदाहरण में प्रस्तुत किया जा सकता है। ललिता मयूर–नृत्य का वर्णन करती हुई कहती है हे सखि वृन्दे, अपने पंख समूह को मण्डलाकार बनाकर 'ताण्डविक' नाम से पुकारा जाने वाला यह मयूर यहां नृत्य कर रहा है। हे खञ्जननयने, कृष्ण रूपी मेघ को बिना देखे यह एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता है।[1]

वेणुवादन

मधुर रस के उद्दीपन विभावों में सबसे महत्वपूर्ण उद्दीपन 'वेणुवादन' माना गया है। विवेच्य नाट्यकृतियों में इसके अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। ललितमाधव में ललिता राधा से कहती है – राधे ! जघन प्रदेश के नीचे अपने दक्षिण पद को लगाकर, शरीर के मध्य भाग को कुछ वक्र करके, ग्रीवा को टेढ़ी तथा स्थिर करते हुए, अपने कटाक्ष को वक्रता के साथ घुमाते हुए, अपनी चंचल अंगुलियों के द्वारा अपने अधर के बीच में वंशी को सामने देखकर तुम परमानन्द को प्राप्त करो।[2]

यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा वंशीवादन किये जाने का सुन्दर वर्णन किया गया है। दानकेलिकौमुदी में भी इसी प्रकार का वर्णन अवलोकनीय है।[3]

विदग्धमाधव में भी वेणुवादन के मनोरम वर्णन द्रष्टव्य हैं।[4]

पर्वतोद्धार

विदग्धमाधव में विशाला श्री कृष्ण से कहती है – हे कमल नयन गोकुल में ऐसा कौन है जो बलात् कुलयुवतियों के मन रूपी श्रेष्ठ पर्वत को चंचल कर सके ? दुर्बोध पराक्रम के लेशमात्र से गोवर्द्धन को उठाने वाले तुम्ही उसके कारण हो। ऐसा हमारा निर्णय

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, पृ. 338, श्लोक – 34
2. ललितमाधव – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक – 28, अन्यत्र – 1/48, 9/45
3. दानकेलिकौमुदी – रूपगोस्वामी, श्लोक – 32
4. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, 1/25, 26, 27, 29/3/7, 8, 4/2, 7, 3, 5,/ 5/25, 26, 6/6, 6/7, 6/10, 12, 27

है। पुनः षष्ठ अंक में ललिता श्री कृष्ण से राधा की श्रेष्ठता बतलाती हुई कहती है कि तुमने पर्वत को हाथ से एक बार उठाया है किन्तु इस सखी गुञ्जावलि के विहार को देखकर उसके सौभाग्य पर आश्चर्य व्यक्त करती है।(1)

माधुर्यम्

रूप ही कुछ अनिर्वचनीय होकर शरीर के माधुर्य की संज्ञा प्राप्त करता है। राधा के माधुर्य का वर्णन करते हुये कृष्ण कहते हैं कि वह अपने मुख की कान्ति से चन्द्रमा को तिरस्कृत करने वाली, कुमुद की शोभाओं के आश्रय में मधुर मुस्कान वाली तथा नखों से नक्षत्रों की कान्ति को पराभूत करने वाली तथा मृगनयनी वह राधा प्रदोष की माधुरी को तिनका बना रही है।(2)

इसी प्रकार कृष्ण के वक्षस्थल, मुखमण्डल तथा भुजाओं का भी माधुर्य देखा जा सकता है।(3)

मार्दव

कोमल वस्तु के भी संस्पर्श की असहनशीलता को 'मार्दव' कहते हैं। वृन्दा राधा की सुकुमारता का वर्णन करती हुई कहती है, 'तू स्वयं नवनीत के समान सुकुमार है तो तू नवनीत से भरे कलश को माथे पर रख कैसे चल सकती है। जूही की कली रखने योग्य तेरे सिर को इससे पीड़ा होती है। अतः मुझ पर कृपा कर इस पात्र को मेरे सिर पर रख दे।(4)

नाम

इसका उदाहरण नायक के चरित्र में द्रष्टव्य है।

चरित्र

इस उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत अनुभाव और लीला के दो भेद किये गये हैं।

---

1. ललितमाधव – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक – 21
2. विदग्धमाधव – " , तृतीय अंक, श्लोक 26, अन्यत्र, द्र. 2/49
3. वही – " , द्वितीय अंक, श्लोक – 45
4. दा. के. कौ. – " , श्लोक – 21

अनुभावों के उदाहरण आगे प्रस्तुत करेंगे यहाँ लीलाओं के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। इन लीलाओं में चारूकिक्रीडा, रस, कन्दुकक्रीडा, ताण्डवम्, वेणुवादन, गो दोहन, पर्वतोद्धार, गोहूति तथा गमन इत्यादि विविध लीलाएं उल्लेखनीय हैं।

विदग्धमाधव में राधा–कृष्ण की वृन्दावन की लीलाएं ही विशेष रूप से वर्णित की गयी हैं। छठें अङ्क में विशाखा रास महोत्सव में रात्रि जागरण का राधा ने अपने कटाक्ष की छटा से अनेक बार धरणीधर कृष्ण को आकृष्ट किया है।[1]

उक्त प्रसंगों में 'पर्वतोद्धार' का वर्णन उद्दीपन रूप में माना जा सकता है।

गोहूति

विदग्धमाधव में धवलक्रान्ति गोमण्डलों को वृन्दावन में विचरण करते हुए देखकर नाटककार ने उस पर आकाशगङ्गा की उत्प्रेक्षा कर बड़ा ही मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया है।

श्रेणीभूतबपुः श्रियाभिमुखे गोमण्डली तां क्रमा –

दासां स्फाटिकमण्डशैलपटलीपाण्डुत्विषां व्याजतः।

शङ्के ज्ञात गुणा पुरन्दरपुराच्चस्कन्द मन्दाकिनी

वृन्दारण्यविहारिधिन्ययमुनासेवाप्रमोदाथिनी।। 1/18

विदग्धमाधव में अन्य उदाहरण द्रष्टव्य हैं। ललितामाधव में भी इसके उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

गमन

दानकेलिकौमुदी में राधा के सौन्दर्य पर कटाक्ष–पात करते हुये श्रीकृष्ण राधा के मुखमण्डल की मधुरिमा और नयनयुगलों की मैत्री को अपने प्रति अनुकूल देखकर प्रसन्न होते हुये कहते हैं कि उस राधा के चरण–युगल भी नखराली मन्द–मन्द गति को अपनाने लगे हैं।[2]

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, 2/3, 7/26
2. वही – " , प्रथम अंक, श्लोक 18, 26, 7/49, पृ. 64

'लीला मन्द गतेन पादयुगमप्यारिप्सते सङ्गमं'[1]

मण्डन

राधा और कृष्ण के चार प्रकार के मण्डन बताये गये हैं – वस्त्र, भूषा, माला और अनुलेपन।[2]

वस्त्र। श्री कृष्ण का पीताम्बर वेष अत्यन्त प्रख्यात है। तीनों नाट्यकृतियों में उनका पीताम्बर वेष द्रष्टव्य है।[3] पीताम्बर श्री कृष्ण का पर्याय माना जा सकता है।

भूषा (आभूषण)

श्री कृष्ण को मयूर पंख, और गुञ्जावली से विभूषित देखकर राधा का अन्तःकरण द्रवित हो उठता है। विदग्धमाधव में मुखरा पौर्णमासी से कहती है –

अग्रेवीक्ष्य शिखण्डखण्डम चिरादुत्कम्पमालम्बते

गुञ्जानां च विलोकनान्मुहुरसो सास्रं परिक्रोशति।

नो जाने जनयन्नपूर्वनट न क्रीडा चमत्कारितां

बालायाः किलचित्तभूमिमविशत्को यं नवीनोग्रहः। 2/15

प्रस्तुत उदाहरण में मयूर पंख, गुञ्जावली तथा श्री कृष्ण की नृत्यकला को उद्दीपन माना जा सकता है।

दानकेलिकौमुदी में राधा को आभूषणों से विभूषित देखा जा सकता है। राधा के मुख पर दृष्टिपात करते हुये श्री कृष्ण कहते हैं कि यौवनारम्भ होने के उपलक्ष्य में इस राधा ने अपने पीवर पयोधरों को मुक्ता की माला भेंट की है, 'बाल' शब्द से अभिहित होने वाले परन्तु कुटिल अपने केशपाश को बिन्दी अर्पण की है, परन्तु कान तक पहुंचने वाले (वेदपाठी होने पर भी) अपने नयन युगल को कज्जल ही अर्पण किया है।[4]

दानकेलिकौमुदी में ही वृन्दा राधा के आभूषणों का वर्णन करती हुई कहती है

---

1. दा. के. कौ. – " , श्लोक – 33
2. उ. नी. म. – " , पृ. 281
3. विदग्धमाधव – 1/17, 5/6, ल. मा. – 1/26, दा. के. कौ. – 19 श्लोक
4. दा. के. कौ. – रूपगोस्वामी, श्लोक – 35

कि देवी एकानशा द्वारा कस्तूरी से रचित मण्डन, शनि की माता छाया द्वारा पहिनाये गये कर्णफूल, विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा द्वारा सुसज्जित केशपाश, अपनी सहेलियों के द्वारा सुसज्जित अलङ्कार मानस गङ्गा द्वारा डुलाये जाते हुये चामर, यमुना द्वारा फले जाते हुये व्यंजन तथा ब्रह्मा की पुत्री द्वारा ऊपर लगाये गये मणि छत्र वाली राधा भला कैसे भुलायी जा सकती है।(1)

माल्यानुलेपन

विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण के शरीर पर माल्यानुलेपन का उदाहरण देखा जा सकता है। जैसे – मधुमंगल राधा से कहता है कि सखि राधे, सघन वैजयन्ती माला से सुशोभित स्निग्ध आकृति वाला, चमकते हुये वलय से युक्त, गैरिक आदि धातुओं से विभूषित सम्पूर्ण विश्व में श्रेष्ठ पर्वत के समान श्रीकृष्ण तुम्हारी नेत्र–भङ्गिमा से आकृष्ट हुआ है।(2)

सम्बन्धिन्

इस उद्दीपन के दो भेद होते हैं। 1. लग्न और 2. सन्निहिता। 'लग्न' के अन्तर्गत अनेक उद्दीपन बताये गये हैं – वंशीरव, शृङ्गीरव, गीत, सौरभ्यस् भूषणक्वण, पदाङ्क, विपची निक्वाण और शिल्प कौशल।

सन्निहित उद्दीपन में भी कई भेद किये गये हैं – निर्माल्याद्यादि। इन सबके उदाहरण विवेच्य नाट्यकृतियों से द्रष्टव्य हैं।

वंशीरव

विदग्ध माधव में मुरली–रव की विलक्षणता द्रष्टव्य है। राधा ललिता से कहती है कि यह मुरली की कौन ध्वनि है जो हिम भिन्न होकर भी कम्पन उत्पन्न करती है और उष्णता को न धारण करने पर भी तपाती है।(3) इसके अन्य उदाहरण पहले ही नायक–प्रसंग में बताये जा चुके हैं।

---

1. वही – " , श्लोक 82
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 26
3. अजडः कम्पसंपादी शस्त्रादन्यो निकृतनः
   तापनो नुष्णताधारः कोऽयं वा मुरली रवः।। – वि. मा.

शृङ्गीरव

श्रीकृष्ण के वाद्य यन्त्रों में वंशी के अतिरिक्त 'शृङ्गी' भी एक वाद्य यन्त्र है। दानकेलिकौमुदी में श्रीकृष्ण अपने मित्रों को शृङ्ग अर्थात् व्युगुल वाद्य बजाने को आदेश देते हैं जिससे राधा आदि गोपियाँ उनकी उपस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकें।[1]

गीतम्

श्रीकृष्ण की मुरली का गीत अत्यन्त उद्दीप्त करने वाला प्रतीत होता है। विदग्धमाधव में वह मुरली टेरते हैं जिसमें राधा के आने का संकेत किया गया है। श्री कृष्ण मुरली बजाते हुये गाते हैं – हे चकवी, संयोग का सुन्दर समय उपस्थित हुआ है, हे शोभनाङ्गि (राधे) शीघ्र ही उड़कर आओ। अधखुले नेत्र से राह देखता हुआ तुम्हारा यह सहचर चकवा शोक से क्रन्दन कर रहा है।[2]

सौरभ्यम्

ललितमाधव के छठें अंक में श्रीकृष्ण राधा के कण्ठतट की माला का सौरभ स्मरण कर खेद प्रकट करते हैं।[3] सौरम्भ के अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं[4] –

भूषण क्वणन

ललितमाधव के प्रथम अंक में श्रीकृष्ण ललिता के कङ्कण को झङ्कृति और राधा की किङ्किणी की झङ्कृति से पुलकित हो उठते हैं।

कलविङ्कलं कलङ्कयन्ती ललिता कङ्कणझङ्कृतिर्वरेयम।
नम चेतसी निकुञ्जं समया सङ्गमया चकार रङ्गम्। 1/49

मधुरिमलहरीभिः स्तम्भयत्वम्बरे या
स्मरमदसरसानां सारसानां रुतानि
इदमुदयति राधाकिङ्किणी झङ्कृतिर्मे
हृदि परिणमयन्ती विक्रियाडम्बराणि। 1/50

---

1. दा. के. कौ. – पृ. 65
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, 6/6
3. ललितमाधव – रूपगोस्वामी, 6/28, 29
4. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, 1/23

पदाङ्काद्या (पदचिन्ह)

श्रीकृष्ण के पदचिन्हों से विभूषित वृन्दावन की वनभूमि राधा को उद्दीप्त करती हुई प्रतीत होती है। दानकेलिकौमुदी में राधा ललिता को श्रीकृष्ण के पदचिन्हों को दिखाती हुई कहती है कि ध्वज, वज्र, अङ्कुश तथा कमल के चिन्हों से अङ्कित श्री कृष्ण के पद–विन्यास से सुशोभित, परम उज्जवल तथा चरणनखों से मर्छित कलिकाओं से आकीर्ण यह वनभूमि मेरी अन्तरात्मा को अनिर्वचनीय आनन्द से विभोर कर रही है।[1]

विपची निक्वाण (वीणा–क्वणन)

ललितमाधव के प्रथम अंक में ही श्री कृष्ण कच्छपी–क्वणन को सुनकर आनन्दित होते हुये कहते हैं –

स्मर केलिनाट्यनान्दी शब्द ब्रह्मश्रियं मुहुर्दहती।

वहति मुदम्भे महतीमिह महिता श्यामला महती।। 1/35

दानकेलिकौमुदी में श्री कृष्ण राधा को ही सप्ततन्त्री वीणा के समान मान लेते हैं।[2]

शिल्प–कौशलम्

शिल्पकौशलम् का उदाहरण ललितमाधव में देखा जा सकता है। श्रीकृष्ण राधा की प्रतिमा को ही अपनी प्राणवल्लभा मानते हुए कहते हैं –

अकल्पि सुरशिल्पिना परिकलय्य मायामयी

सुखाय मम राधिका ध्रुवममन्दवृन्दावने।

भवेदिह कुशस्थली नगरनीतिभिर्दुर्गमे

ममान्तरवरोधने क्व नु तदीयसम्भावना। 7/34

इसे शिल्प कौशल ही माना जा सकता है क्योंकि प्रतिमा को ही देखकर कृष्ण उसे राधा मान बैठते हैं। इसी प्रकार राधा भी कृष्ण की प्रतिमा को ही अपना गोविन्द मान बैठती है।

---

1. दा. के. कौ. – रूपगोस्वामी, श्लोक 13
2. वही – " , श्लोक 31

राधा नववृन्दा से शिल्पकला की कुशलता का वर्णन करती हुई कहती है – 'नववृन्दे, साधु। साधु। यया शिल्पकलाकुशलया निर्मिता प्रतिमापि इदं किमपि मधुरं व्याहरति।'[1]

सन्निहित सम्बन्धी उद्दीपन

निर्माल्य

विदग्धमाधव में राधा श्री कृष्ण की रङ्गणमाला को प्राप्त कर उसे नाक से लगाती हुई कहती है कि जिस माला ने पहले राधा को बेहोश कर दिया था उसी को सूंघने से वह इस समय होश में आ गयी है। उस माला की महिमा का वर्णन करती हुई विशाखा राधा से कहती है कि यह स्वच्छ माला अन्तःकरण को विशेषरूप से मोहने में महोषधि है।[2] प्रस्तुत उदाहरण के पूर्वाद्ध में श्रीकृष्ण का 'नाम' और उत्तरार्द्ध में 'माला' उद्दीपन रूप में अवलोकनीय हैं। चतुर्थ अंक में एक अन्य उदाहरण भी दर्शनीय हैं।[3] ललितमाधव में भी इसका उदाहरण द्रष्टव्य है।

बर्हगुञ्ज

श्रीकृष्ण मोरमुकुटधारी हैं जिसे सामने देखकर राधा तत्काल ही कांपने लगती हैं। 'अग्रे वीक्ष्य शिखण्डखण्डमचिरादुत्कम्पमालम्बते'।[4]

---

1. ललितमाधव – " , सप्तम अंक, पृ. 179, 180
2. अङ्गोतीर्ण विलेपनं सखि समाकृष्टिक्रियायां मणि –
   मन्त्रो हन्त मुहुर्वशी कृतिविधौ नामास्य वंशीपतेः।
   निर्माल्य स्रगियं महौषधिरिह स्वान्तस्य संमोहने
   नासां कस्तिसृणां गृणाति परमाचिन्त्यां प्रभावावलीम्।
   – वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक – 2
3. सग्रियमुरुगुणा ते चित्त वीथीव राधे
   शुचिरति सुकुमारी काममामोदनी च।
   नखपदशशि रेखा धाम्नि पुष्णातु कान्तिं
   तव कुच शिवमूर्ध्नि स्वर्धुनीविभ्रमेण।।
   – वि. मा. – चतुर्थ अंक, श्लोक – 44 ल. मा. – 6/27
4. विदग्धमावधव – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक–15, अन्यत्र यथा – 2/48

ललितमाधव में नववृन्दावन में विहार करते हुये श्री कृष्ण राधा को मयूर पर दृष्टिपात कराते हुये कहते हैं –

विलसति किल सोऽयं पश्य मत्तो मयूरः

शिखर भुवि निविष्टस्तन्वि गौवर्द्धनस्य।

मुहुरमलशिखण्डं ताण्डवव्याजतस्ते

व्यकिरदुपहरन् यः कर्णपूरोत्सवाय। 8/28

अद्रिधातु

अद्रि धातु का उदाहरण विदग्धमाधव के निम्नलिखित श्लोक में देखा जा सकता है।

अविरलवनमालालं कृत स्निग्धमूर्तिः

स्फुरितकटककान्तिर्धातुभिर्मण्डिताङ्गः।

अखिल भुवनतुङ्गो नेत्रभङ्गया विकृष्टः

कथमिव सखि राधे कृष्ण शैलस्त्वयाभूत्।[1]

यहां श्रीकृष्ण पर पर्वत का आरोपअद्रि धातु को उद्दीपन प्रस्तुत करता है।

लगुडी

श्रीकृष्ण का अङ्ग सदैव तीन उत्तम वस्तुओं से आलिङ्गित रहता है। पहली अनेक छिद्रों से युक्त लघु वंश में उत्पन्न कठोर मुरली, दूसरी स्वरूप से टेढ़ी यष्टि और तीसरी अत्यन्त मलिन सीघड़ी। इसका उल्लेख दानकेलिकौमुदी में ललिता द्वारा कृष्ण से वार्तालाप करते हुए किया गया है।[2] विदग्ध माधव में भी इसका सर्वोत्तम वर्णन द्रष्टव्य है।

वेणु

विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण की वंशी का वर्णन करती हुई पौर्णमासी ललिता से कहती है कि श्रीकृष्ण की मुरली ऊपरी हिस्से से नीचे तीन अङ्गुल पर्यन्त इन्द्रनीलमणियों

---

1. विदग्धमावधव – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 36
2. दानकेलिकौमुदी – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 41

से तथा निचले हिस्से से ऊपर तीन अङ्गुल पर्यन्त पद्मरागमणियों से खचित है। उन दोनों के बीच का भाग हीरों की क्रान्ति से स्वच्छ कनकमय है। नील तथा अरूणमणियों और उज्जवल हीरों से जड़ी हुई स्वर्णनिर्मित मधुर मुरली कृष्ण के हाथ में विहार करती है।[1]

यहां कृष्ण की मुरली उद्दीपन रूप में प्रस्तुत की गयी है।

वृन्दारण्य

वृन्दारण्य ही श्रीकृष्ण की क्रीडास्थली है। तदाश्रित खग, भृङ्ग, मृग, कुञ्ज, लता, तुलसी, कर्णिकार तथा कदम्ब आदि उद्दीपन विभाव कहे गये हैं।[2]

विदग्धमाधव के प्रथम अंक में वृन्दावन की वसन्त सुषमा का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण मधुमङ्गल से कहते हैं ....

मधुमङ्गल पश्य माधवीयां वनमाधुरीम्

क्वचिद् भृङ्गी गीतं क्वचिदनिलभङ्गी शिशिरता

क्वचिद्वल्लीलास्यं क्वचिदमलमल्ली परिमलः।

क्वचिद्धाराशाली कनकफलपाली रसभरौ

हृषीकाणां वृन्दं प्रमदयति वृन्दावनमिदम्।

प्रस्तुत श्लोक में भ्रमरी का मधुर गान, मन्दमलयपन की शीतलता, लता की थिरक, स्वच्छ चमेली का पराग, स्वर्णफल के समूह का प्रवाहमय रस भार, वृन्दावन की वसन्त सुषमादि उद्दीपन माने जा सकते हैं।

खगा

ललितमाधव के दशम अङ्क में यशोदा कृष्ण से विरहव्याकुल मयूर की दशा का वर्णन करती है।[3]

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, तृतीय अङ्ग, श्लोक–1
2.
3. कस्तान्पश्यन्भवदुपहत स्निग्धपिच्छावतंसान्

    कंसाराते न खलु शिखिनः खिद्यते गोष्ठवासी।

    उन्मीलन्तं नवजलधरं नीलमद्यापि मत्वा

    ये त्वामन्तमु दितमतयस्तन्वते ताण्डवानि।।

    ल.मा.–रूपगोस्वामी, दशम अंक, श्लोक–16

भृङ्गा

दानकेलिकौमुदी में वृन्दा राधा को भ्रमर पर दृष्टिपात करने के लिए प्रेरित करती हुई कहती है (गूढ अभिप्राय से) यथा – सामने ही सतत टपकने वाले पराग के संसर्ग से पीत इस कमल वन में, जिसके शरीर का अधोभाग कम्पित हो रहा है, ऐसे मदमाते भौरे को देखो जो बारम्बार परिभ्रमण करता हुआ मधुर गुंजन करने वाली मधुकरियों की सरस ध्वनि पर अपने सिर को कम्पित करता हुआ अपने वेग से निरूद्ध करता हुआ, उनके साथ विहार कर रहा है।[1] यहां पर भ्रमर के ब्याज से कृष्ण पर संकेत किया गया है।

विदग्धमाधव में भी इसका उदाहरण द्रष्टव्य है।[2]

विदग्धमाधव में विशाखा कृष्ण को देखकर कहती है, निर्मम हरिण, प्रेम से आपूर्ण मृगी को छोड़कर कूदने में चपल तुम व्यर्थ ही एक जंगल से दूसरे जंगल में घूमते हो। अर्थात् राधा का तुम पर अगाध स्नेह है। उसकी उपेक्षा करके तुम्हारा इधर–उधर भटकना ठीक नहीं है।[3] अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है जिनमें मयूर, भृङ्ग, हिरण, गज, वानरी आदि का वर्णन है।

कुंज

विदग्धमाधव में अशोक कुंज की प्रफुल्लित सुषमा को देखकर कृष्ण वहां प्रवेश करते हैं क्योंकि उनके अनुमान में राधा भी वहां हो सकती हैं[4] –

शङ्के संकुलितान्तराद्य निबिडक्रीडानुबन्धेच्छया
कुंजे व जुलशाखिनः शशिमुखी लीना वरीवर्ति सा।
नो चैदेष तदङ्घ्रिसंगम विनाभावादकाले कथं
पुष्पामोदनिमन्त्रितालि पटलीस्तोत्रस्य पात्रीभवेत्।

---

1. दानकेलिकौमुदी – रूपगोस्वामी, दशम अंक, श्लोक–19
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, 3/50, 6/29
3. संस्कृत छाया – अकरूण त्यवत्वा चङ्ग कुरङ्ग प्रेम्णा संगतां हरिणीम्।
   विफलं कुर्दन चतुलस्त्वं वनाद्वनं भ्रमसि।।
   – वि. मा. – 1/24, अन्यत्र – 6/27, 28, 29
4. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, 3/50, 6/29

लता

विदग्धमाधव में 'लता' का अत्यन्त मनोरम वर्णन किया गया है।

वृन्दावनं दिव्यलतापरीतं लतास्तु पुष्पस्फुरिताग्रभाजः।

पुष्पाण्यपि स्फीतमधुव्रतानि मधुव्रताश्च श्रुतिहारिगीताः। 2/24

दानकेलिकौमुदी में मुद्रालंकार के माध्यम से वृन्दा द्वारा कुन्दलता, मालती, चित्रा और चम्पकलता और विशाखा की प्रफुल्लितावस्था का मनोरम वर्णन किया गया है।

जग्राह कुन्दल तिकोत्कलिका शतानि

पत्राङ्कुरेण सुमना विरराज चित्रा।

स्मेरा बभूव ललिता नवमालिकासौ

फुल्लात्र चम्पकलता च विशाखिकापि।[1]

ललितामाधव में भी लताओं के उदाहरण द्रष्टव्य हैं।[2]

कर्णिकार

ललितामाधव में वृन्दावन में विचरण करती हुई राधा विलाप करती हुई अपनी सखी से कहती है –

रासात्तिरौहिततनुर्निशि यस्य पुष्पै

श्चूडा चकार चिकुरे मम पिच्छचूडः

कूलै कलिन्द दुहितुर्घृत कन्दलो यं

मां दन्दहीति स मुहुनवकर्णिकारः।

यही कर्णिकार कृष्ण को माला का भ्रम कराता हुआ भी परिलक्षित होता है।[3]

विदग्धमाधव में भी वृन्दा राधा को कर्णिकार अर्थात् वन चम्पा के पुष्प को देखने

---

1. संस्कृत छाया – अकरूण त्यक्त्वा चङ्ग कुरङ्ग प्रेम्णा संगतां हरिणीम्।
   विफलं कुर्दन चतुलस्त्वं वनाद्वनं भ्रमसि।।
   – वि. मा. – 1/24, अन्यत्र – 6/27, 28, 29
2. ललितामाधव – रूपगोस्वामी, 3/48, 49
3. ललितमाधव – रूपगोस्वामी, 8/37

के लिए प्रेरित करती है। राधा कृष्ण को लक्ष्य कर कहती है कि नवीन कर्णिकार–कुसुम पर विराजमान भौंरा रस के लोभ से निश्चल हो रहा है।

'नवकर्णिकारकुसुमे भसलो रसलोम निश्चलो भवति।'[1]

कदम्ब

विदग्धमाधव में वृन्दा ललिता से कदम्बराज का अभिनन्दन करने के लिए प्रेरित करती हुई कहती है – हे कदम्बराज, वृन्दावन को सुशोभित करने वाले आपके सौभाग्य–भंगिमा के समूह का वर्णन करने में ब्रह्मा भी समर्थ नहीं हैं। आपके जिन फूलों ने लक्ष्मी के सहोदर होने पर भी दैदीप्यमान कौस्तुम मणि का तिरस्कार किया है, उन्होंने चारों ओर से कृष्ण के वक्षस्थल को आच्छादित कर रखा है।[2] अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है।

गोवर्द्धन

ललितमाधव में गोवर्द्धन को प्रणाम करती हुई राधा कहती है[3] –

गोवर्धन त्वमिहि गोकुल सङ्गिभूमौ
तुङ्गै शिरोभिरमिपत्य नमौ विभासि।
तेनावलोक्य हरितः परितो वदाशु
कुत्राद्य बल्लभमणिः खलु खेलतीति। 3/42

इसके अन्य उदाहरण देखे जा सकते है।

दानकेलिकौमुदी में भी 'गोवर्धनगिरि' को उद्दीपन रूप में देखा जा सकता है। ललिता राधा की ओर देखती हुई कहती है – अरी गोरी राधा ! गोवर्द्धन–गिरि के अत्यन्त सुगन्धी परम रमणीय उस विशाल पत्थर की शिलापट्ट पर थोड़ा दृष्टिपात करो जहां अरी सहेली! शान्ति से बैठकर रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण ने कस्तूरी के लेप से तेरे वक्षस्थल को विभूषित किया था।[4] इसमें भी अन्य उदाहरण द्रष्टव्य हैं।[5]

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, श्लोक–51 का पूवार्द्ध, पृ. 248 संस्कृत छाया।
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक 30, 1
3. ललितमाधव – रूपगोस्वामी, 3/44, 8/27
4. दा. के. कौ. – रूपगोस्वामी, श्लोक 24
5. दा. के. कौ. – रूपगोस्वामी, श्लोक 30, 34

रविसुता

ललितामाधव में विरह–व्यथा से पीड़ित राधा यमुना तट पर पहुंचकर कृष्ण के साथ अपनी पूर्व सम्पादित लीलाओं का स्मरण करके सन्तप्त होती है और पुलिन पर लौटती हुई कहती है :–

त्वमस्माकं यस्मिन्पशुपरमणीनां रचित वान्
सदाभूयौभूयः प्रणयगहनां तुष्टिलहरीम्।
तदेतत्कालिन्दीपुलिनमिह खिन्नाः किमधुना
परीरम्भादम्भोरूह मुख न सम्भावयसि वः।। 3/52

रासस्थली

ललितामाधव में रासस्थली की महिमा का वर्णन करती हुई नववृन्दा श्रीकृष्ण से कहती है –

भूमौ भारतमुत्तमं मधुपुरी तत्रापि तत्राप्यलं
वृन्दारण्यमिहयपि हन्त पुलिनं तत्रापि रासस्थली
गोपीकान्त पदद्वयी परिचयाप्राचुर्यपयाचिता
यस्यां सन्ति महामुनेरपि मनोराज्या चिंता रेणवः। 9/44

तटस्थ उद्दीपन

रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में तटस्थ उद्दीपन भी प्रयुक्त हुये हैं। जो उद्धरणीय हैं।

चन्द्रिका

विदग्धमाधव में कृष्ण चन्द्रावली को लक्ष्य करके चांदनी का वर्णन करते हुये कहते हैं कि 'चन्द्रमा की चांदनी' को पीने के लिये चकोर के उद्यत होने पर शरद्–कालीन मेघ समूह ने बाधा डाल दी।[1] यहाँ 'चन्द्रिका' को उद्दीपन रूप में माना जा सकता है।

1. चन्द्रिकां चन्द्रलेखायाश्चकोरे पातुमुद्यते।
   पिघानं विदधे हन्त शरदम्मोघरावली।
   – वि. मा. 2/52, द्वितीय अंक, श्लोक 52

मेघ

विदग्धमाधव में वंशी के प्रभाव को बतलाते हुये बलराम जी कहते हैं कि वंशी की अत्याधिक विदग्धता को उत्सुकतापूर्वक सुनकर चक्कर काटते हुये शरीर वाले हजारों आँखों से युक्त इन्द्र की आंसुओं ने पृथ्वी को सिक्त कर दिया। आश्चर्य है कि बिना मेघों के ही उन धरामयी आंसुओं ने आज वृन्दावन मञ्जुल देवमातृक देश हो गया।[1] अन्य उदाहरण तृतीय अंक में दृष्टव्य हैं।

विद्युत

दानकेलिकौमुदी में विद्युत और मेघ का वर्णन एक साथ देखा जा सकता है – चम्पा राधा को संकेत करके कहती है – सखि ! सुनो यहां इस पर्वत पर फुरफुराती बलकाओं की कतार और उस पर चमचमाती चञ्चल बिजलियों की दमक और वहीं पर नील मेघ श्यामल मण्डप की शोभा को अपनी आभा से द्विगुणित कर रहा है।[2]

बसन्त

विदग्धमाधव में 'बसन्त' समय का निर्वेश करता हुआ सूत्रधार कहता है कि यह वह बसन्त समय है, जिसमें गूढ़ नक्षत्र युक्त यह पूर्णिमा तिथि रात्रि में नवीन लालिमा से युक्त निशापति पूर्णचन्द्रमा को शोभा के लिये सुन्दर विशाखा नक्षत्र से मिलाने वाली है।

उक्त कथन में 'बसन्त' के वर्णन के साथ–ही–साथ भावी घटनाओं का भी संकेत किया गया है। आगे बसन्त की सुषमा का वर्णन श्री कृष्ण मधुमंगल से करते हैं।[3]

शरद्

विदग्धमाधव में रूपगोस्वामी ने षष्ठ अंक को 'शरद्विहार' के नाम से अभिहित

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, श्लोक – 30, 3/23
2. अयमुपरि परिस्फुरद्–बलाका–तरिनुसञ्चल – चञ्चला – विलासः।
   अचलशिरसि नीलमण्डपस्य द्विगणयति द्युतिमम्बुदः स्वाधाम्ना।।
   – दा. के. कौ. – रूपगोस्वामी, श्लोक 25
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, श्लोक 10, 31

किया है। अतः उसमें शरद्–शोभा का वर्णन अत्यन्त रमणीय रूप में देखा जा सकता है। शरद्काल में वृन्दावन की शोभा का वर्णन करते हुये कृष्ण कह रहे हैं कि – गुच्छों की मञ्जरियों के उत्तम सुगन्ध से बन्दी बनाये गये भ्रमणशील भौरों के गुञ्जन से व्याप्त, करोड़ों श्रेष्ठ गुञ्जापुष्पों से युक्त, शरत्काल में पतली पड़ गयी यमुना के तट समूह से संवर्धित और मयूर–पिच्छों से आवृत यह वृन्दावन आज सुशोभित हो रहा है।(1)

ललितमाधव में भी शरद् शोभा का वर्णन द्रष्टव्य है।(2)

पूर्ण सुधांशु

दानेकेलिकौमुदी में श्रीकृष्ण के रूप में सुधानिधि चन्द्रमा के उदित होने का सुन्दर वर्णन द्रष्टव्य है। वृन्दा की ओर देखती हुई राधा पुलकित होती हुई कहती है – अरी! गिरि–शिखर पर विराजमान, यहां सामने आकाश की कान्ति को शुभ्र बनाता हुआ जगत्समूह को मन्मथ के सघन घूर्णन रूपी धनु की पंक्ति से योजित करता हुआ, कमल–नयनियों के धैर्यरूपी तिमिर को ध्वस्त करता हुआ तथा उनके नयनों को विकसित करता हुआ, सुधानिधि चन्द्रमा जैसा यह कौन उदित हो रहा है।(3)

ललितमाधव में भी पूर्ण सुधांशु का उदाहरण देखा जा सकता है।(4)

इस प्रकार रूपगोस्वामी द्वारा प्रतिपादित मधुर रस के उद्दीपन विभावों के उपर्युल्लिखित उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि उनकी विवेच्य नाट्यकृतियों में मधुर रस के अनुकूल उद्दीपनों का समुचित विन्यास किया गया है।

---

1. वही – " , षष्ठ अंक, श्लोक 3
2. ललितमाधव – " , 9/47
3. दानकेलिकौमुदी – " , श्लोक 26
4. नव नव सुधा सम्बाधोऽपि प्रियोऽपि दृशां सदा
   सरसिजवनीं म्लानां कुर्वन्नपि प्रभया स्वया।
   शुचिरपि कलापूर्णो त्युच्चैः कुरङ्गधरः शशी
   व्रजमृगदृशां वक्त्रैरेभिस्सुरङ्गधरैर्जितः।।
   – ल. मा. – रूपगोस्वामी, प्रथम अंक, श्लोक 32

रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में अनुभाव

साहित्य शास्त्र में नायिकाओं के जो सात्विक अलंकार बताये गये हैं उन्हें ही रूपगोस्वामी ने मधुर रस में अनुभावों की श्रेणी में उल्लेख किया है। वस्तुतः ये अनुभाव अलङ्कार रूप में ही प्रयुक्त किये गये हैं। इनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है अतः यहां विवेच्य नाट्यकृतियों में उनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जायेंगे।

भाव

शृङ्गाररस के रति नामक स्थायी भाव का प्रकाशन होने पर निर्विकार चित में उत्पन्न होने वाले प्रथम विकार को ही 'भाव' कहा जाता है।[1] यथा – विदग्धमाधव में राधा के 'भाव' नामक अनुभाव को प्रकट करती हुई मुखरा पौर्णमासी से कहती है कि यह राधा मोरमुकुटधारी श्रीकृष्ण को सामने देखकर तत्क्षण विशेष रूप से कांपने लगती है, गुञ्जों को देखने से यह बार–बार अश्रु बहाकर रोने लगती है, नृत्यकला के विलक्षण चमत्कार को उत्पन्न करता हुआ न जाने कौन सा नवीन ग्रह राधा के अन्तःकरण में प्रवेश कर गया है।

हाव

ग्रीवा की वक्रता से युक्त, भ्रू–नेत्र आदि के विकास को उत्पन्न करने वाला, भाव से कुछ अधिक प्रकाशमान 'हाव' कहलाता है।[2] विदग्धमाधव में ही 'हाव' का उदाहरण देखा जा सकता है। श्री कृष्ण की मुरली की मधुर ध्वनि को सुनकर राधा कदम्ब वृक्ष के बीच से निकलती हुई उस ध्वनि की ओर अपने कर्ण कुहरों को लगा लेती है और उद्विग्न होती हुई अपनी सखियों से कहती है कि न जाने कौन सा शब्द कर्ण कुहर में प्रवेश कर गया है। हां ! हां ! सखि, जिससे आज कुलीन नारी समाज में किसी निन्दायोग्य अवस्था को प्राप्त हुई हूं।[3]

---

1. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, अनुभाव प्रकरण, कारिका 6
2. वही – " , पृ. 302, कारिका – 9
3. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, श्लोक – 34

हेला

हाव ही प्रकट होकर शृङ्गार की सूचना देता हुआ 'हेला' की संज्ञा को प्राप्त करता है। विदग्धमाधव में विशाखा राधा को कुछ दूसरी ही तरह अनुमान करती हुई उससे पूंछती है – 'कमल के समान दोनों नेत्रों से बहते हुये अश्रुबिन्दु धरती को कीचड़मय बना रहे हैं। लम्बी सांसें दूर से वक्षस्थल के वस्त्र को पीलिमा लिये गोरे मुख पर उड़ा रही हैं, और ये रोमाञ्च समूह तुम्हारी मूर्ति को कण्टक युक्त कर रहे हैं। मानो माधव की मधुरिमा कानों के समीप आ गयी हो।[1]

यहां राधा के शरीर पर शृङ्गार सूचक विकारों के वर्णन होने से 'हेला' का उदाहरण माना जा सकता है।

शोभा

रूप, सम्भोग (तारुण्य) आदि से अङ्ग का विभूषित होना शोभा कहलाता है।[2]

श्रीकृष्ण राधा के स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन करते हुये कहते हैं – हे राधे ललाट तक लटकने वाले तुम्हारे केशों ने कस्तूरिका पत्र को व्यर्थ कर दिया है, तुम्हारे दोनों नेत्रों ने कानों में लगे हुये कमल युगलों को व्यर्थ कर दिया है। मुस्कान की शोभा से हार भी पर्याप्त रूप से निरर्थक ही सिद्ध हो गया है। इस प्रकार स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त होने के कारण तुम्हें कृत्रिम सजावट की क्या आवश्यकता है।[3]

ललितमाधवम् में शोभा के अनेक उदाहरण देखे जा सकते है।[4]

कान्ति

राधा की शोभा का वर्णन उसके चरित्रचित्रण में विस्तारपूर्वक किया गया है। काम की वृद्धि से प्रकाशमान शोभा को ही 'कान्ति' कहते हैं।[5] जैसे – विदग्धमाधव में राधा

---

1. वही – " , श्लोक 36
2. 'सा शोभा रूपसंभोगाद्यैर्यत्स्यादङ्गविभूषणम्।'
   – उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, पृ. 303, का. 12
3. वि. मा. – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक 47
4. ललितमाधवम् – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 27
5. 'शोभैव कान्तिराख्याता मन्मथाप्यायनोज्जवला' – उ. नी. म., पृ. 304

की कामजन्य किसी असाधारणी माधुरी को देखकर श्री कृष्ण कहते हैं 'सखे, कान्ति प्रकाशित उसके मुखमण्डल एवं सुन्दर नेत्रों पर जब से मैंने दृष्टि डाली है, तब से सच कहता हूं चन्द्रमा अथवा कमल को बार–बार स्मरण करके मेरा मुख लज्जा से टेढ़ा हो जाता है।[1]

यहां चन्द्रमा और कमल से भी अधिक राधा की शोभा होने के कारण 'कान्ति' नामक अलंकार माना जा सकता है।

दीप्ति

कान्ति की अवस्था में जब शरीर–सौन्दर्य, आयु भोग, स्थान, समय एवं अन्य गुणादि के द्वारा उद्दीप्त होकर अतिशय बढ़ जाता है तब उसकी कान्ति ही 'दीप्ति' संज्ञा को प्राप्त हो जाती है।[2]

विदग्धमाधव में राधा को लवङ्गलता के मध्य में विराजमान देखकर वृन्दा ललिता से कहती है – ललिते। देखो–देखो, क्या इधर शरीरधारिणी शोभा प्रकट हो रही है अथवा गुण लक्ष्मी की अभिव्यक्ति हो रही है अथवा स्नेह लक्ष्मी की साक्षात् मूर्ति राधा प्रकट हो रही है (फिर देखती हुई) कानों में कमल का आभूषण पहन कर अपनी चोटी में फूल लगाकर और करकमल में कमल पुष्प को लेकर यह कमला लक्ष्मी की पूर्ण विडम्बना कर रही है।[3]

प्रस्तुत उदाहरण में राधा की शोभातिशयता ही उद्दीप्त होकर लक्ष्मी की विडम्बना कराती हुई प्रतीत होती है। यह 'दीप्ति' राधा और कृष्ण के परस्पर एकन्तवास करने के कारण उत्पन्न हुई है।

माधुर्य

सभी अवस्थाओं में चेष्टाओं की चारुता 'माधुर्य' कहलाती है।[4] ललितमाधव में

---

1. तस्याः कान्ति द्युतिनि वदने .... हृणीया। – वि. मा. 2/31
2. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. 15, पृ. 304
3. वि. मा. – ,, , सप्तम अंक, श्लोक – 31, 32
4. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. 17, पृ. 305

राधा की माधुर्य अवस्था का उदाहरण उस समय देखा जा सकता है जब श्रीकृष्ण शंखचूड़ के भय से आर्तनाद करती हुई भी राधा के माधुर्य के प्रति अपनी आकुलता को प्रकट करते हैं –

हा नेत्र निन्दित कलिन्द सुतारविन्द
गोविन्द गोकुलपुरन्दरनन्दनाद्याः
मां रक्ष रक्षत रसेति कृतान्र्तनादां
राधामधीरनयनां न हि विस्मरामि।

यहाँ राधा के आर्तनाद और नेत्रों की अधीरता के प्रति कृष्ण की आकुलता का टोना 'माधुर्य' नामक अलंकार का उदाहरण माना जा सकता है। विदग्धमाधव में भी इसके उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

प्रगल्भता

भ्रमर से भयभीत राधा कृष्ण को आनन्द संज्ञा प्रदान करती है।[1] कार्य या प्रयोगों में निर्भयता को विद्वानों ने 'प्रगल्भता' कहा है।[2] विदग्धमाधव में राधा की प्रगल्भता को प्रकट करती हुई ललिता कहती है कि प्रतिकूलता को बढ़ाती हुई सी राधा दन्त और नखच्छेद से आकुल होकर केलिक्रिया में उस परम प्रगल्भता को प्राप्त हुई जिससे श्रीकृष्ण ने परम आनन्द प्राप्त किया था।[3]

औदार्य

(नायक एवं नायिका की) सभी अवस्थाओं में विनय का होना ही 'औदार्य' कहलाता है।[4] जैसे – विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण चन्द्रावली की स्वभाव सरलता को व्यक्त करते हुये कहते हैं कि मित्र ! चन्द्रावली के नेत्र के कोने में सरलता की किसी निष्ठा ने प्रवेश प्राप्त किया, वचन में विनम्रतापूर्ण प्रशस्ति की भङ्गिमा ने निवास किया। इससे मेरे

---

1. वि. मा. – " , पंचम अंक, श्लोक 44
2. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. 17, पृ. 305
3. वि. मा. – " , 7/39
4. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. 20, पृ. 306

हृदय में बहुत अधिक घबराहट उत्पन्न हुई। उसके हृदय में अनुकूलता ने ही क्रोध को अच्छी तरह से दूर कर दिया है अर्थात् वह मेरे प्रति स्नेहाधिक्य के कारण अनुकूल प्रतीत हुई।[1]

यहां चन्द्रावली का विनम्रतापूर्ण व्यवहार और उसकी अनुकूलता ही उसके 'औदार्य' गुण का कारण है।

धैर्यम्

स्थिर चितोन्नति को 'धैर्य' कहते हैं।[2]

ललितमाधव में राधा श्रीकृष्ण के प्रति अपनी एकाग्रता प्रकट करती हुई बकुला और नववृन्दा को विश्वास दिलाती हुई कहती है –

औदासीन्यधुरा परीतहृदयः काठिन्यमालम्बतां
कामं श्यामल सुन्दरो नयि सखि स्वैरी सहस्रं समाः।
किन्तु भ्रान्तिभरादपि क्षणमिदं तत्र प्रियेभ्यः प्रिये
चेतो जन्मनि जन्मनि प्रणयितादास्यं न मे हास्यति।।[3]

प्रस्तुत श्लोक में राधा द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति अनेक जन्मों तक प्रेमदास्यता को न छोड़ना ही 'धैर्य' है।

स्वभावज अलंकार

विलास

मुख, नेत्रादि की क्रियाओं के द्वारा गति, स्थान, आसन आदि में प्रियतम के संग से उत्पन्न होने वाले तात्कालिक विशेषतत्व को 'विलास' कहते हैं।[4]

विदग्धमाधव में मुखरा राधा की दशा का पौर्णमासी से निवेदन करती हुई

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 13
2. स्थिरा चितोन्नतिर्या तु तद्धैयमिति कीर्त्यते –
   – उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, पृ. 306
3. ललितमाधवम् – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक 7
4. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. 27, पृ. 308

कहती है – देवि सुनिये, मयूर पक्षधारी श्रीकृष्ण को सामने देखकर उसी समय विशेषरूप से कांपने लगती है, गुंजों को देखने से यह बार–बार आंसू बहाकर रोने लगती है। नृत्यकला के विलक्षण चमत्कार को उत्पन्न करता हुआ न जाने कौन सा नवीन ग्रह वाला (राधा) के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो गया है।[1]

यहां श्रीकृष्ण के दर्शन से उत्पन्न तात्कालिक विकार ही राधा के 'विलास' नामक स्वभावज अलंकार माने जा सकते हैं।

मोट्टायित

जब प्रेमिका का हृदय प्रियतम के स्मरण सम्बन्धी वार्ता के समय उसी भाव से भावित होते हुये उनके प्रति अपने अभिलाष को प्रकट करता है तब वह 'मोट्टायित' स्वभावज अलंकार (अनुभाव) कहा जाता है।[2] विदग्धमाधव में 'श्री कृष्ण' विषयक वार्तालाप में 'श्रीकृष्ण' के नाम की चर्चा होने पर राधा सखियों से कहती है कि – 'एक का सुना हुआ 'कृष्ण' यह नाम ही बुद्धि को लुम्पित कर रहा है, दूसरे की मुरली–ध्वनि गहन उन्माद की श्रेणी प्राप्त करा रही है। स्निग्ध मेघ की कान्तिवाला यह (तीसरा) एक ही बार के देखने से मन में समा गया है। अतः कष्ट है, धिक्कार है कि तीन पुरुषों में मेरी आसक्ति हुई है। मैं तो मृत्यु को ही श्रेष्ठ समझती हूँ।[3]

यहां श्रीकृष्ण की स्मृति से होने वाली रति की इच्छा ही 'मोट्टायित' है।

कुट्टमित

विदग्धमाधव में राधा की 'कुट्टमितावस्था' का वर्णन करती हुई वृन्दा ललिता से कहती है – राधा की भ्रूभङ्गिमा मुस्कुराहट से युक्त है, 'नहीं, नहीं', यह कथन मद से आकुल है। हाथ की रूकावट भी विश्रान्त है, क्रन्दन में भी शुष्कता अर्थात् कष्ट का अभाव है, इस प्रकार राधा ने अपने भाव को छिपाने का जो उपक्रम किया है उससे मुरभिद

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, 2/15
2. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. 42, पृ. 313
3. वि. मा. – " , द्वितीय अंक, श्लोक 9

श्रीकृष्ण के प्रति उसका स्नेह भाव ही पूर्ण रूप से व्यक्त हो रहा है।[1]

यहाँ पर भी राधा की बाह्य अप्रसन्नता का भाव होने के कारण 'कुट्टमित' नामक 'अनुभाव' माना जा सकता है।

विव्वोक

गर्व तथा मान से अपनी इष्ट वस्तु में भी अनादर का भाव रखना 'वब्बोक' कहलाता है।[2]

विदग्धमाधव में भी राधा की मानजन्य 'विब्बोकावस्था' देखी जा सकती है। जैसे –

कर्णान्ते न कृता प्रियोक्ति रचना क्षिप्तं मया दूरतो
मल्लीदाम निकामपथ्यवचसे सख्यै रुषः कल्पिताः।
क्षोणी लग्न शिखण्डशेखरमसौ नाभ्ययन्नीक्षितः
स्वान्तं हन्त ममाद्य ते सदिराङ्गारेण दंदह्यते।।[3]

यहां राधा की गर्व जन्य विब्बोकावस्था मान्य है।

ललित

अंगों का विन्यास–प्रकार, जो भ्रूविलास से मनोहर तथा सुकुमार हो उसे 'ललित' कहते हैं।[4] विदग्धमाधव में राधा के प्रति आसक्त श्रीकृष्ण उसके भ्रूविलास का चिन्तन करते हुये कहते हैं – धतूरे के रस की लहर से अथवा प्रसन्नता रूपी रस की लहर से प्रफुल्लित कपोस्थलवाली, कामदेव के धनुष का अनुकरण करती, भ्रू लता के नर्तन से युक्त तथा प्रशस्त बरौनी युक्त नेत्रों वाली इस राधा के मतवाले तथा चंचल भ्रमरों के भ्रम की भङ्गिमा को धारण करने वाले कटाक्ष ने मेरे ह्रदय को विद्ध कर दिया है।[5]

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक 38
2. 'इष्टेऽपि गर्वमानाभ्यां विब्बोकः स्यादनादरः'
   – उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. 47, पृ. 314
3. वि. मा. – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, श्लोक 6
4. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, 315
5. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 51

यहां राधा के भ्रूविलास की भावभंगिमा के प्रकट होने से 'ललित' नामक स्वभावज अनुभाव माना जा सकता है।

विकृतम्

लज्जा, मान, ईर्ष्या आदि से युक्त चेष्टा के द्वारा अपने वक्तव्य को व्यक्त करना, बुद्धों की दृष्टि में विकृत कहा गया है।[1]

राधा की लज्जा से उत्पन्न होने वाला 'विकृत' नामक अनुभाव विदग्धमाधव में द्रष्टव्य है। विशाखा श्रीकृष्ण से कहती है कि यह राधा शिर को झुकाकर वृक्षों से युक्त मार्ग को बार–बार देखती है, एक क्षण आसन से उठकर फिर भ्रान्त होकर बैठ जाती है, दो–तीन कदम चलकर पुनः ललिता को देखकर लौट जाती है। अतः (हे कृष्ण) आगे देखो, तुमसे मिलने की उत्सुकता से राधा खिन्न हो रही है।[2]

यहां राधा की चेष्टाएं कृष्ण से संगम प्राप्त करने के लिये व्यञ्जित हो रही है। अतः इसे लज्जा–जन्य 'विकृत' अनुभाव माना जा सकता है।

उद्भास्वर अनुभाव

1. नीवी विस्रंसन

विदग्धमाधव में राधा की संभोग जन्य चेष्टाओं का वर्णन करती हुई वृन्दा कहती है (ललिता देखो !) आनन्द की बहती हुई आंसुओं से युक्त नेत्रों से अञ्जन धुल गया है। पसीने के कारण अनुलेप के धुल जाने से स्तनों ने लालिमा का त्याग कर दिया है।

---

1. ह्रीमानेर्ष्यादिभिर्यत्र नोच्यते स्वविवक्षितम्।
   व्यञ्जते चेष्टयैवेदं विकृतं तद्विदुर्बुधाः।।
   – उ. नी. म., का. 53, पृ. 316
2. नम्रीकृत्य शिरो मुहुस्तरुवृतामालोकते वर्तनी।
   मुत्थाय क्षणमासनात्पुनरहो भ्रान्ता निषीदत्यसौ।
   द्वित्राण्येत्य पदानि वीक्ष्य ललितां भूयः परावर्तते
   पश्याग्रे तव संगमोत्सुकतया राधा परिक्लाम्यति।
   – वि. मा. – रूपगोस्वामी, 3/25

प्रेमीजनों की उन्नति को देखकर चंचल ह्रदय संगम के लिये उत्सुक हो गया है। हे राधे, मुझे ऐसा लगता है कि तुम्हारी यह नीवी ढीली होकर खुल जाना चाहती है।[1]

यहां पर राधा के आङ्गिक विकारों के कारण, विलास, मोट्टायित तथा नीवीव्रिसंजन जैसे अनुभावों का उदाहरण माना जा सकता है।

2. उत्तरीय स्रंसन

विदग्धमाधव में राधा के ऊपर कृष्ण का पीताम्बर दर्शनीय है।[2] जिस पर सखियाँ उस पीले वस्त्र को हल्दी के द्रव के गिरने के कारण पीले रंग का आरोप लगाती है न कि पीताम्बर का।

वाचिक अनुभाव

1. आलाप

चाटुकारिता पूर्ण प्रियवचन 'आलाप' नामक वाचिक अनुभाव होता है।[3] विदग्धमाधव में राधा से अनुनय करते हुये कृष्ण कहते हैं – हे राधिके, कठोर बनो अथवा कोमल। तुम तो मेरी प्राण हो चन्द्रलेखा के बिना चकोर की दूसरी गति नहीं है अर्थात् तुम ही मेरी शरण हो।[4]

2. विलाप

दुख से उत्पन्न वचन 'विलाप' कहलाता है।[5]

3. संलाप

उक्ति–प्रत्युक्ति पूर्ण वार्तालाप को संलाप कहते है।

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, 7/40
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, षष्ठ अंक, पृ. 253, श्लोक – 1
3. 'चाटुप्रियोक्तिरालापः' – उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, पृ. 322
4. निष्ठुराभव मृद्धी वा प्राणास्त्वमसि राधिके
   अस्ति नान्या चकोरस्य चन्द्रलेखा विना गतिः।
   – विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, श्लोक – 31
5. ललितमाधव – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, श्लोक 29

विवेच्य नाट्यकृतियों में प्रयुक्त व्यभिचारी भाव

साहित्य शास्त्र में स्वीकृत निर्वेदादि 33 व्यभिचारिभावों को रूपगोस्वामी ने भी स्वीकार किया है। उनकी नाट्यकृतियों में प्रयुक्त कतिपय व्यभिचारिभाव उद्धरणीय हैं।

1. निर्वेद

महती विपत्ति, वियोग, ईर्ष्या अथवा सद्विवेक से कल्पित अपनी ही निन्दा को निर्वेद कहते है। इसमें चिन्ता, अश्रु, दैन्य तथा निःश्वासादि अनुभाव होते है। विदग्धमाधव में राधा–कृष्ण के समीप से वापस आयी हुई अपनी सखी की मलिनता से अपने विषय में कृष्ण की उपेक्षा का अनुमान करके अपनी सखी विशाखा से आत्म निन्दा करती हुई कहती है कि जिस श्रीकृष्ण के संभोग–सुख की आशा से मैंने गुरुजनों के समक्ष महती लज्जा को शिथिल कर दिया और हे सखि प्राणों से भी अधिक प्रिय तुम लोगों को कष्ट पहुंचाया। पतिव्रता स्त्रियों द्वारा स्वीकृत उस महान् धर्म की भी मैंने परवाह नहीं की। मेरे धैर्य को धिक्कार है कि उसके द्वारा उपेक्षित होकर भी मैं परम–पापिनी जी रही हूँ।[1]

यहां आत्म निन्दा से होने वाला 'निर्वेद' माना जा सकता है। वियोग जन्य निर्वेद का उदाहरण ललितमाधव में द्रष्टव्य है।[2]

2. विषाद

अभिलषित वस्तु की अप्राप्ति, कार्य की सिद्धि न होने, विपत्ति और अपराध आदि के कारण होने वाला पश्चाताप 'विषाद' कहलाता है।[3] यथा–इष्ट की अप्राप्ति से होने वाला विषाद विदग्धमाधव के द्वितीय अंक में द्रष्टव्य है। कृष्ण के प्रति आसक्त राधा अपने हृदय को धैर्य बंधाती हुई विशाखा से अपनी मनोवेदना प्रकट करती हुई कहती है कि यहां मैंने कृष्ण के वचन रूपी अमृत का निःशङ्क होकर पान नहीं किया और इसके मुखमण्डल पर अपनी दृष्टि का विक्षेप भी नहीं कर सकी। हे सखि, चिरकाल के बाद सुअवसर प्राप्त

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 41
2. ललितमाधव – '' , तृतीय अंक, श्लोक 33
3. भक्तिरसामृतसिन्धु – '' , दक्षिण विभाग, व्यभिचारिभाव लहरी

होने मात्र में ही इस जटिला के ब्याज से दुर्भाग्य ने आकर बाधा उपस्थित कर दी।[1]

3. दैन्यम्

दु:ख, त्रास, अपराध आदि के कारण होने वाला अनौर्जित्य अर्थात् अपने को निकृष्ट समझने की भावना 'दैन्य' कहलाता है। यह चाटुकारिता, मन्दता, मलिनता, चिन्ता तथा अङ्गों की निष्क्रियता आदि को उत्पन्न करने वाला होता है।

4. ग्लानि

शरीर में बल तथा पुष्टि को प्रदान करने वाला ओज है उसका नाश होने से थकावट तथा मानसी व्यथा के कारण उत्पन्न निष्प्राणता को 'ग्लानि' कहते हैं। इससे शरीर में कम्प, जाड्य, विवर्णता, कृशता और आंखों का घूमने लगना आदि अनुभाव होते हैं।

विदग्धमाधव में राधा कृष्ण के प्रति होने वाली अपनी उपेक्षा पर पश्चाताप करती हुई कहती है – मैंने कृष्ण के कान के पास प्रिय वचन का विन्यास नहीं किया, चमेली की माला को दूर फेंक दिया, सदैव हित चाहने वाली सखियों पर क्रोध किया और पृथिवी पर मोरमुकुट का स्पर्श करते हुये इस कृष्ण को नहीं देखा। अतः आज मेरा हृदय खदिर के उस अंगार से अत्यधिक जल रहा है अर्थात् उसके अनुनय की उपेक्षा कर मैं अपनी गलती पर पश्चाताप करती हुई उसके विरह में अत्यन्त कातर हो गयी हूँ।[2]

यहां राधा की मानसी व्यथा व्यक्त होने के कारण 'ग्लानि' है।

गर्व

अपने सौभाग्य, रूप, तारुण्य, गुण और समस्त उत्तम वस्तुओं के आश्रय होने तथा इष्ट प्राप्ति आदि के कारण दूसरों की अवहेलना करना 'गर्व' कहलाता है। इसमें सौल्लुण्ठ वचन, हाव–भाव दिखलाना, उत्तरदायित्व का भाव दिखलाना, उत्तरदायित्व की भावना का न होना, अपने अंगों को देखना, छिपाना और दूसरों की बात को न सुनना आदि अनुभाव होते हैं। यथा – जैसे विदग्धमाधव में ललिता अपनी सखी राधा की चन्द्रावली से

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 56
2. भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, द. वि. व्यभि. भा. लहरी

अधिक वर्चस्व स्थापित करती हुई पद्मा से कहती है – हे सखि वृषराशि में स्थित सूर्य की प्रशस्त क्रान्ति के प्रकट होने पर सैकड़ों चन्द्रावलियों की क्रान्ति धूमिल पड़ जाती है अर्थात् वृषभानुजा राधा के आने पर चन्द्रावली का महत्वक्षीण हो जाता है।[1]

यहां राधा के 'रूप' से होने वाले 'गर्व' का प्रयोग माना जा सकता है।

शङ्का

अपने, चौर्य, अपराध तथा दूसरों की क्रूरता आदि के कारण जो अपने अनिष्ट की सम्भावना है वह शङ्का कहलाती है। इसमें मुख का सूख जाना, विवर्णता, इधर–उधर ताकना, छिपना आदि अनुभाव होते हैं।

त्रास

विद्युत, भयानक प्राणी एवं प्रखर शब्द से उत्पन्न क्षोभ का नाम 'त्रास' है। पास की वस्तु का आलम्बन, रोमाञ्च, कम्प, स्तम्भ, भयादि इसके लक्षण हैं।[2]

विदग्धमाधव में भ्रमर रूपी कृष्ण से भयभीत हुई राधा का विक्षुब्ध होना घोर सत्व से होने वाला 'त्रास' माना जा सकता है।[3]

आवेग

चित्त में जो संभ्रम (घबराहट) होता है वह 'आवेग' कहलाता है यह प्रिय या अप्रिय के दर्शन श्रवण से, अग्नि, वायु, वर्षा, उत्पात्, हाथी शत्रु आदि कारणों से उत्पन्न होने के कारण आठ प्रकार का होता है।[4]

मोह

हर्ष, विप्रयोग, भय तथा विषादादि के कारण हृदय की मूढ़ता 'मोह' कहलाती

---

1. सहचरि वृषभानुजया प्रादुर्भावे वरत्विषोपगते।
   चन्द्रावली शतान्यपि भवन्ति निर्धूत कान्तीनि।।
   – विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, श्लोक – 26
2. भक्तिरसामृतसिन्धु – रूपगोस्वामी, द. वि. व्यभिचारिभाव लहरी
3. वि. मा. – " , पंचम अंक, श्लोक 44
4. भ. र. सि. – " , व्यभिचारिभाव लहरी

है। इसमें भू–पतन, अनशेन्द्रियत्व, भ्रमण, निश्चेष्टता आदि लक्षण होते हैं। जैसे – विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण के 'चित्रफलक' से आसक्त हुई राधा अपने विषय में पूंछने वाली ललिता तथा विशाखा के प्रति कहती है – हे सखी, किञ्चित् विकसित नीलोत्पल की कान्ति के समान सुन्दर उस कृष्ण के कमलवत् संघों के सघन स्पर्श के अति आनन्द से तत्क्षण अत्यन्त क्षोभ को प्राप्त करने वाली मैं उस समय यह नहीं जान सकी कि मैं कहा हूँ, कौन हूँ ? अथवा मैंने क्या किया है ?[1]

यहां हर्ष से उत्पन्न होने वाला मोह मान्य है।

मृति

मरण का उद्यम ही वर्णनीय 'मृति' है साक्षात् 'मृत्यु' नहीं।[2] यथा – विदग्धमाधव में राधा तमाल तरु में लिपट कर अपनी अंत्येष्टि क्रिया करने के लिये सखियों से अनुरोध करती है जिसे प्राणों के परित्याग करने की चेष्टा के 'कारण' 'मृति' माना जा सकता है।[3]

जाड्यम

इष्ट या अनिष्ट के दर्शन अथवा श्रवण के कारण तथा विरह आदि के कारण विचार शून्यता (अप्रतिपत्ति) 'जाड्य' कहलाता है। अनिमिषनयन, तूष्णीभाव, विस्मृति आदि इसके लक्षण हैं।[4]

यथा – श्रीकृष्ण के संगम से ही राधा के प्रेमोत्कर्ष को व्याजस्तुति से वर्णन करती हुई इष्ट के दर्शन से उत्पन्न 'जड़ता' विदग्धमाधव में देखी जा सकती है। विशाखा कहती है कि अहा, गोपियां धन्य हैं जो सुन्दर नवीन प्रेम वचनों के विलास से कृष्ण के साथ आनन्द मनाती हैं। मेरे भाग्य को धिक्कार है कि सखी राधा उस श्रीकृष्ण के सामने होने पर जड़ता को प्राप्त कर लुट रही है। अर्थात् कृष्ण को सामने देखकर भी जड़ भाव से ठगी सी खड़ी है।[5]

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 6
2. 'मृतरेध्यवसायो त्र वर्ण्यः साक्षादियं न हि' – उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, पृ. 361
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 47
4. भ. रि. सि. – ''
5. वि. मा. – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, श्लोक 28

वितर्क

विमर्श और संशय आदि के निमित्त जो ऊह अर्थात तत्व निर्णय के लिए किया जाने वाला विचार होता है वह 'वितर्क' कहलाता है। यह भ्रू–विक्षेप सिर और अंगुलियों के संचालन आदि को उत्पन्न करने वाला होता है।[1]

विदग्धमाधव में विमर्श से होने वाला वितर्क द्रष्टव्य है। वृन्दावन में शरद् बिहार करने के लिए गयी हुई राधा कृष्ण को वहां खोजती हुई स्वयं अनेक प्रकार के वितर्क करती हुई यह निर्णय करती है कि कृष्णा वहां अवश्य आये है क्योंकि चक्कर काटते हुए भौरे पुष्प –रस का पान नहीं कर रहे हैं, यह शुक जडतावश दाडिमी फल नहीं ग्रहण कर रहा है, यह दुखी हरिणी हरी घास की फुलंगी का चर्वण नहीं कर रही है। अतः गजराज के समान गति वाले प्रियतम श्रीकृष्ण इस मार्ग से अवश्य गये हैं।[2]

चिन्ता

इष्ट की अप्राप्ति और अनिष्ट की प्राप्ति के कारण उत्पन्न ध्यान चिन्ता है। निःश्वास, अघोवदन, भूमिविदारण, निद्राशून्यता, विलाप, उत्ताप, कृशता, वाष्प, दैन्य आदि इसके लक्षण हैं।[3]

यथा – विदग्धमाधव में राधा का ध्यान करने वाले श्रीकृष्ण को दूर से ही देखकर पौर्णमासी विचार करती हैं कि श्रीकृष्ण की कुछ–कुछ घूमती हुई पुतलियों वाली दोनों आखें फैल रही हैं। श्वासें मल्लिका के पुष्पों से निर्मित माला को म्लान कर रही हैं, गोकुल में यह कौन धन्य रमणी है जिसने इस कृष्ण को भी शीघ्र किसी अनिर्वचनीय ध्यान

---

1. भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, व्यनिचारिभाव लहरी
2. विधूर्णन्तः पीदपं न मधु लिहतेऽमी मधुलिहः
   शुकोऽयं नादत्ते कलित जडिमा दाडिमफलम्।
   विवर्णा पणग्रिं चरति हरिणीय न हरितं
   पण्आनेन स्वामी तदिभवरगामी हरिरगात्। — वि0मा0, षष्ठ अंक, श्लोक–29
   — अन्य श्लोक – 27, 28, 30
3. भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, व्यनिचारिभाव लहरी

की चरम–स्थिति में पहुंचाया है अर्थात् यह कौन सौभाग्यवती ललना है जिसका कृष्ण निरन्तर ध्यान करते रहते हैं।[1]

औग्र्यम् (उग्रता)

अपराध या अपशब्द से उत्पन्न भयंकरता 'उग्रता' कहलाती है। उसमें वध, बन्ध, शिरकल्प, भर्त्सना, ताड़नादि लक्षण हैं।[2] विदग्धमाधव में मुखरा अपनी नतिनी राधा के प्रति श्रीकृष्ण की अनुरक्ति को जानकर उन्हें प्रताड़ित करती हुई कहती है – हे चञ्चल आगे मेरी नवीन नतिनी राधा है, तुमको धर्म से डर नहीं है। मध्याह्न में भी मुझ बूढ़ी की यह दृष्टि पर नहीं है अर्थात् वृद्धावस्था के कारण दिन में भी मुझे ठीक से दिखायी नहीं देता है अतः हे नन्दपुत्र, यदि तुम दरवाजे के चबूतरे से तुरन्त नहीं चले जाते तो निर्दोष में, कितना रास्ता है मथुरा का अर्थात् मधुपुरी (मथुरा) जाकर कंस से तुम्हारी चपलता बताकर तुम्हें सजा दिलाऊंगी।[3]

यहां मुखरा की 'उग्रता' व्यक्त हो रही है क्योंकि श्रीकृष्ण–प्रताड़ना इसमें लक्षण परिलक्षित है।

अमर्ष

अधिक्षेप और अद्यमान आदि से उत्पन्न असहिष्णुता 'अमर्ष' कहलाती है। इसमें पसीना आना, सिर–कम्पन्न होना, विवर्णता, विशेष प्रकार की चिन्ता, अपमान का बदला लेने के लिए उपायों को ढूंढना, चिल्लाना, अपने करने वाले की ओर से मुंह फेर लेना और उसको मारना आदि अनुभाव होते हैं।[4]

विदग्धमाधव में राधा का मान बढ़ाती हुई ललिता राधा से कहती है – हे बाले, गोकुल की युवतियों के यौवन–तट पर दृष्टिपात करने वाले, श्याम शिला के समान विलासी हृदय इस कृष्ण की ओर से अपने मन को हटा लो। क्या हम लोग यह नहीं

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, श्लोक 4
2. भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, व्याभिचारिभावलहरी
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक–50
4. भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, व्याभिचारिभावलहरी

जानती हैं कि यह धूर्त केलि–क्रीड़ाओं द्वारा कुलीन स्त्रियों को आकृष्टकर उन्हें कलंक समूहों से व्याप्त करता हुआ निःसंदेह फिर उन्हें छोड़ देता है।[1]

यहां अद्यमान जन्य 'अमर्ष' माना जा सकता है।

असूया

सौभाग्य तथा गुण आदि के कारण होने वाले दूसरों के उदय में द्वेष करना 'असूया' कहलाती है। इसमें ईर्ष्या, अनादर, आक्षेप, गुणों में दोषारोप (अपवृत्ति), दुर्व्यवहार, वक्रदृष्टि, भ्रकुटिलादि इसके अनुभाव होते हैं।[2]

श्रीकृष्ण की मुरली पर 'असूया' के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण की वंशी को हस्तगत कर श्री राधा उस पर उलाहना प्रकट करती हुई कहती है – हे मुरलि, उत्तम वंश (बांस) से तुम्हारी उत्पत्ति हुई है। पुरूषोत्तम श्रीकृष्ण के हाथ में तुम्हारा निवास है तुम जाति से सरल हो तथापि है सखि, तुमने गोपियों के समूह को मुग्ध करने वाले मंत्र की विषम दीक्षा किस गुरू से पायी हैं।[3]

चापलम्

राग, द्वेष, आदि के कारण चित्त में आया हुआ हल्कापन (क्षुद्रता) 'चपलता' कहलाती है। उसमें अविचारशीलता, कठोरता और स्वच्छन्दाचरण आदि अनुभाव होते हैं।[4] राधा के चंचल चित्त को बतलाती हुई ललिता कृष्ण से कहती है कि दूर से ही देखकर प्रभूत तृष्णा से चंचल सखी (राधा) का मनरूपी हंस तुम्हारे मुख–कमल पर गिर गया है। अरे धोखेबाज, तुमने यहां उस हंस को अपने चंचल भ्रूबन्धनों से बांध लिया है। हम लोगों के प्रति तुम्हारा यह विपरीत व्यापार क्या उचित है अर्थात् अपनी आंखों का जादू डालकर हम लोगों को बहकाना तुम्हारे लिए अनुचित है।[5]

यहां राधा और कृष्ण दोनों की 'चपलता' व्यक्त हो रही है।

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक–39
2. भ. र. सि. – रूपगोस्वामी
3. वि. मा. – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, श्लोक–17
4. भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, व्यमिचारिभावलहरी
5. वि. मा. – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, श्लोक–29

इस प्रकार विवेच्य नाट्यकृतियों में प्रयुक्त व्यभिचारिभावों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि रूपगोस्वामी ने साहित्य शास्त्र में स्वीकृत निर्वेदादि व्यभिचारिभावों को ही मधुररस के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है।

भावोत्पति, भावसन्धि, भाव शाबल्य और भाव शान्ति :–

आचार्य रूपगोस्वामी ने व्यभिचारिभावों के अन्तर्गत भावों की उत्पत्ति, सन्धि, शाबल्य और शान्ति का भी निरूपण किया है।

भावोत्पति का अभिप्राय व्यभिचारिभावों की उत्पत्ति से ही है। इनके उदाहरण पूर्वोक्त व्यभिचारिभावों के उदाहरण ही माने जा सकते हैं।

भाव सन्धि

भाव सन्धि का लक्षण प्रतिपादित करते हुए रूपगोस्वामी लिखते हैं कि भिन्न स्वरूप वाले या समान रूप वाले दो व्यभिचारी भावों का एक स्थान पर योग्य ही सन्धि कहलाता है। सन्धि के अनेक प्रकार होते हैं जिनमें एक हेतु से होने वाले भावों की सन्धि तथा अनेक हेतुओं से होने वाले बहुत से भावों की सन्धि स्फुट रूप से देखी जाती है।[1]

एक हेतु से भिन्न–भिन्न भावों की सन्धि विदग्धमाधव के चतुर्थ अंक में द्रष्टव्य है – श्रीकृष्ण राधा पर दृष्टिपात करते हुए कहते हैं कि राधा एक क्षण धैर्य की मुद्रा को धारण करती है तो एक क्षण चंचलता की शोभा को। एक क्षण उपेक्षा भरी वाणी का विस्तार करती है तो दूसरे क्षण उत्सुकता बढ़ाने वाला वचन कहती है। एक क्षण इधर शुद्ध दृष्टि से देखती है तो एक क्षण चञ्चल कटाक्ष करती है। इस प्रकार क्रोध और प्रेम से व्याकुल बुद्धिवाली राधा दो प्रकार से विभक्त हो रही है।[2]

यहां क्रोध और स्नेह के बीच राधा की व्याकुलता से एक हेतु (राधा) से क्रोध और स्नेह इन दो भावों की सन्धि स्पष्ट होती है।

भिन्न हेतु वाली सन्धि का उदाहरण निम्नलिखित है –

---

1. भक्तिरसामृतसिन्धु – रूपगोस्वामी, दक्षिण विभाग, व्यभिारिमावलहरी, का0–101
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामञी, चतुर्थ अंक, श्लोक–51

विदग्धमाधव के पञ्चम अंक में श्रीकृष्ण राधा के अनुराग को अपने प्रति अनुभव करते हुए किन्तु जटिला के भय से प्रकट न कर पाने का स्पष्ट संकेत निम्नलिखित श्लोक में व्यक्त करते हैं –

मम संगमामृतरसं न जिघृक्षति न चं जिहासति प्रकटम्।

जटिलाव्याघ्रीचकिता तृषिता राधा कुरङ्गीयम्।।[1]

भाव शाबल्य

भावों के परस्पर सम्मर्दन (घात–प्रतिघात) को भावों को 'शाबल्य' कहते हैं।[2] इसका उदाहरण विदग्धमाधव के निम्नलिखित श्लोक में द्रष्टव्य है :–

धन्यास्ता हरिणीद्दशः स रमते यार्भिनवीनो युवा

स्वैरं चापलमाकलय्य ललिता मां हन्त निन्दिष्यति।

गोविन्दं परिरब्धुमिन्दुवदनं हा चित्तमुत्कण्ठते

धिग्वामं विधिमस्तु येन गरलं मानाभिधं निर्ममे।[3]

उक्त श्लोक में कलहान्तरिता श्री राधा चञ्चलतापूर्वक कहती है कि वे मृगनयनी सुन्दरियां धन्य हैं जिनके साथ वह नवीन युवक श्रीकृष्ण रमण करता है। (फिर शङ्कापूर्वक) हाय, स्वच्छन्द चपलता को जानकर ललिता मेरी निन्दा करेगी। (उत्सुकतापूर्वक) हा, चन्द्रमुख गोविन्द का आलिङ्गन करने के लिए मन उत्कण्ठित हो रहा है। (फिर क्रोधपूर्वक) विपरीत ब्रह्मा को धिक्कार है जिसने मानसंज्ञक विष का निर्माण किया है।

यहां चपलता को शङ्का, शङ्का को औत्सुक्य और औत्सुक्य को अमर्ष दबा रहा है अतः भाव शाबल्य का उदाहरण स्पष्ट प्रतीत होता है।

भाव शान्ति

चरम सीमा को प्राप्त भाव के लय को शान्ति कहते हैं।[4]

विदग्धमाधव के चतुर्थ अंक में चन्द्रावली के मान को शान्त हुआ जानकर

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, श्लोक–54
2. भ. र. सि. – रूपगोस्वामी, द. वि. व्यमिचारी भा. ल.–का. 104
3. वि. मा. – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, श्लोक–7
4. भ. र. चि. – रूपगोस्वामी, द. वि. व्यमि. भा. ल., का. 105

श्रीकृष्ण कहते हैं चन्द्रावली के नेत्र के कोने में सरलता की किसी निष्ठा ने प्रवेश किया, वचन में विनय युक्त प्रशंसा की भङ्गिमा ने निवास किया। इससे मेरे हृदय में बहुत अधिक घबराहट उत्पन्न हुई। उसके हृदय में अनुकूलता ने ही क्रोध को अच्छी तरह से दूर कर दिया है अर्थात् मेरे प्रति उसके स्नेहभाव ने हृदय के क्रोध को शान्त किया अतः वह अनुकूल लगती है।[1]

यहां चन्द्रावली के 'क्रोध' नामक भाव की शान्ति होने से भावशान्ति है।

इस प्रकार रूपगोस्वामी द्वारा अपनी नाट्यकृतियों में भावोदय, भावसन्धि, भावशाबल्य और भावशान्ति का यथावसर वर्णन किया गया है।

विवेच्य नाट्यकृतियों में मधुररस के उपभयपक्षों का पोषण

आचार्य रूपगोस्वामी द्वारा निरूपित मधुररस के विप्रलम्भ और संभोग इन द्विविध पक्षों का सम्यक् प्रतिपादन इनकी नाट्यकृतियों में किया गया है। उनका विदग्धमाधव नाटक पूर्णतया मधुररस प्रधान नाटक है जिसमें सम्भोग शृङ्गार का पूर्ण पोषण हुआ है। ललितमाधव नाटक में विप्रलम्भ और संभोग दोनों प्रकार की समुचित पुष्टि की गयी है। दानकेलिकौमुदी में संभोग पक्ष को पूर्णरूपेण परिपुष्ट किया गया है। रूपगोस्वामी द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों के अनुसार मधुररस के दोनों पक्षों का समुचित समाधान विवेच्य नाट्यकृतियों में प्राप्त किया जा सकता है।

रूपगोस्वामी ने विप्रलम्भ की पूर्वरागादि अवस्थाओं का विधिवत् वर्णन किया है। नाट्यकृतियों के प्रारम्भ में राधा और कृष्ण के परस्पर प्रेम को प्रकाशित करने के लिए पूर्वराग की व्यवस्था की गयी है। इसमें पूर्वराग के प्रवर्द्धन के लिए गुण नाम कीर्तन एवं दर्शन आदि अनेक उपायों को विन्यस्त किया। प्रारम्भ में श्रीकृष्ण के नाम की चर्चा चलाकर नायिकागत पूर्वराग को प्रकट कराने का प्रयास किया गया है। तदनन्तर श्रीकृष्ण की मुरली की मधुर ध्वनि से राधा आदि में पूर्वराग का विस्तार किया गया है। इस प्रकार के पूर्वराग को गुणनामश्रवणजन्य पूर्वराग माना जा सकता है।

दर्शनजन्य पूर्वराग के प्रकाशन के लिए विदग्धमाधव में 'चित्रदर्शन' का उपाय

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक–13

किया गया है जिसमें दिव्य किशोर को देखकर राधा की आंखों को शीतल करने का प्रयत्न है।[1]

लालस

अभीष्ट प्राप्ति की इच्छा से युक्त अत्यन्त उत्कण्ठा का नाम 'लालस' है। इनमें उत्सुकता, चपलता, घूर्णा, श्वास आदि क्रियाएं होती है।[2]

विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण से राधा की अनुराग–चेष्टा बतलाती हुई कहती है कि वह तुम्हारे (कृष्ण) नाम को सुनकर उन्माद के कारण कांप उठती है और यदि वह मेघ को दूर से देख लेती है तो उससे आलिङ्गन करने हेतु दो पांखों की 'लालस' करती है। यहाँ नायिकागत 'लालस' मान्य है।[3]

उद्वेग

मन के कम्प को 'उद्वेग' कहते हैं। उसमें निःश्वास, ज्वर, स्तम्भ, चिन्ता, अश्रु, वैवर्ण्य, स्वेद आदि लक्षण होते हैं।[4]

विदग्धमाधव में राधा श्रीकृष्ण के प्रति आसक्ति को देखकर विशाखा उससे कहती है – हे सखि चिन्ता की श्रेणी आज तुम्हारे आन्तरिक धैर्य को क्यों विच्छिन्न कर रही है ? अथवा पसीने की बूंद के समूह से रक्त वर्ण के वस्त्र को क्यों सींच रही हो ? हे चम्पक पुष्प के समान गोरी, कम्पनी तुम्हारे शरीर की स्थिरता को हठात् क्यों लुप्त कर रहा है। अर्थात् तुम इतनी चंचल क्यों हो रही हो, सच–सच अपनी बात बताओ, परिजनों से किसी को छिपाना कल्याण कारक नहीं होता है।[5] इसे प्रवासजन्य उद्वेग का उदाहरण माना जा सकता है।

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, दितीय अङ्क, श्लोक–23
2. वि. मा. – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, श्लोक –
3. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, पृ. 512, का. – 22
4. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, पृ. 514, का. 25
5. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 2

जागर्या

निद्रा के नाश को 'जागरण' कहते हैं। इसमें शारीरिक दुर्बलता, भ्रमण आदि लक्षण होते हैं।[1]

विदग्धमाधव में जागर्यावस्था का उदाहरण द्रष्टव्य है। केसर कुञ्ज में श्रीकृष्ण जागकर रात बिताने का उलाहना ललिता से देते हुये जागरण व्रत की दीक्षा देने में उसकी आचार्यता की दक्षता का गुणगान करते हैं।[2]

वैयग्रयम्

भाव की गम्भीरता से विक्षोभ की असह्यता को 'व्यग्रता' कहते हैं। इसमें अविवेक, निर्वेद, स्वेद, असूया आदि लक्षण होते हैं।[3]

विदग्धमाधव में राधा की मनोगत व्यग्रता को नान्दीमुखी से वर्णन करती हुई पौर्णमासी कहती है अरी नान्दीमुखि, अत्यधिक गम्भीर प्रेम की लहरों से उत्पन्न मानसिक पीड़ा वाली यह राधा कुछ चेष्टा कर रही है। अतः यह निश्चय समझो कि अनुराग वीर श्रीकृष्ण को नहीं समझने योग्य किसी गम्भीर पराक्रम की यह विलक्षणता है।[4]

व्याधि

अभीष्ट धातु के न प्राप्त होने से शरीर में होने वाले उत्ताप तथा पीलेपन को 'व्याधि' कहते हैं। इसमें ठंडी वस्तु की स्पृहा, मोह, निःश्वास, ताप आदि लक्षण होते हैं।[5]

विदग्धमाधव में भी राधा की 'व्याधि' अवस्था का वर्णन देखा जा सकता है।[6]

उन्माद

सर्वत्र सभी अवस्थाओं में सर्वदा प्रियतममयता से अनग वस्तु की भ्रान्ति को

---

1. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, पृ. 514
2. वि. मा. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, पृ. 174
3. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. 34
4. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 16, 17
5. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 17
6. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 1, 8

'उन्माद' कहते हैं, इसमें इष्ट से द्वेष, निःश्वास, निमेष विरह आदि लक्षण होते हैं।[1]

विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण का चित्र देखकर राधा ईर्ष्या प्रकट करती हुई कहती है कि शरीर में मरकत मणि की कान्तियों की छटा को विकीर्ण करता हुआ मयूर–पुच्छधारी नवयुवक (श्रीकृष्ण) पर्दा से निकला है। इतना कहकर राधा कुछ देर चुप रहकर पुनः कहती है कि भ्रूविक्षेप करके हंसते हुये उस युवा श्रीकृष्ण ने मेरी बुद्धि को उन्मत बना दिया है जिसके कारण खेद है कि चन्द्रमा मेरे लिये अग्नि बन गया है और अग्नि चन्द्रमा बन गया है।[2]

राधा के उक्त कथन में इष्ट के प्रति ईर्ष्या जनित 'उन्माद' माना जा सकता है।

कामलेख

कामलेख का अभिप्राय है 'प्रेम–पत्र'। यह प्रेमी और प्रेमिका दोनों के पारस्परिक प्रेम को प्रकाशित करने के लिये दोनों पक्षों से एक दूसरे के पास सम्प्रेषित किया जाता है। यह काम लेख दो प्रकार का होता है – 1. निरक्षर 2. साक्षर।[3]

1. निरक्षर कामलेख

अत्यन्त रक्त पल्लव की आकृति, अर्द्धचन्द्र, नखाङ्क आदि से युक्त वर्ण विन्यास से रहित लेख को 'निरक्षर कामलेख' कहते हैं।

2. साक्षर कामलेख

साक्षर कामलेख में अपनी हस्तलिखित गाथामयी लिपि होती है। उस लेख को कमल के तन्तु से बांधा जाता है, राग या कस्तूरी, स्याही के काम में प्रयुक्त होती है, कुङ्कुम से मुहर लगायी जाती है। ये समस्त वस्तुएं कामदेव की सामग्रियां कही गयी हैं।

विदग्धमाधव में, द्वितीय अङ्क की मुख्य घटना को 'मन्मथ लेख' की संज्ञा से ही अभिहित किया गया है। पौर्णमासी राधा से कहती है – बेटी, एक क्षण एकान्त में

1. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, पृ. 518, का. 38
2. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 3
3. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, पृ. 524, का. 59, 60

बैठकर फूलों पर पत्र–रचना करो जिससे सखियों द्वारा इसे कृष्ण के पास भेजा जाये।[1] बाद में राधा जो पत्र लिखकर कृष्ण के पास भेजती है उसे मधुमंगल पढ़ता है –

धृत्वा प्रतिच्छन्दगुणं सुन्दर मम मन्दिरे त्वं वससि।

तथा तथा रुणत्सि वलितं यथा यथा चकिता पलाये।।[2]

उक्त श्लोक में 'साक्षर कामलेख' माना जा सकता है क्योंकि राधा स्वयं अपने हाथ से लिखकर गाथामयी लिपि में कृष्ण के पास सम्प्रेषित करती है।

श्रीकृष्ण भी 'कामलेख' लिखने का उपाय सोचते हुये मधुमङ्गल से कहते हैं – मित्र, प्रत्युत्तर में कामलेख लिखे बिना दूसरा उपाय नहीं देखता हूँ। मधुमङ्गल लिखने का साधन पूंछता है। कृष्ण उसे बताते हैं कि 'वश करने की क्रिया में प्रसिद्ध लाल अडहुल के फूल का रस ही उत्तम साधन है।[3]

इस प्रकार विदग्धमाधव में नायक और नायिका दोनों ओर से 'कामलेख' की व्यवस्था की गयी है। इसमें साक्षर कामलेख ही प्रदर्शित किया गया है।

माल्यार्पणम्

विदग्धमाधव में नायक और नायिका दोनों पक्षों की ओर से माल्यार्पण की व्यवस्था की गयी है। राधा की गुञ्जावली को कृष्ण के गले में पहनाती हुई विशाखा कहती है –

उदीर्णरागेण करम्बितान्तरा परिस्फुरत्कृष्णमुखी गुणाञ्चिता।

गुञ्जावली मञ्जुतरावलम्बतां सा राधिकेयं तव कण्ठसंगमम्।[4]

श्रीकृष्ण भी अपने गले से वैजयन्ती माला उतार कर विशाखा को समर्पित करते हैं। वह कहते हैं कि 'लालिमा युक्त होकर भी अधिक कठोर, गोलाकार होकर भी अधिक

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, पृ. 64
2. वही – " , " , श्लोक 33, संस्कृत छाया
3. वही – " , " , पृ. 80
4. वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक 38

मलिनता युक्त गुजाहार को युवतियों के भाव की भांति मैं नहीं चाहता हूँ।[1] यह कहते हुये वह अनजान की भांति अपनी रङ्गणमाला विशाखा को प्रदान करते हैं। इस माला से वह राधा को धैर्य बंधाने का उपाय सोचती है।

मान

रूपगोस्वामी की विवेच्यनाट्यकृतियों में 'मान' का भी समुचित संविधान किया गया है। विदग्धमाधव में चन्द्रावली कृष्ण के मुख से राधा का नामोच्चारण सुनकर क्रोध से लाल हो जाती हैं और कृष्ण से कहती है – हे दानवीर भाव छिपाने की आवश्यकता नहीं। आज अपने सुन्दर सुवर्णमय कुण्डलद्वय के विन्यास से अर्थात् 'राधा' इस सुन्दर अक्षरद्वय के उच्चारण से मेरे कान अच्छी तरह मधुरता से पूर्ण हो गये हैं।[2]

यहां पर राधा के प्रति ईर्ष्याभाव होने के कारण चन्द्रावली का सहेतुक मान माना जा सकता है।

विदग्धमाधव में मधुमंगल द्वारा कृष्ण के साथ रात्रि जागरण का उलाहना सुनकर राधा कहती है कि कंसरिपु कृष्ण की नख–रूपी चन्द्रपंक्ति की सुन्दर शोभा से व्याप्त कुञ्ज को जब मैंने बार–बार नहीं देखा तब शीघ्र ही उदित होने वाले दुष्ट चन्द्रमा की विक्रान्ति से आहत मैंने दुख समूह से पूर्ण परिणाम को प्राप्त किया है। अर्थात् कृष्ण के अभाव में चन्द्रमा ने (चन्द्रावली) मुझे असहय विरह वेदना में डाल दिया है।[3]

यहां चन्द्रावली के प्रति ईर्ष्याजन्य राधा का 'सहेतुक मान' माना जा सकता है।

श्रवण जन्य सहेतुक मान

विदग्धमाधव में ललिता श्रीकृष्ण के रात्रि जागरण का समाचार सुनकर राधा के मान को बढ़ाती है।[4]

---

1. रागिणामपि सुकठोरं सुवृत्तमपि मुहुरुदीर्णमालिन्यम्।
   युवतीनामिव भावं नहि गुञ्जाहारमिच्छामि।।
   – वि. मा. – रूपगोस्वामी, द्वितीय अंक, श्लोक – 39
2. वि. मा. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, पृ. 156
3. वही – '' , श्लोक 37
4. वही – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 39

'कक्खटिका' के मुख से कृष्ण द्वारा 'चन्द्रावली' के नाम का उच्चारण सुनकर भी राधा का 'सहेतुकमान' प्रदर्शित किया गया है।[1]

अनुमितिजन्य सहेतुकमान

भोगाङ्ग दर्शन

विदग्धमाधव में व्रजगोपियों के गात्र में भोगाङ्ग दर्शन कराती हुई नान्दीमुखी पद्मा से कहती है कि सखि ! मैंने शैय्या के ललाट को धातुरस की चित्ररचना से युक्त देखा है और श्यामा के गिरती हुई वनमाला से ऊपर उठते हुये केश भाग को देखा है। गुञ्जाहार की लता से अर्द्धभाग में भद्रा के सुन्दर स्कन्ध देश को देखा है। तथ्य यह है कि कृष्ण ने न केवल राधा का ही उपभोग किया है अपितु शैव्या, चन्द्रावली प्रभृति गोपियों का भी उपयोग किया है। इसीलिए कृष्ण के आलिङ्गन चिन्ह उन सभी के शरीरावयवों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं।[2]

प्रिय के गात्र में भोगाङ्क दर्शन कराती हुई राधा कृष्ण से कहती है कि 'निर्मिमेष दृष्टि से मेरे मार्ग को निहारते हुये तुम्हारे दोनों नेत्र केसर की धूल गिरने से लाल हो गये हैं और जंगल की ठंडी हवाओं से बिम्ब के समान लाल अधर पर घाव लग गये हैं।'[3]

इस प्रकार यहां पर राधा श्रीकृष्ण के शरीर पर चन्द्रावली के साथ संभोगजन्य चिन्हों का दर्शन कराती है।

गोत्रस्खलन

विदग्धमाधव में चन्द्रावली के समक्ष श्रीकृष्ण घबराहट में 'धारा' के स्थान में 'राधा' का गोत्रस्खलन करते हैं।

विपिनान्तरे मिलन्ती मधुररसा शीतलस्पर्शा।

अमृतमयी त्वद्विरहे समजनि मम तापनुत्तये राधा।[4]

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, सप्तम अंक, पृ. 347
2. वही – '' , चतुर्थ अंक, श्लोक 1
3. वही – '' , '' , श्लोक 40
4. वि. मा. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, पृ. 156, श्लोक – 9

विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण राधा के समक्ष भी चन्द्रावली के आधे नाम 'प्रिये चन्द्रा' का उच्चारण करके गोत्रस्खलन करते हैं।[1]

मधुमङ्गल चन्द्रावली के समक्ष राधा का भी गोत्रस्खलन करता हुआ दृष्टिगत होता है – 'हृद्भृङ्गजङ्गमलता मङ्गलभा राधिका मयोन्मुदिता'[2]

निर्हेतु मान

विदग्धमाधव में राधा निर्हेतु मान प्रकट करती हुई ललिता से कहती है – सती समूह के मुख से हमारा यश सर्वत्र फैला हुआ है। कुल कलङ्क से मुक्त है और स्वामी शोभा सम्पन्न है। चंचल भौहों के विलास से कामदेव के धनुष के अहङ्कार को जीतने वाला यह (कृष्ण) इस प्रयास में हृदय को व्यर्थ ही कष्ट दे रहा है।[3]

राधा के उक्त कथन में कृष्ण के प्रति बनावटी उपेक्षा भाव होने के कारण 'निर्हेतु मान' माना जा सकता है।

मानोपशमन

आचार्य रूपगोस्वामी ने नायक द्वारा नायिका के मान को उपशमन करने के लिये विविध युक्तियों का प्रयोग किया है जिनके कतिपय वर्णन उद्धरणीय हैं –

1. साम[4]

प्रियवाक्य की रचना 'साम' कहलाती है।

विदग्धमाधव में चन्द्रावली के मान करने पर श्रीकृष्ण उसे प्रिय वचनों से सन्तुष्ट करने का यत्न करते हैं। वह कहते हैं – प्रिये (राधा के प्रति मेरी अनुरक्ति की आशङ्का करना उचित नहीं है क्योंकि उस सोलह कला वाले चन्द्रमा की सोलहवीं प्रिया, जो आकाश में स्फुरित होती है, उस राधा के साथ इस पृथिवी पर हमारी संगति आज कैसे सम्भव हो सकती है। आगे श्रीकृष्ण चन्द्रावली के तीखे वचनों और क्रोध पूर्ण उक्ति में मधु

---

1. वही – " , सप्तम अंक, पृ. 347
2. वही – " , चतुर्थ अंक, पृ. 166
3. वि. मा. – रूपगोस्वामी, श्लोक – 38
4. 'प्रियवाक्यस्य रचनं यत्तु तत्साम गीयते' – उ. नीम., पृ. 539, का. 103

जैसी मिठास का आभास प्राप्त कर चन्द्रावली की भर्त्सना को भी प्रशंसा की अपेक्षा श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं।[1] यह उनकी चाटूक्ति का ही प्रभाव है जो चन्द्रावली के मान का उपशमन करने में पूर्ण समर्थ सिद्ध होती है।

विदग्धमाधव में राधा का मानोपशमन करते हुये श्रीकृष्ण कहते है – हे सुन्दरि, क्या चन्दन से तुम्हारे स्तनों पर चित्र बनाऊं, क्या फूलों से तुम्हारे केशभार को सजाऊं अथवा अत्यधिक क्लेशयुक्त तुम्हारे अंगों को हाथ से दबाऊं।[2]

विदग्धमाधव में राधा के अधीन अपने दशावतारों का वर्णन करते हुये श्रीकृष्ण व्यंजना द्वारा अपने माहात्म्य का प्रकाशन करके राधा का मानोपशमन करते हैं जिसे 'भेद' नामक युक्ति माना जा सकता है।[3]

दान[4]

किसी बहाने आभूषण आदि दे देना 'दान' कहलाता है।

विदग्धमाधव में राधा के मान को भङ्ग करने के लिये श्रीकृष्ण राधा की चित्तवृत्ति के समान अत्यधिक गुण वाली स्वच्छ, सुकुमार तथा सुगन्ध प्रदान करने वाली माला को प्रदान करते हुए उसके स्तन रूपी शिव के शिर पर आकाश गंगा की शोभा का विस्तार कराते हैं।[5]

चतुर्थ अङ्क में ही श्रीकृष्ण राधा का अनुनय करते हुये भूल से पुष्पों के साथ राधा के आंचल में अपनी मुरली भी दे देते हैं।[6]

नति

दैन्य के कारण केवल प्रेमी का प्रियतमा के पैरों पर तथा प्रियतमा का प्रेमी के

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, पृ. 159, श्लोक – 11, 12
2. वही – रूपगोस्वामी, तृतीय अंक, श्लोक 44
3. वि. मा. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 41
4. 'व्याजेन भूषणादीनां प्रदानं दानमुच्यते' – उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, पृ. 542
5. वि. मा. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 44
6. वही – '' , चतुर्थ अंक, पृ. 179

पैरों पर गिर पड़ना ही 'नति' कहलाता है।[1]

विदग्धमाधव में राधा से अनुनय करते हुये कृष्ण कहते हैं, हे चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर मुख वाली प्रिये, धूलि से धूसरित मयूर–पंख वाला यह प्रियजन पुनः नमस्कार करता हुआ तुम्हारे कटाक्ष की मधुरिमा की भीख मांग रहा है अर्थात् एक बार इस प्रणति परायण प्रेमी को तिरछी नजर से देख तो लो।[2] यहां पर श्रीकृष्ण की राधा के प्रति प्रणति–परायणता व्यक्त की गयी है। धूल से धूसरित मयूर पंख का होना चरणों पर गिर पड़ने की व्यञ्जना मानी जा सकती है।

उपेक्षा[3]

साम आदि चार उपायों के विफल हो जाने पर (नायिका के प्रति) उदासीनता का होना 'उपेक्षा' है। कुछ आचार्यों ने 'मौन' को भी 'उपेक्षा' कहा है।

विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण की अपने प्रति उदासीनता देखकर राधा यमुना–तीर के कदम्ब को साक्षी बनाती हुई तथा अपने कानों का कर्णफूल फेंकती हुई कहती है कि गोकुल का यह धूर्त बलपूर्वक मुझे तिरस्कृत कर रहा है। आगे वह पुनः विषाद व्यक्त करती हुई ललिता से कहती है – हे कमल नयने, चतुर मधुरिपु कृष्ण दोषपंक्ति के बिहार वन की शोभावली मुझमें विमुख हो गया है, ऐसी मुझे शङ्का है। इसको बिना प्राप्त किये, कांटों बिंधा और पराग समूह से मूढ मधुप युवक क्या केतकी में विराग को नहीं प्राप्त करेगा अर्थात् मेरा स्नेह न प्राप्त कर कृष्ण का मेरे प्रति उदासीन होना स्वाभाविक है।[4]

रसान्तर[5]

आकस्मिक भय आदि की उपस्थिति को 'रसान्तर' कहते हैं। यह रसान्तर आकस्मिक तथा बुद्धिजन्य भेद से दो प्रकार का होता है।

---

1. 'केवलं दैन्यमालम्व्य पादपाती नतिर्मता' – उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, पृ. 542, का. 111
2. वि. मा. – रूपगोस्वामी, चतुर्थ अंक, श्लोक 46
3. सगमादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम्।
   उपेक्षा कथ्यते कैश्चित्तूष्णीं भावतया स्थितिः। – उ. नी. म.
4. वि. मा. – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, श्लोक 12
5. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, पृष्ठ 544, का. 118

विदग्धमाधव के पंचम अङ्क में उद्विग्नता के कारण राधा के 'मान' का उपमशन देखा जा सकता है। राधा को कृष्ण के विषय में उद्विग्न चित्त देखकर ललिता पूंछती है– सखी राधे, अकेली क्या सोच रही हो। राधा ललिता को देखकर मन ही मन सोचती है क्या सचमुच मैं अकेली हूँ ? क्योंकि कृष्ण दिखायी नहीं दे रहा है। वह ललिता से कहती है सखी ललिते, दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की विद्या उस कामी कृष्ण ने कैसे सीखी है जिसने मेरे हृदय में प्रविष्ट होकर मान की आग को बुझा दिया है।[1] यहां राधा के 'मान' का उपशमन हुआ है।

यादृच्छिकम् (आकस्मिक)

किसी आकस्मिक (भय आदि की) उपस्थिति 'यादृच्छिक रसान्तर' कहलाती है।

विदग्धमाधव के पंचम अङ्क में भौरे के भय से भयभीत हुई राधा को देखकर मधुमङ्गल भौरे को डंडे से मारता है। राधा स्नेहभाव प्रकट करती हुई कहती है –

आर्य तुम मेरी भलाई करने वाले हो गये।[2] इस प्रकार यहां राधा का भौरे के आकस्मिक भय से मानोपशमन होने के कारण रसान्तर की उपस्थिति होती है।

रूपगोस्वामी के मत में व्रजवल्लभाओं का 'मान' देशकाल बल तथा मुरली श्रवणादि से भी समाप्त हो जाता है।[3]

विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण जब राधा आदि गोपियों को प्रसन्न करना या पास बुलाना चाहते हैं तो अपनी मुरली ही टेरते हैं। राधा उस मुरली की मधुर ध्वनि सुनकर अपने को रोक नहीं पाती और कृष्ण से मिलने के लिये तत्पर होती है। वह मुरली को उपालम्भ भी देती है।[4]

इस प्रकार रूपगोस्वामी ने मान और उसके उपशमन की युक्तियों का अपनी

---

1. वि. मा. – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, श्लोक – 10
2. वि. मा. – रूपगोस्वामी, श्लोक – 45, पृ. 244
3. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, का. – 124, शृङ्गारभेद प्रकरण, पृ. 546
4. उ. नी. म. – रूपगोस्वामी, श्लोक 25, 26, पृ. 228, 229

नाट्यकृतियों में समुचित उपयोग किया है।

प्रेमवैचित्र्यम्

प्रिय के निकट रहने पर भी प्रेमोत्कर्ष के स्वभाव से अपने में वियोग बुद्धि के द्वारा भ्रम से जो पीड़ा होती है, उसे 'प्रेम वैचित्र्य' कहते हैं।[1]

विदग्धमाधव के कृष्ण को किञ्चित् ओझल हुआ देखकर राधा व्याकुल हो उठती है और वह कहती है कि वह मधुसंहारक कृष्ण कहां गया ? वह अनेक प्रकार की शङ्काएं करती हुई कहती है कि क्या वन की आग से डरी हुई गौओं का आर्तनाद हुआ अथवा क्या मुझसे कोई गलती हो गयी या क्या उसने मेरी निरङ्कुशता देखी है। अथवा क्या किसी गोपी ने उसे एकान्त में बुलाया है, जिससे इस वन में सहसा कमल नयन कृष्ण ने मुझे छोड़ दिया है।[2]

प्रवास

रूपगोस्वामी ने विदग्धमाधव और दानकेलिकौमुदी में श्रीकृष्ण की ब्रजलीला ही प्रमुख रूप से प्रतिपादित की गयी है। इनमें श्रीकृष्ण के प्रवास जन्य विप्रलम्भ श्रृंगार का उदाहरण केवल 'किञ्चिद् दूर' का ही उद्घृत किया जा सकता है। वह भी केवल संयोग होने की प्रतीक्षा में। जैसे विदग्धमाधवम् में सङ्केतस्थल पर न आये हुये कृष्ण के विषय में राधा दीन भाव से अनेक शङ्काएं करती हैं।[3] यह उनके किञ्चिद्दूर प्रवास का उदाहरण माना जा सकता है।

आचार्य रूपगोस्वामी के अनुसार नायक और नायिका के मिलन के पूर्व अथवा पश्चात् युक्त वा अयुक्त अवस्था में आलिङ्गनादि की जो आकांक्षाएं होती हैं उसकी अप्राप्ति में उत्कण्ठावश जो भाव प्रकट होते हैं वे विप्रलम्भ श्रङ्गार के ही द्योतक होते हैं।

इस प्रकार रूपगोस्वामी ने अपनी नाट्यकृतियों में विप्रलम्भावस्था में प्रवासादि का विधिवत् पोषण किया है। उन्होंने संभोग श्रृङ्गार के संक्षिप्त, सङ्कीर्ण, सम्पन्न,

---

1. वही – '' , का. – 134, पृ. 548
2. वि. मा. – रूपगोस्वामी, पंचम अंक, श्लोक 46
3. वि. मा. – रूपगोस्वामी, तृतीय अङ्क, श्लोक – 27

समृद्धिमान् आदि भेदों का समुचित सन्निवेश किया है। आलोच्य नाट्यकृतियों में मुख्य और गौण दोनों प्रकार के संभोग शृङ्गार का वर्णन किया गया है। रूपगोस्वामी ने सम्भोग शृङ्गार में विविध विलास क्रीडाओं का भी वर्णन किया है जिनमें संदर्शन, जल्प, वितयोक्ति, वर्त्मरोधन, स्पर्श, रास, वृन्दावन, क्रीडा, यमुना जलकेलि, लीलाचौर्य, वस्त्र चौर्य, पुष्प चौर्य, घट्टलीला, कुजादि लीला, पटावृष्टि, चुम्बन, आलिङ्गन, मधुपान, संप्रयोग आदि का विधिवत् वर्णन किया गया है। इनमें कुछ के उदाहरण उद्दीपन, अनुभाव, व्यभिचारि आदि भावों के वर्णन प्रसङ्ग में अवलोकनीय हैं। इनमें वत्मरोधन, मधुपान, रास पुष्पचौर्य, वस्त्रचौर्य, कुजादिलीनता, चुम्बनादि के महत्वपूर्ण स्थल विदग्धमाधव में क्रमशः द्रष्टव्य हैं।[1]

संदर्शन, यमुनाजलकेलि, वस्त्रचौर्य, : वासहरणतीर्थ : के उद्धरण ललितमाधव में क्रमशः द्रष्टव्य है।[2]

घट्टलीला और वर्त्मरोधन का सुललित उदाहरण दानकेलिकौमुदी में देखा जा सकता है।[3]

इस प्रकार उपर्युक्त विलासक्रीडाओं को विस्तारमय यहां उल्लेख मात्र किया गया है। नाट्यकृतियों में इनका पूर्णतया प्रतिपादन करके नाटककार ने संभोग शृङ्गार की

1. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी – 6/19, 3/50, पृ. – 252, पृ. – 81, पृ. – 255
   6/25, 7/39
2. ललितमाधवम् – रूपगोस्वामी – 2/25, 9/57, पृ. 225
3. दानकेलिकौमुदी – रूपगोस्वामी – श्लोक 65, पृ. 72

सम्यक् परिपुष्टि की है।

विवेच्य नाट्यकृतियों में प्रयुक्त रसों की सोदाहरण व्याख्या

(क) मुख्य भक्तिरस

रूपगोस्वामी की तीनों नाट्यकृतियों में प्रमुख रूप से मधुर रस का सांगोपांग प्रयोग किया गया है। भक्तिरस की पृष्ठभूमि पर मधुररस को 'रसराज' के रूप में समुद्धृत करना नाटककार का अभीष्ट प्रयोजन है। तीनों नाट्यकृतियों की नान्दी में राधा–कृष्ण को इष्टदेव के रूप में समुपस्थित कर रूपगोस्वामी ने अपनी भक्ति–भाव की प्रणामाञ्जलि निवेदित की है। भक्तिरस के आलम्बनभूत श्रीकृष्ण और राधा की मधुरिम ललित लीलाओं को ही अपनी नाट्यकृतियों का प्रमुख प्रतिपाद्य मानकर रूपगोस्वामी ने उनकी प्रकट लीला के प्रतिपादनार्थ श्रीकृष्ण का अवतार स्वीकार किया है।

विदग्धमाधव में राधा–कृष्ण की लीला रूपी शिखरिणी से समस्त दैहिकादि त्रिविध तापों को दूर करने की प्रार्थना करते हुये नाटककार रूपगोस्वामी ने नान्दी के बाद दूसरे मङ्गलाचरण में शृङ्गाररस समन्वित भक्ति सम्पत्तिको, कालान्तर में करूणाभाव के कारण कलयुग में अवतीर्ण श्रीकृष्ण द्वारा, लोककल्याण के लिये समर्पित करने की अभ्यर्थना की है।

अनर्पितचरीं चिरात्करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्जवलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसंदीपितः
सदाहृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः।[1]

प्रस्तुत श्लोक में उज्जवल रसमय भक्तिरस की सार्थकता सिद्ध करने के लिये शचीनन्दन श्रीकृष्ण की स्तुति निवेदित करते हुये रूपगोस्वामी ने विवेच्य नाट्यकृति विदग्धमाधवम् में 'उज्जवलरसमय भक्तिरस' को अङ्गीरस के रूप में उपस्थापित करने का स्पष्ट सङ्केत किया है।

---

1. वि. मा. – प्रथम अङ्क, श्लोक 2

उपर्युक्त श्लोक में भक्तिरस का उदाहरण माना जा सकता है। इसमें शचीनन्दन श्रीकृष्ण और उनके भक्त आलम्बन विभाव हैं। 'कृष्णरति' इसमें स्थायीभाव है। सुवर्ण के समान कान्ति समूह से उद्दीप्त होना ही उद्दीपन है। करूणा भाव ही अनुभाव है और आनन्द : हर्ष : इस भक्तिरस में व्यभिचारीभाव माना जा सकता है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव से पुष्ट हुई 'कृष्णरति' ही स्थायीभाव के रूप में भक्तिरस की सार्थकता सिद्ध करती है।

मधुररस

मधुरस : विप्रलम्भ :

विदग्धमाधवम् के निम्नलिखित श्लोक में विप्रलम्भ श्रृङ्गार का उदाहरण द्रष्टव्य है।

आलीनां प्रतिहाररोधनविधौ वीक्ष्य प्रयत्नावलीं

बाला तर्कितमाधवी परिमल स्फूर्तिर्भयाद्वेपते।

किंचालोक्य सुधांशुकान्त सलिल स्पन्दानलिन्दे क्षणा –

देणाङ्कोदय शङ्किनी विकलतामातन्वती मूर्च्छति। 3/10

प्रस्तुत श्लोक में राधा की विरहावस्था का वर्णन करती हुई पौर्णमासी श्रीकृष्ण से कहती है कि द्वार पर स्थित वन्दनवार मधुमक्खियों के झुण्ड को देखकर माधवी के मकरन्द के विकास का अनुमान कर यह बाला : राधा : भय से कांपने लगती है और घर के दरवाजे के सामने चबूतरे पर चन्द्रकान्तमणि के जलबिन्दुओं को देखकर एक क्षण चन्द्रमा के उदय की शङ्का से विकल होकर मूर्च्छित हो जाती है।

उक्त उदाहरण में बिप्रलम्भ श्रृङ्गार की पूर्ण पुष्टि होती है। इसमें श्रीकृष्ण और राधा आलम्बन विभाव है। माधवी–मकरन्दन और सुधांशु इसमें कामोद्दपिक होने के कारण उद्दीपन विभाव माने जा सकते हैं। राधा का भय से कम्पित होना सात्विक अनुभाव माना जा सकता है और राधा का शङ्का से विकल होकर मूर्च्छित होना इसमें व्यभिचारिभाव माना जा सकता है।

प्रस्तुत उदाहरण में माधवी–मकरन्द और सुधांशु वियोगावस्था के कारण संतापकारक कहे गये हैं जबकि यही संयोगावस्था में सुखदायक माने जाते हैं। : विरहिणी राधा के लिये वियोगावस्था में संतापदायक हो गये हैं। इसमें ललनानिष्ठ मधुरारति का उद्रेक माना जा सकता है।

मधुर रस : संभोग :

रूपगोस्वामी की मान्यताओं पर समवलम्बित मधुर रस के सुललित उदाहरण विवेच्य नाट्यकृतियों में देखे जा सकते हैं। मधुर रस का सैद्धान्तिक विवेचन पीछे विस्तारपूर्वक किया जा चुका है। अतएव यहां केवल उदाहरण ही अवलोकनीय हैं।

विदग्धमाधव के निम्नलिखित श्लोक में मधुर रस का शास्त्रीय स्वरूप देखा जा सकता है।

हित्वा दूरे पथिया धवतरोरन्तिकं धर्मसेतो –

भङ्गोदग्रा गुरुशिखरिणं रंहसा लङ्घयन्ती।

लेभे कृष्णार्णव नवरसा राधिकावाहिनी त्वां

वाग्वीचीभिः किमिव विमुखीभावमस्याः करोषि। 3/9

प्रस्तुत श्लोक में पौर्णमासी श्रीकृष्ण से राधा की मिलनोत्कण्ठा व्यक्त करती हुई कहती है कि हे कृष्ण रूपी समुद्र, धव वृक्ष अर्थात् पति रूपी वृक्ष के सामीप्य को भी दूरमार्ग में छोड़कर धर्म के बांध को तोड़ने में तत्पर, वेग से विशद पर्वत मार्ग को लांघती हुई : अर्थात् पर्वत–तुल्य कठोर गुरुजन अथवा गुरुजन रूपी पर्वत का अतिक्रमण करती हुई : नवीन रस : स्नेह रस : वाली इस राधा रूपी नदी ने तुमको प्राप्त किया है। उस राधा रूपी नदी को अपने अपेक्षा भरे वचन रूपी लहरों से किस प्रकार लौटा रहे हो।

प्रस्तुत उदाहरण में राधा के ऊपर नदी का, कृष्ण के ऊपर समुद्र का, पति के ऊपर वृक्ष का, गुरुजन के ऊपर पर्वत का और कृष्ण के वचनों के ऊपर लहर का आरोप किया गया है। इसमें मधुररस का पूर्ण परिपाक माना जा सकता है। श्रीकृष्ण समुद्र रूप में और राधा नदी के रूप में आलम्बन विभाव हैं। श्रीकृष्ण धीरललित नायक हैं और राधा परकीया नायिका हैं। मधुररस में परकीया नायिका और धीरललित नायक ही उत्तम

आलम्बन माने गये हैं। राजा अभिमन्यु की पत्नी हैं इसकी भी पुष्टि उक्त श्लोक में धववृक्ष के रूप में हो रही है। इस आधार पर राधा को परोक्ष नायिका के रूप में तथा श्रीकृष्ण को उत्पत्ति के रूप में धीर ललित नायक माना जा सकता है। नदी, पर्वत, लहर तथा वृक्षादि इसमें उद्दीपन विभाव माने जा सकते हैं। राधा में नवीन रस की युक्तता भी उद्दीपन विभाव मानी जा सकती है। धर्म—बांध का अतिक्रमण करना राधा की प्रगल्भता का सूचक है, इसे अनुभाव माना जा सकता है। औत्सुक्त और आवेग इनमें व्यभिचारिभाव माने जा सकते हैं। राधा विषयिणी मधुरा रति ही इसमें स्थायी भाव है।

इस प्रकार यहां विभावादि द्वारा पुष्टि को प्राप्त हुई 'मधुरा रति' ही स्थायी भाव के रूप में सदाशय व्यक्तियों के हृदय में मधुर रस का संचार करती हुई परिलक्षित होती है।

विवेच्य नाट्यकृतियों में अन्यान्य रसों का सोदाहरण स्वरूप विवेचन

शान्त भक्तिरस

विभावादि के द्वारा शान्ति रूप स्थायिभाव शमवानों में आस्वाद का विषय होकर शान्त भक्तिरस के नाम से अभिहित होता है।[1] इस शान्तरस में योगियों का आत्मसाक्षात्कारात्मक : स्वसुख जातीय रूसुख घनत्व ही होता है किन्तु भगवद् साक्षात्कारमय अर्थात् ईशमय सुख घनत्वमय होता है।

शान्त भक्तिरस — विदग्ध माधव में, यथा —

यदवधि तदकस्मादेव विस्मायिताक्षं
जनतडिदभिरामं धाम साक्षाद्वभूव।
तदवधि चिरचिन्ताचक्र सक्ता विरक्तिं
मम मतिरुपभोगे योगिनीव प्रयाति।[2]

---

1. वक्ष्यमाणेर्विभावाद्यैः शामिनां स्वाधतांगतः
स्थायी शान्ति रतिधीरैः शान्ति भक्तिरसः स्मृतः।
भक्ति रसामृत सिन्धु प. वि. प्रथमा शान्तिभक्तिरस लहरी।
2. वि. मा. — रूपगोस्वामी, द्वितीय अङ्क, श्लोक 24

प्रस्तुत श्लोक में शान्तभक्तिरस माना जा सकता है। राधा के प्रति आकृष्ट हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब से अचानक नेत्रों को चकित कर देने वाले नवीन बिजली के समान उस राधा रूपी तेज को देखा है तब से अत्यधिक चिन्ता चक्र में आसक्त योगिनी की भांति मेरी बुद्धि उपभोग से विरक्त हो रही है।

श्रीकृष्ण के उक्त कथन में राधा को शान्त भक्तिरस का आलम्बन माना जा सकता है। विद्युत–कान्ति इसमें उद्दीपन विभाव है। नित्रों का विस्मित होना अनुभाव है। निर्वेद, चिन्ता आदि इसमें व्यभिचारिभाव है। राधा विषयिणी 'शान्तिरति' इसमें स्थायीभाव है। अतः यहां शान्ति भक्तिरस मान्य है।

प्रीति भक्तिरस

लक्षण

अपने अनुरूप विभावादि के द्वारा भक्तों के हृदय में आस्वाद योग्यता को प्राप्त हुई प्रीति ही 'प्रीति भक्तिरस' कहलाती है।[1]

आचार्य श्रीधर स्वामी ने रस प्रसङ्ग में प्रीतिभक्तिरस को ही स्पष्ट रूप से सप्रेम भक्ति नामक 'रसराज' : रसोत्तमः : कहा है।[2] यथा –

अहह कमल गन्धेरत्र सौन्दर्यवृन्दे
विनिहितनयनेयं त्वन्मुखेन्दोर्मुकुन्द।
कुचकलश मुखाभ्यामम्बरक्नोपमम्बा
तव मुहुरतिहर्षाद्वर्षति क्षीरधाराम्।।[3]

नन्द और यशोदा के परस्पर वार्तालाप में श्रीकृष्ण अपने विवाह की चर्चा सुनकर

---

1. आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिरास्वादनीयताम्।
नीता चेतसि भक्तानां प्रीति भक्तिरसौमतः।।
भ. र. सि. प्र. वि. द्वितीय प्रीतिभक्तिरस लहरी का. – 1
2. श्रीधरस्वामिभिः स्पष्टमयमेव रसोत्तमः।
रङ्गप्रसङ्गे सप्रेमभक्तिकास्यः प्रकीर्तितः।।
भ. र. सि. प्र. वि. द्वितीय प्रीतिभक्तिरस लहरी।
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, प्रथम अङ्क – श्लोक

मुस्कराते हैं तभी नन्द वात्सल्य भाव को संजोये हुए कहते हैं बेटा, देखो, देखो। कमल के समान गन्ध वाले तुम्हारे मुख रूपी चन्द्रमा के सौन्दर्य समूह में अपने नेत्र को एकटक लगाये तुम्हारी माता स्तन घट के अग्रभागों से वस्त्र को भिगोकर बार–बार हर्ष से दूध की धारा बरसाती हैं।[1]

प्रस्तुत उदाहरण में यशोदा और नन्द के हृदयङ्गत प्रीति के आलम्बन मुकुन्द श्रीकृष्ण आलम्बन हैं। श्रीकृष्ण का : मुस्कुराता हुआ : कमलवत् सुगन्धि से युक्त मुख रूपी चन्द्रमा इसमें उद्दीपन विभाव है। निर्मिमेष दृष्टि इसमें अनुभाव है। कृष्ण के प्रति हर्ष आदि इसमें व्यभिचारिभाव है।

इसमें नन्द का कृष्ण के प्रति पितृत्वभाव ही गौरव प्रीति भक्तिरस में स्थायीभाव के रूप में परिपुष्ट होकर गौरव प्रीति भक्तिरस की सृष्टि करता है।

प्रेयोभक्तिरस : सख्य भक्तिरस :

लक्षण

सख्य रूप स्थायिभाव अपने अनुरूप विभावादि के द्वारा सहृदयों के चित्त में पुष्टि को प्राप्त होकर प्रेयान् अथवा 'प्रेयोभक्ति रस' कहलाता है।[2] इस भक्तिरस में कृष्ण तथा उनके सखा आलम्बन विभाव माने गये हैं।

प्रेयोभक्तिरस के स्थायिभाव का लक्षण निरूपित करते हुये रूपगोस्वामी लिखते हैं कि भय का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर उस भय की गन्ध से भी रहित रति को 'प्रणय' स्थायिभाव कहते हैं। इसके भी प्रेम, स्नेह और राग तीन भेद किये गये हैं।

प्रीतिभक्तिरस तथा वत्सल भक्तिरस में कृष्ण तथा उनके भक्त दोनों के स्नेह की भिन्नता रहती है – एक जातीयता नहीं होती। इसलिये रसों में प्रेमोभक्ति रस ही सर्वप्रिय माना गया है। सख्यभाव पूर्ण हृदय वाले सहृदय ही उसका अनुभव कर सकते हैं।

---

1. विदग्धमाधवम्, प्रथम अङ्क – श्लोक 21, पृ. 23
2. स्थायीभावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह।
   नीतिश्चित्ते सती पुष्टिं रसप्रेयोमुदीर्यते।।
   भ. र. सि., प. वि. तृतीय प्रेयोभक्तिरस लहरी।

यथा –

बलानुज कलापिनामवकलय्य कालज्ञतां

मनः किल बलीयसीं मम विभर्ति विस्मेरताम्।

यदद्य शरदागमे तव विलोक्य लीलोत्कतां

किरन्ति रुचिमण्डलीजुषमयी शिखण्डावलीम्।।[1]

प्रस्तुत श्लोक में मधुमङ्गल श्रीकृष्ण से कहता है कि हे बलराम के छोटे भाई, मयूरों के समयज्ञापन की निपुणता को देखकर मेरा मन अत्यधिक विस्मित हो रहा है, क्योंकि आज शरद के आगमन पर तुम्हारी लीला करने की उत्सुकता देखकर ये मयूर शोभा समूह से युक्त पंखश्रेणी की विकीर्ण कर रहे हैं।

प्रस्तुत उद्धरण में श्रीकृष्ण और मधुमङ्गल प्रेयोभक्तिरस के आलम्बन विभाव माने जा सकते हैं। मयूर शोभा, शरदागमन इसमें उद्दीपन विभाव हैं। कृष्ण की लीला एवं मधुमङ्गल का विस्मित होना अनुभाव हैं। औत्सुक्त का होना व्यभिचारिभाव है।

यहां पर मधुमङ्गल का कृष्ण के प्रति मैत्रीभाव प्रकट होने के कारण प्रेयोभक्तिरस माना जा सकता है। बलानुज ! का सम्बोधन मधुमङ्गल की कृष्ण के प्रति मैत्री को स्पष्ट रूप से प्रकट कराता है।

वत्सल भक्तिरस

रूपगोस्वामी के अनुसार विभावादि के द्वारा पुष्टि को प्राप्त हुआ वात्सल्य रूप स्थायिभाव 'वत्सल भक्तिरस' होता है। इसे विद्वज्जन वत्सल भक्तिरस न कहकर केवल वात्सल्य रस कहते हैं।[2]

इस वत्सल भक्तिरस में कृष्ण और उनके गुरूजन आलम्बन विभाव होते हैं। इसमें श्रीकृष्ण मधुरभाषी, सरल प्रकृति, लज्जाशील, विनयी, पूज्य जनों का आदरण करने

---

1. विदग्धमाधवम्, षष्ठ अङ्क – श्लोक 23
2. विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिभुपागतः।
   एष वत्सलतामात्रः प्रोक्तो भक्तिरसो पुपैः।।
   भ. र. सि., प. वि. चतुर्थी वत्सल भक्तिरस लहरी।

वाले कहे गये हैं। कृष्ण के गुरूजनों में यशोदा, नन्द, रोहिणी आदि मुख्य माने गये हैं। विवेच्य नाट्यकृतियों में पौर्णमासी और वृन्दा भी गुरूजनों की श्रेणी में मानी जा सकती हैं। भारुण्डा, मुखरा, जटिला और कराला इत्यादि वृद्धाएं भी गुरुजनों की कोटि में उल्लेखनीय हैं।

रौद्र भक्तिरस

'क्रोधरति' भक्त के हृदय में यह रौद्र भक्तिरस बन जाती है। इस रौद्र भक्तिरस में कृष्ण, कृष्ण के मित्र तथा कृष्ण के शत्रु तीनों क्रोध के आलम्बन होते है।

विदग्धमाधव में कृष्ण के द्वारा सखी का महान् अनिष्ट होने पर ललिता श्रीकृष्ण के प्रति क्रुद्ध होती हुई कहती है –

अन्तःक्लेशकलङ्किताः किल वयं यामोऽद्य याम्यां पुरीं
नायं वञ्चनसंचयप्रणयिनं हासं तथाप्युज्झति।
अस्मिन्सम्पुटिते गभीर कपटैराभीरपल्लीविटे
हा मेधाविनि राधिके तव कथं प्रेमा गरीयानभूत्।।[1]

प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण और ललिता : राधा और सखी : रौद्र क्रोध भक्तिरस के आलम्बन विभाव हैं। कृष्ण की छलपूर्ण हंसी और उनकी कामुकता इसमें उद्दीपन विभाव है। ब्रजललनाओं का अतिशय अनुराग इसमें अनुभाव है। यमपुरी में प्रस्थान 'मृति' नामक व्यभिचारिभाव माना जा सकता है। सखी गत क्रोध रति इसमें स्थायीभाव है।

विदग्धमाधव में ही मुखरा द्वारा कृष्ण के प्रति रोष पूर्ण रौद्र भक्तिरस उद्धरणीय है।

नवीनाग्रे नप्त्री चटुलनहि धर्मात्तव भयं
न मे दृष्टिर्मध्येदिनमपि जरत्या पटुरियम्।
आलिन्दात्वं नन्दात्मज न यदि रे यासि तरसा
ततोऽहं निर्दोषा पथि कियति हंहो मधुपुरी।।[2]

1. विदग्धमाधव – द्वितीय अङ्क – श्लोक – 37
2. विदग्धमाधव – चतुर्थ अङ्क – श्लोक – 50

यहां नन्दात्मज श्रीकृष्ण आलम्बन विभाव हैं। वृद्धा मुखरा आश्रय है। श्रीकृष्ण की चपलता उद्दीपन विभाव है। 'भय' इसमें अनुभाव भाव है। 'क्रोध–रति' स्थायीभाव है, अतः यहां 'रौद्र भक्तिरस' मान्य है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि रूपगोस्वामी ने रस सिद्धान्त एवं उनके निरूपण के सन्दर्भ में समस्त पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यता को आत्मसात किया है तथापि उनका उक्त प्रतिपादन विलक्षण ही प्रतीत होता है। उन्होंने सर्वत्र कृष्ण विषयक भक्ति को ही वरीयता प्रदान की है और इस कार्य में महत्वपूर्ण प्रतिष्ठा भी अर्जित की है। उनके सिद्धान्त मात्र सिद्धान्त तक ही सीमित नहीं रहे अपितु विभिन्न उद्धरणों द्वारा वे परिपुष्टि भी हुये हैं जो पूर्णतया यथार्थ और तर्कसंगत होते हुये साहित्य–संसार में एक नूतन रसधारा को प्रभाहित कर रहे हैं। रूपगोस्वामी यद्यपि मधुररस के पोषक हैं तथापि उन्होंने अन्यान्य रसों का भी यथावसर प्रयोग किया है जिनके कुछ महत्वपूर्ण उद्धरण यहां प्रस्तुत किये गये हैं।

षष्ठम् अध्याय

- 'विदग्धमाधवम्' नाटक का सांस्कृतिक तथा साहित्यिक महत्व
- 'विदग्धमाधवम्' में विद्यमान एतद् विषयक आख्यानों में श्री रूपगोस्वामी व्यास की मौलिकता तथा नाट्य साहित्य की देन का मूल्याङ्कन

षष्ठ अध्याय

(i) रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों का सांस्कृतिक एवं साहित्यिक मूल्याङ्कन

प्रणयभावना के कवि रूपगोस्वामी

'प्रेम' प्राणि जगत की ऐसी सहजात प्रवृत्ति है जिसकी अभिव्यक्ति दो सहृदय प्रेमियों के परस्पर दर्शन, श्रवण एवं आकर्षण से होती है। इसके उद्भव एवं विकास की परम्परा वैदिक काल से ही मानी जाती है। वैदिक काल में 'प्रेम' शब्द का स्पष्ट रूप से पृथक् प्रयोग तो नहीं मिलता किन्तु कुछ प्रेमी युग्म के उल्लेखों के आधार पर 'प्रेम' की पूर्ण सम्भावना की जा सकती है।

वैदिक वाङ्मय के कुछ प्रसङ्गों में प्रेम पात्रों का उल्लेख किया गया है जैसे – दाम्पत्य प्रेम के लिए चकवाक्–चक्रवाकी के युग्म का उदाहरण देना[1], प्रणयी श्यावाश्य अत्रेय द्वारा अपनी प्रणयिनी के लिये कठोर तपश्चर्या करना[2], यमी का अपने भ्राता यम के लिए काम पीड़ित होना[3], पुरुरवा द्वारा उर्वशी पर अनुरक्त होना[4] आदि प्रेम प्रसंगों का वर्णन उल्लेखनीय है किन्तु इतना होते हुये भी 'प्रेम' शब्द का स्पष्ट प्रयोग अनुपलब्ध है।

इन्हीं प्रसङ्गों में प्रिय, प्रिया, प्रेम या प्रेष्ठ शब्दों के प्रयोग भी उपलब्ध हुए हैं। सूक्तिसुधाकर में प्रेम, प्रेमी और प्रेम पात्र इन तीनों को एक ही रूप में स्वीकार किया गया है।[5]

वैदिक वाङ्मय में प्रेम के पर्याय रूप में 'काम' शब्द के प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि एक ओर 'काम' शब्द से जहां सृष्टि संकल्प रूपी परमतत्व का बोध होता है वहां दूसरी ओर उससे कामजनोचित अभिलाषा की प्रतीति भी होती है।[6]

---

1. अथर्ववेद – का. – 14, सूत्र – 2, मं. 64
2. श्रौत सूत्र – 16 – 11 – 9
3. ऋग्वेद – 10 – 10
4. ऋग्वेद – 10 – 95 और 5 – 41 – 19

मधुररस स्वरूप और विकास – डा. रामस्वार्थ चौधरी से उद्घृत – पृ. 268–269, भाग–1

5. त्रिधाप्येकं सदागम्यं गम्यमेक प्रभेदने।
   प्रेम प्रेमी प्रेम पात्रं त्रितयं प्रणतो स्मयहम्।
   सूक्ति सुधाकर – पृ. 210 प्रका. गीता प्रेस, गोरखपुर
6. मधुररस स्वरूप और विकास – डा. रामस्वार्थ चौधरी, भाग 1 से उद्घृत। 5–61–7 : ऋ.

पं. परशुराम चतुर्वेदी के मत में तत्कालीन परिवेश में ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रेम' के अर्थ में 'काम' शब्द का प्रयोग होता था जो कामना का आशय प्रकट करता था।[1]

'प्रेम' शब्द का स्पष्ट प्रयोग श्रीमद्भागवत् आदि पौराणिक ग्रन्थों में देखने को मिलता है। नारद, शाण्डिल्य आदि भक्ति शास्त्र के आचार्यों ने भक्ति को 'प्रेम लक्षणा' प्रतिपादित करते हुये प्रेम को भक्ति का अभिन्न अङ्ग माना है। नारद भक्ति सूत्र में 'प्रेम' को मूकास्वादनवत्, गुणरहित, कामनाश्रित, प्रतिक्षणवर्धमान, अविच्छिन्न, सूक्ष्मतर एवं अनुभव रूप बतलाया गया है। इसे प्राप्त करने के लिये इच्छुक व्यक्ति प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिन्तन करता है।[2]

नारद भक्ति सूत्र में यह भी कहा गया है कि भगवान के प्रति अपने सभी कर्मों का सर्वात्म समर्पण कर देना तथा रंचमात्र भी उनके विस्मरण से परम व्याकुलता का अनुभव करना भक्ति साधना का अनिवार्य अङ्ग है।[3]

'प्रेम' भाव की चरमपरिणति मध्यकालीन साधना में देखी जा सकती है जहां प्रेमी साधक प्रेम में प्रेम स्वरूप परमात्मा परब्रह्म के माधुर्य स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त कर गौरवान्वित होता हुआ स्पष्ट उद्घोषणा करता है कि 'प्रमा पुमार्थों–महान्'। अर्थात् प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, मोक्ष नहीं। इतना ही नहीं यह दृढ़ विश्वास है कि 'ब्रह्म को ज्ञानमय समझने वाले उसके एक लघु अंश को ही जान पाते हैं, पर उसे प्रेममय समझने वाले उसके सम्पूर्ण रूप को जानते हैं।[4]

---

1. मध्यकालीन प्रेम साधना – पं. परशुराम चतुर्वेदी
2. अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपम्। मूकास्वादनवत्। प्रकाशते क्वापि पात्रे।
   गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।
   तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव श्रृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति।
   : नारद भक्ति सूत्र – 51 से 55 सूत्र :
3. 'तदर्पिताखिलाचरिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलता' : वही सूत्र–19 :
4. विदन्ति तत्वत्वाविदस्तत्वं यजज्ञानमद्वयम्।
   ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शव्दयते।।
   : श्रीमद्भागवत् 1 – 2 – 11 : मधुररस स्वरूप और विकास से उदधृत

प्रेम की उत्पत्ति

'प्रेम' शब्द का लक्षण निरूपित करते हुये सूक्तिसुधाकर में कहा गया है कि दर्शन करने या स्पर्श करने, सुनते समय या बोलते समय ह्रदय का द्रवित होना 'प्रेम' कहलाता है।[1]

सूक्तिसुधाकर में ही प्रेम की उत्पत्ति के सन्दर्भ में कहा गया है कि पहले श्रद्धा होती है फिर सङ्ग अर्थात् मित्रता होती है। तदुपरान्त भजन, उससे अमङ्गल की निवृत्ति, तदनन्तर निष्ठा और उससे रूचि होती है। रूचि से आसक्ति, उससे भाव और तदनन्तर प्रेम का प्रादुर्भाव होता है।[2]

यही प्रेम जब अपने प्रिय के प्रति स्वभावतः पूर्ण आवेश एवं तन्मयतायुक्त होकर भक्ति रूप में परिणत होता है तो वह 'रागात्मिका भक्ति' के नाम से अभिहित होता है। इस रागात्मिका भक्ति में क्षमा, निरर्थक समयापन न करना, वैराग्य, मानशून्यता, आशाभरी उत्कण्ठा, निरन्तर नाम सङ्कीर्तन में प्रेम, प्रियतम के गुणों की चर्चा में आसक्ति तथा भगवान् के निवास स्थानों में प्रीति इत्यादि अनुभाव, जिस पुरुष में भाव का अङ्कुर स्फुटित होता है, उसमें होते हैं। इसी प्रकार स्तब्ध हो जाना, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, कम्प, विवर्णता, अश्रुपात और सुध–बुध भूल जाना ये आठ सात्विक भाव भी स्वीकार किये गये हैं।

रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में रागात्मिका भक्ति का पूर्ण निरूपण किया गया है। प्रेम शब्द का विस्तार अनेक अर्थों में देखने को मिलता है। पौरस्त्य एवं पाश्चात्य कोश ग्रन्थों में प्रेम के भौतिक रूपों के साथ–साथ आध्यात्मिक रूपों पर भी प्रकाश डाला गया है। इन्होंने प्रेम की स्थूल इन्द्रियों तक ही सीमित न कर मन के सूक्ष्म और उदात्त भाव जगत के विषय के रूप में स्वीकार किया गया है 'प्रैमाना प्रियता होई प्रेम स्नेहोऽथ दोहदम्' ।[3]

---

1. दर्शने स्पर्शने चापि श्रवणे भाषणेऽपि वा
   ह्रदयस्य द्रवत्वं यत्तत्प्रेम इति कथ्यते।।
   सूक्ति सुधाकर, प्रका. – गीता प्रेस, गोरखपुर
2. सूक्ति सुधाकर – प्रेम सूक्ति – श्लोक – 61–62
3. अमरकोश – प्रथम खण्ड

रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार – प्रेम हमारे चतुर्दिक व्याप्त प्रत्येक वस्तु और व्यापार का चरम निष्कर्ष है। यह एक भावना मात्र नहीं है। यह सत्य है। यह आनन्द रूप है, जो सभी सृष्टियों के मूल में हैं। यह ब्रह्म से निःसृत विशुद्ध चेतना का उज्जवल प्रकाश है। प्रेम के रूप में अपनी चेतना के ऊर्ध्वमुखी विकास का तथा उसे निखिल सृष्टि के ऊपर प्रसारित करने से ही हम ब्रह्म–बिहार कर सकते हैं तथा असीम परमानन्द का सान्निध्य प्राप्त कर सकते हैं। केवल प्रेम रहित व्यक्ति ही अपने प्रेमास्पद के प्रेमोपहारों का उनकी उपयोगिता के रूप में मूल्यांकन करते हैं, किन्तु उपयोगिता, क्षणिक एवं अपूर्ण होती है। यह हमारे सम्पूर्ण रूप को कभी नहीं ग्रहण कर सकती है।(1)

स्वामी अभेदानन्द के अनुसार 'प्रेम' वह आकर्षण शक्ति है जो सभी प्राणियों में पाई जाती है। भौतिक स्तर पर इसी शक्ति को 'गुरुत्वाकर्षण' कहते हैं तथा आत्मतत्व के स्तर पर इसी को 'प्रेम' की संज्ञा दी जाती है। मानवीय प्रेम के अन्तर्गत वैयक्तिक सुखोपभोग की कामना प्रधान रहती है किन्तु ईश्वरीय प्रेम सर्वथा निष्काम एवं विश्वास रूप होता है। इस प्रकार प्रेम मूलतः आध्यात्मिक है।(2)

चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायी भक्तों के मत में रागानुगा भक्ति ही 'प्रेम' की चरमपरिणति है। भक्ति के इस रागानुगा रूप को सर्वाधिक प्रश्रय प्रदान कर प्रेम को पञ्चम पुरुषार्थ माना गया है और श्रीमद्भागवत् में वर्णित 'गोपीभाव' को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। रूपगोस्वामी ने मधुररस को भक्तिरस का मुख्य अङ्ग मानकर इसके आधार रूचि में प्रेम को ही प्रतिष्ठित किया है। 'प्रेम' की परिभाषा करते हुये उन्होंने लिखा है कि 'जिस भाव द्वारा हमारी अन्तरात्मा स्निग्ध, कोमल एवं निर्मल हो तथा जो ममत्वातिशयांकित हो, उसी प्रगाढ़रूप को विद्वत्गण 'प्रेम' की संज्ञा प्रदान करते हैं।(3)

---

1. : साधना–टैगोर : मधुर रस : स्वरूप और विकास – डा. रामस्वार्थ चौधरी से उद्घृत।
2. मधुररस : स्वरूप और विकास – पृ. 270 से उद्घृत।
   : ह्यूमन एक्सेसन एण्ड डिवाइन लव – स्वामी अभेदानन्द, पृ. 7–35 :
3. सम्यङ्मसृणतस्वान्तो ममत्वातिशयांकितः।
   भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगधते।।
   भ. उ. सि. – : मधुररस स्वरूप और विकास में उद्घृत

चैतन्य चरितामृतम् में कृष्णदास कविराज ने लिखा है कि साधन भक्ति के अभ्यास द्वारा रति अथवा अनुराग का भावोदय होता है, जो प्रगाढ़ हो जाने पर 'प्रेम' नाम से अभिहित होता है।[1]

प्रेम के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए रूपगोस्वामी ने लिखा है कि विनाश का कारण उपस्थित होने पर भी जिसका नाश नहीं होता ऐसा व्यक्ति–द्वय का भाव बन्धन प्रेम कहलाता है। यह प्रेम तीन प्रकार का होता है – प्रौढ़, मध्य और मन्द। विलम्ब आदि के कारण जहां दो व्यक्तियों में अज्ञात चिन्ता से अर्थात् 'हमारे विरह में हमारे प्रिय की क्या दशा होगी। यह सोचकर अत्यधिक क्लेश होता है वहां प्रेम की प्रौढ़ दशा होती है।[2] इसका अभिप्राय यह है कि जहां भक्त कृष्ण के विरह में अत्यधिक विह्वल हो जाता है वहां प्रेम का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रकट होता है। इस स्थिति में कृष्ण के प्रति भक्त के हृदय में इतनी तीव्र ममता जागृत हो जाती है कि भक्त अपने वेद–धर्म, कुल–धर्म और आर्य पथ का भी त्याग कर देता है। ब्रज की गोपियां इस प्रकार के प्रेम की उदाहरण मानी जा सकती हैं। राधा–कृष्ण का प्रेम प्रौढ़ प्रेम की ही पुष्टि करता है। जिस प्रेम में विरह की सहनशीलता लक्षित होती है वह मध्यम प्रेम होता है और जहां विरह की अनुभूति ही न हो वह मन्द प्रेम कहलाता है।[3]

रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में प्रेम की पराकाष्ठा प्रतिपादित करने के लिये यथासम्भव प्रयास किये गये हैं। रूपगोस्वामी ने प्रेम की छः अवस्थाओं स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव को क्रमशः इक्षु बीज, रस, गुड़, खांड, शर्करा और सितोपला के समान निरन्तर श्रीवृद्धि को प्राप्त करने वाला बतलाया है।[4]

प्रेम की वृत्तियां

प्रेम जगत में प्रेम की सामान्य रूप से तीन कोटियां स्वीकार की गई हैं। 1. श्रद्धा

---

1. साधन भक्ति हइते हय रतिरउदय
   रति गाढ़ हइले तारे प्रेम नामेकय। : चैतन्य चरितामृतम् :
2. उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी – स्थायिभावप्रकरण – पृ. 418, का. 57, 60
3. उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी – स्थायिभावप्रकरण – का. 60, 62, 64
4. उज्जवलनीलमणि – रूपगोस्वामी – स्थायिभावप्रकरण – का. 60, 53, 54

2. प्रणय 3. वात्सल्य। इनमें देवता, ऋषि एवं अन्य गुरुजनों के प्रति लघु जनों द्वारा की जाने वाली प्रीति को श्रद्धा या भक्ति कहते हैं। समवयस्क मित्रों या प्रेमी–प्रेमिका की पारस्परिक प्रीति को 'प्रणय' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। पुत्रादि या अन्य स्नेह–पात्रों के प्रति गुरुजनों द्वारा की जाने वाली प्रीति को वात्सल्य कहा गया है। प्रेम की इन तीनों श्रेणियों में समवयस्क प्रेमी–प्रेमिका की प्रणय लीला सर्वाधिक व्यापक और प्रभावशाली मानी गयी है क्योंकि इसी कोटि में सम्भ्रमरहित पूर्ण तादात्म्य भाव की मधुर अनुभूति होती है तथा शारीरिक और मानसिक सम्बन्धों का सहज और पूर्ण विकास होता है।[1] इसी को दाम्पत्य भाव का प्रेम माना गया है और दाम्पत्य भावपरक माधुर्य भाव ही मानवीय प्रेम का उदात्त एवं विकसित रूप है।

प्रेम वृत्ति की उक्त श्रेणियों के समुचित संचालन में मानवीय युग्म अर्थात् द्वैत भाव की कल्पना आवश्यक मानी गयी है जैसे उपास्य और उपासक, स्वामी और सेवक, प्रेमी और प्रेमिका, सखा और सखा इत्यादि।

प्रेम वृत्तियों की समस्त कोटियों में ईश्वरीय प्रेम को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है और उसे ही प्रेम रूपों के विकास की पराकाष्ठा कहा गया है। ईश्वरीय प्रेम की सर्वाधिक तीव्रानुभूति तथा सम्यक् अभिव्यक्ति सेव्य–सेवक भाव, सख्य भाव और वात्सल्य भाव की अपेक्षा कान्ताभाव में ही सम्भव होती है। कान्ताभाव के अर्न्तगत भक्त अपने को प्रिया तथा भगवान को अपना प्रियतम मानकर उपासना करता है। तथा उसके सभी संयोग–वियोग जन्य अन्तर्दशाओं की अनुभूति करता है जिन्हें लौकिक नायिका अपने नायक के मिलन विरह में अनुभव करती है। कान्ता भाव की दशा में प्रिय से मधुर मिलन की तीव्र आकाङ्क्षा होती है। इस भाव दशा में प्रेमी अपनी प्रेयसी के लिये अथवा प्रेयसी अपने प्रेमी के लिये अपने व्यक्तित्व का सर्वांश समर्पित करने के लिये सदैव तत्पर रहते हैं और इसी सर्वात्म समर्पण में ही उन्हें अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है।

रूपगोस्वामी की प्रवृत्ति, प्रणय–वृत्ति को ही स्वीकार करती है। वह कान्ताभाव को ही अपनाकर स्वयं को राधा रूप में प्रस्तुत कर कालिन्दीकूल पर अपने प्राण–पियारे

1. हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह – पं. परशुराम चतुर्वेदी – पृ. 53, 57

श्रीकृष्ण के साथ पुलिन में विहार करने की स्पृहा करते हैं।[1]

रूपगोस्वामी की नाट्य कृतियों में श्रद्धा, प्रणय और वात्सल्य तीनों प्रकार की प्रेम–वृत्तियों का निरूपण किया गया है। नान्दीपाठ में भगवान श्रीकृष्ण की वन्दना करने के पश्चात् रूपगोस्वामी द्वारा गुरू रूप में अपने अग्रज सनातन की भी प्रार्थना प्रस्तुत की गयी है। रूपगोस्वामी राधा–कृष्ण के परस्पर प्रणय के पुजारी है उनकी प्रणय लीलाओं का प्रतिपादन ही उनकी नाट्यरचना का अभीष्ट प्रयोजन है। विवेच्य नाट्यकृतियों में यशोदा, नन्द, पौर्णमासी, वृन्दा इत्यादि राधा–कृष्ण के गुरूजन रूप में प्रस्तुत किये हैं। उन सबका राधा–कृष्ण के प्रति वात्सल्य भाव, प्रेम–वृत्ति की तीसरी कोटि का उदाहरण माना जा सकता है। रूपगोस्वामी ने सख्य एवं दास्य भाव के प्रेम को भी स्वीकार किया है। राधा का अपनी सखियों एवं कृष्ण का अपने सखाओं के प्रति होने वाला प्रेम सख्यभाव के प्रेम का प्रकाशन करता है। यही सखी एवं सखागण कभी–कभी दास्य रूप में भी परिलक्षित होते हैं। विवेच्य नाट्यकृतियों में राधा और कृष्ण का प्रेम पूर्णतया स्वाभाविक माना जा सकता है। इसी स्वाभाविक प्रेम के कारण ही श्रीकृष्ण राधा में किसी अपूर्व महिमा का उत्कर्ष देखते हुये मधुमङ्गल से कहते हैं –

यत्र प्रकृत्या रतिरुत्तमानां तत्रानुमेयः परमो नुभावः।

नैसर्गिकी कृष्णमृगानुवृत्तिदैशस्थ हि ज्ञापयति प्रशस्तिम्।।[2]

इससे स्पष्ट होता है कि जैसे कृष्ण मृग का स्वाभाविक संसार उस स्थान की प्रशस्ति का सूचक होता है वैसे ही उत्तम पुरुषों की किसी के प्रति स्वाभाविक अनुराग की प्रवृत्ति उस व्यक्ति के महत्व की ज्ञापिका होती है। यही कारण है कि श्रीकृष्ण राधा में उसके गुणोत्कर्ष के कारण प्रेम करते हैं। स्वाभाविक प्रेम वस्तुतः निरूपाधिक होता है।

---

1. प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्र मिलित
   स्तथाहं सा राधा तदिदमुभयोः सङ्गम सुखम्
   तथाप्यन्तः खेलन् मधुर मुरली पञ्चमजुषे
   मनो मे कालिन्दी पुलिन विपिनाय स्पृहयति।।
   पद्यावली – रूपगोस्वामी
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – द्वितीय अङ्क – श्लोक – 32

विदग्धमाधव में पौर्णमासी राधा के प्रति अपने स्नेह को व्यक्त करती हुई स्वाभाविक स्नेह की पुष्टि करती है।[1] प्रेमोदय में बाह्य कारण की अनावश्यकता का समर्थन करती हुई 'वृन्दा' भी अपना विचार प्रकट करती हुई कहती है कि अगस्त नक्षत्र के प्रति खंजन पक्षी का स्वाभाविक अनुराग होता है क्योंकि अगस्त नक्षत्र के उदित होने पर ही खञ्जन पंक्ति सुशोभित होती है किन्तु उसके अस्त हो जाने पर वह खञ्जन पंक्ति भी छिप जाती है।

स्वाभाविक प्रेम कैसा होता है। इस सन्दर्भ में मधुमंगल के प्रश्न का उत्तर देती हुई पौर्णमासी बताती है कि जिस प्रेम में प्रशंसा, तटस्थता को प्रकट करती हुई चित्त की व्यथा को धारण करती है, निन्दा भी परिहास की शोभा ग्रहण करती हुई आनन्द प्रदान करती है अर्थात् जहां स्तुति और निन्दा पर ध्यान नहीं दिया जाता, दोष से क्षीणता और गुण से गुरुता को किसी प्रकार से विस्तार नहीं किया जाता वहां स्वाभाविक प्रेम की प्रक्रिया क्रीडा करती है।

यहां सौपाधिक और स्वाभाविक प्रेम में अन्तर भी देखा जा सकता है। स्वाभाविक प्रेम में स्तुति और निन्दा को आश्रय नहीं मिलता, उसमें दोष और गुण की बिना अपेक्षा किये ही प्रेम का परस्पर निर्वाह होता है। दोष के कारण क्षीणता अथवा गुण के कारण उसमें गुरुता नहीं होती है। इसके विपरीत सौपाधिक प्रेम में दोष है क्षीणता और गुण से गुरुता आती है। दोनों में यही अन्तर है।[2]

विवेच्य नाट्यकृतियों में राधा–कृष्ण के प्रेम को स्वाभाविक प्रेम ही माना जा सकता है जो प्रेम की चरमपरिणति महाभाव में स्थित होकर मादनभाव को पुष्ट करता है।

इस प्रकार रूपगोस्वामी ने राधाकृष्ण के युगल प्रेम की जो सरस सरिता प्रवाहित की उसके प्रबल प्रवाह में प्लवन करता हुआ दो प्रेमियों का स्नेहिल चित्त न केवल द्रवीभूत हुआ अपितु परस्पर एकाकार की स्थिति प्राप्त कर प्रेम जगत में 'प्रेम' की साक्षात् मूर्ति बनकर स्थापित हुआ। रूपगोस्वामी प्रणयभावना के कुशल चितेरे हैं जिन्होंने प्रेम के अन्तरङ्ग में प्रवेश कर उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्य को भी भली–भांति झांकने का अनुपम

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – पृ. 199
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी, पञ्चम अङ्क, श्लोक 3, 4

प्रयास किया। राधा–कृष्ण के परस्पर प्रच्छन्नं अनुराग को प्रकाशित करने में उन्होंने अपनी प्रतिभा का पूर्ण रूप से उपयोग किया है।

आलोच्य नाट्यकृतियों में राधा और कृष्ण एक दूसरे के प्रणयालम्बन हैं। दोनों के परस्पर प्रेम को जागृत करने के लिये सर्वप्रथम गुरुनाम कीर्तन श्रवण का अवलम्बन किया गया है। श्रीकृष्ण राधा का नाम और उसकी सौन्दर्य चर्चा माताओं के मुख से सुनकर आकृष्ट होते हैं और राधा भी 'कृष्ण' नाम की महिमा सुनकर उनके मधुर मुरली की ध्वनि से आकृष्ट होती है। यह प्रेम प्रासाद का पहला सोपान है जिनमें दोनों प्रेमियों को आरूढ़ कराने का प्रयास किया गया है। इन दोनों प्रेमियों के प्रेम को प्रवृद्ध करने के लिये रूपगोस्वामी ने पौर्णमासी को मध्यस्थ बनाकर दोनों पक्षों की ओर से दूत और दूतियों का यथावसर सहारा लिया है। वे प्रायः दोनों प्रेमियों को परस्पर मिलाने का प्रयास करते हैं।

रूपगोस्वामी दोनों प्रेमियों में प्रेम का बीजारोपण कराके दोनों को एक दूसरे के प्रति इतना आसक्त बना देते हैं कि वे एक दूसरे को देखने के लिये सदैव बेचेन रहते हैं। रूपगोस्वामी ने इस सन्दर्भ में 'चित्रफलक' की योजना करके राधा के समक्ष श्रीकृष्ण का 'चित्रफलक' प्रस्तुत कराया है जिसे देखकर राधाकृष्ण का साक्षात् दर्शन प्राप्त करने के लिये उतावली होती है। 'चित्रफलक' दर्शन कराने के बाद रूपगोस्वामी ने 'मन्मथ लेख' की योजना की है जिसे सर्वप्रथम प्रेमिका की ओर से प्रेमी के साथ सम्प्रेषित करने का सुयोग स्थापित कर 'आदौ वाच्यः स्त्रियो रागः' की पुष्टि करायी है। बाद में नायक की ओर से भी 'प्रणयपत्र' प्रेषित किया गया है।

प्रेमी और प्रेमिका को परस्पर आसक्त देखकर रूपगोस्वामी ने उनकी प्रेम परीक्षा का भी प्रबन्ध किया है जो प्रेम जगत का एक आवश्यक अङ्ग माना जा सकता है। इस कार्य में दोनों पक्षों के सहयोगी पात्रों द्वारा समुचित उपाय किया गया है। प्रेमी और प्रेमिका में एक दूसरे के प्रति उपेक्षा भाव प्रदर्शित कराके दोनों के प्रणय प्रकर्ष की परीक्षा ली गयी है। प्रेमी यदि प्रेमिका का वियोग सुनकर मूर्छित होता है तो प्रेमिका प्रेमी के विरह में तमालतरु की शाखा में लिपटकर अपना प्राणान्त करने के लिये तत्पर होती है। यही प्रेम की वास्तविक चरमपरिणति है जब प्रेमी और प्रेमिका एक दूसरे के बिना जीवित रहना भी

असम्भव लगते हैं। इसे ही प्रेम जगत में 'महाभाव' की पराकाष्ठा कह सकते हैं।

विवेच्य नाट्यकृतियों में राधा और कृष्ण के परकीया प्रेम को प्रदर्शित कराके नाटककार रूपगोस्वामी ने प्रेमी और प्रेमिका के परस्पर मिलन में बहुवार्यमानता, प्रच्छन्नकामुकता और परस्पर दुर्लभता जैसे व्यवधानों का भी यथासम्भव निर्वाह किया है। राधा अपनी सास जटिला और पति अभिमन्यु के संरक्षण में संरक्षित होकर अपने प्रेमी कृष्ण से मिलने में बराबर बाधित होती है। एक नायक के बीच दो नायिकाओं को समुपस्थित कराके नाटककार ने प्रेम के विस्तार में चार चांद लगाया है। दो परस्पर प्रेमियों के मध्य में किसी तीसरे का कूद पड़ना 'प्रेम' की पुष्टि कराने में आवश्यक अङ्क माना जा सकता है। इसीलिए रूपगोस्वामी ने राधा–कृष्ण के परस्पर प्रेम में चन्द्रावली को लाकर प्रेम की प्रगाढ़ता प्रदर्शित करने का उपाय किया है। 'मान' जैसी प्रेमिका की प्रक्रिया को सम्पन्न कराने में किसी अन्य नायिका का होना एक अनिवार्य उपयोगिता है। रूपगोस्वामी ने इसका भी पालन किया है।

प्रेम जगत की वास्तविक पृष्ठभूमि पर प्रेमी और प्रेमिका एक दूसरे से मिलने के लिये सदैव उत्कण्ठित रहते हैं। सङ्केत स्थल पर थोड़ा भी विलम्ब देखकर वे अन्यथा ही सोचने लगते हैं और 'स्नेहः पापमाशङ्कते' की सार्थकता सिद्ध करते हैं। रूपगोस्वामी ने विदग्धमाधव नाटक में इसका भी ध्यान रखा है। प्रेम के प्रबल प्रवाह में 'विरहानुभूति' को रूपगोस्वामी ने अत्यन्त आवश्यक कहा है – न बिना विप्रलम्भेन – सम्भोगः पुष्टिमश्नुते'। यही कारण है कि वे राधा–कृष्ण को परस्पर एक दूसरे से वियुक्त कराके उनके प्रेम को और अधिक तीव्रतर बनाते हैं। ललितमाधव नाटक में कृष्ण के मथुरा चले जाने पर राधा की विरहावस्था तृतीय अङ्क में पराकाष्ठा को प्राप्त होकर अत्यन्त असह्य और प्राणलेवा सिद्ध होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रूपगोस्वामी ने प्रेम के प्रत्येक कोने को बड़ी गहराई से झांकने का अप्रतिम प्रयास किया है। प्रेम में अपेक्षित सभी अवयवों को ढूढ़–ढूढ़कर उन्होंने अपनी नाट्यकृतियों में, राधा–कृष्ण के प्रेम में पिरोने का प्रयास किया है। प्रेम के छहों अङ्कों : स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव : को बड़ी कुशलता के साथ

अपनी नाट्यकृतियों में विकसित कराने की पूर्ण सफलता उन्होंने प्राप्त की है। इससे रूपगोस्वामी प्रणय भावना के कवि के रूप में समूचे साहित्य संसार में सम्मानित किये जा सकते हैं।

विवेच्य नाट्यकृतियों में चित्रित व्यक्ति और समाज

विवेच्य नाट्यकृतियों में यद्यपि पौराणिक परम्परा का परिशीलन करते हुये राधा कृष्ण के परस्पर प्रणय सम्बन्ध को प्रतिपादित किया गया है तथापि नाटककार ने राधा कृष्ण को लौकिक धरातल पर अवतीर्ण कराके तद्युगीन पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी के सामाजिक चित्र को प्रदर्शित करने का पूर्ण प्रयास किया है। इस्लामी धर्म के प्रभाव में जहां हिन्दू धर्म पतनोन्मुख हो रहा था वहीं गौराङ्ग महाप्रभु चैतन्य के रूप में राधा कृष्ण का समवेत स्वरूप अवतरित हुआ जिसने समूचे सनातन धर्म को एक बार पुनः झकझोरने का दावा किया।

यह वह समय था जब लोग विलासिता के वातावरण में सुरा और सुन्दरी में मस्त होकर अपना जीवन यापन कर रहे थे। दरबारी जीवन पूर्णतया नारी विलास से सम्पृवत था। वासना के प्रेम जाल में फंसे हुए उस समाज के लिये एक ऐसे प्रेम मार्ग की आवश्यकता थी जिसकी प्रेरणा प्राप्त कर वह प्रेम के वास्तविक प्रेम को पहचान सके और उस पर प्रस्थान करे। ऐसे ही प्रेम–पन्थ पर प्रस्थान करने के लिये राधा और कृष्ण इन दो युगल प्रेमियों को माध्यम बनाकर प्रेम का वास्तविक परिचय कराया गया। विवेच्य नाट्यकृतियों में बहुनारीत्व और परकीया प्रेम की धारणा उसी युग की देन है जिसे रूपगोस्वामी ने अपनी नाट्यकृतियों में अपनाकर समाज के सम्मुख यथार्थता का अभिज्ञान कराया।

विवेच्य नाट्यकृतियों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पूर्णतया परम्परानुवर्ती थी। तद्युगीन समाज के विविध आयामों पर संक्षिप्त अवलोकन कर लेना समीचीन है।

वर्ण व्यवस्था

विवेच्य नाट्यकृतियों में चारों प्रकार के वर्णों का वर्णन दृष्टिगत होता है। श्रीकृष्ण और मधुमङ्गल दोनों ब्राह्मण वेष में प्रस्तुत हुए हैं। ललितमाधव नाटक में राधा की सूर्योपासना कराते हुए उन दोनों का ब्राह्मणत्व पूर्णतया स्पष्ट है।[1] सुनन्द नाम का एक

1. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – द्वितीय अङ्क – पृ. 44

विप्र भी है जो रुक्मिणी का पत्राहक है। ललितमाधव नाटक में राजा भीष्मक और सवाजित् क्षत्रिय रूप में ही माने जा सकते हैं।[1]

दानकेलिकौमुदी में संगणक के रूप में मधुमङ्गल का कार्य वणिकौचित कर्म माना जा सकता है। कर–संग्रह में उसकी निपुणता अत्यन्त सराहनीय है।[2] यही अस्पृश्यता के उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं। राधा स्पर्श मात्र से दूषित होने का उल्लेख करती है।[3]

इस प्रकार रूपगोस्वामी ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों को अपनी नाट्यकृतियों में प्रस्तुत करके समाज में उनकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला है। ललितमाधव ने चतुर्थ अङ्क में चारों वर्णों का एक साथ समन्वय देखा जा सकता है।[4]

आश्रम व्यवस्था

रूपगोस्वामी ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चारों आश्रमों को भी स्वीकार करते हुये अपनी नाट्यकृतियों में कहीं न कहीं उनका उल्लेख अवश्य किया है। ललितमाधव में श्रीकृष्ण और मधुमङ्गल ब्रह्मचारी के वेष में ही राधा की सूर्योपासना सम्पादित कराने के लिये प्रस्तुत होते हैं।[5] गृहस्थ जीवन का परिचय पूर्णतया स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। राधा और कृष्ण का प्रणय गृहस्थ जीवन में ही विकसित होता है। राधा अभिमन्यु की विवाहिता पत्नी है। घर में उसकी सास तथा अन्य वृद्धाएं हैं। कृष्ण के भी माता–पिता तथा अन्य गुरुजन हैं। इस प्रकार रूपगोस्वामी ने अपने नाटकों में गृहस्थ जीवन का पूर्ण रूप से पालन किया है।

ललित माधव में वानप्रस्थाश्रम की ओर उन्मुख होते हुए राजा भीष्मक अपनी कन्या के पाणिग्रहण से निवृत्त चिन्ता होते हैं।[6]

सन्यासिनी के रूप में पौर्णमासी का चरित्र पूर्णतया स्पष्ट है। सन्यास आश्रम की उसे प्रतीक माना जा सकता है।

---

1. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – प्रथम अङ्क – पृ. 15
2. दानकेलिकौमुदी – रूपगोस्वामी – पृ. 156
3. दानकेलिकौमुदी – रूपगोस्वामी – पृ. 257
4. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – चतुर्थ अङ्क – श्लोक–4
5. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – पृ. 44
6. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – पंचम अङ्क – श्लोक–4

संस्कार

विवेच्य नाट्यकृतियों में जातकर्म, नामकरण, उपनयन तथा विवाहादि संस्कारों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। ललित माधव के प्रारम्भ में राधा और चन्द्रावली के जन्म का वृतान्त वर्णन किया गया है।[1] यहीं उनके नामकरण का भी उल्लेख किया गया है। ललितमाधव में गार्गी द्वारा बलराम और कृष्ण के व्रतबन्ध महोत्सव में सम्मिलित होने का वर्णन किया गया है जिससे उपनयन संस्कार का बोध हो जाता है।[2] पञ्चम अङ्क में चन्द्रावली और श्रीकृष्ण के पाणिग्रहण का भी वर्णन द्रष्टव्य है।[3]

तत्कालीन समाज में बहुविवाह का वर्चस्व था किन्तु सामाजिक प्रतिष्ठा प्रायः एक विवाह में ही समाहत समझी जाती थी। दूसरा विवाह पहली पत्नी की स्वीकृति के बिना सम्भव नहीं था ऐसा तब प्रतीत होता है जब महाराज भीष्मक अपनी कन्या चन्द्रावली : रुक्मिणी : का हाथ श्रीकृष्ण के हाथों में सौंपते हुए उन्हें वचनबद्ध करा लेते हैं कि बिना उनकी पुत्री की अनुमति के वह किसी अन्य कन्या का पाणिग्रहण नहीं करेंगे।[4] श्रीकृष्ण अपने वचन का पूर्ण रूप से निर्वाह करते हैं और राधा से जब उनका मिलन होता है तो वे चन्द्रावली की अनुमति से ही राधा के साथ पुनः विवाह करते हैं।[5] इससे तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का भी बोध होता है। और यह भी स्पष्ट होता है कि बहुर्विवाह का प्रचलन प्रभावी था। ये विवाह सामान्यतः प्रेम विवाह हुआ करते थे। अग्नि को साक्षी बनाकर विवाह करने की प्रथा प्रायः कम प्रचलित थी।

अत्येष्टि संस्कार की भी मान्यता थी क्योंकि राधा कृष्ण के वियोग में अपनी सखियों से तमाल तरु में लिपटकर अपनी अन्त्येष्टि क्रिया कराने का उपाय सोचती है।[6]

---

1. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – प्रथम अङ्क – पृ. 15
2. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – चतुर्थ अङ्क – पृ. 89
3. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – पञ्चम अङ्क – पृ. 136
4. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – पञ्चम अङ्क – पृ. 38
5. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – दशम अङ्क – पृ. 260
6. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – द्वितीय अङ्क – श्लोक – 47

पुरुषार्थ

रूपगोस्वामी ने अपनी नाट्यकृतियों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में से मोक्ष को ही परम साध्य माना है किन्तु इस मोक्ष को प्राप्त करने का मार्ग परम्परा से प्रायः पृथक् माना जा सकता है। धर्म–मार्ग पर चलते हुए वह प्रेम भक्ति के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति को उचित मानते हैं। वह कहते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति धर्म से नहीं अपितु काम से अधिक सुलभ होती है।(1) विदग्धमाधव में भी प्रेमासक्त व्यक्तियों को धर्म मार्ग को छोड़कर कौन प्रेमी का अनुकरण करने का विचार प्रकट किया गया है।(2) विदग्धमाधव के तृतीय अङ्क में वैष्णव दर्शन की सालोक्य और सायुज्य मुक्ति का स्पष्ट रूप से सङ्केत किया गया है। रूपगोस्वामी सगुण ब्रह्म की उपासना का मार्ग प्रेम भक्ति से ही स्वीकार करते हैं। प्रेम भक्ति ही मोक्ष का परम साधन है।(3)

धर्म

विवेच्य नाट्यकृतियों में रूपगोस्वामी ने तत्कालीन समाज में लोगों के धार्मिक जीवन पर भी प्रकाश डाला है। उस समय वैदिक कर्मकाण्डों, तीर्थों, व्रतों और धार्मिक अनुष्ठानों का पर्याप्त प्रचलन था। सूर्योपासना का विशेष महत्व था। राधा आदि ब्रज वल्लभाएं नित्य सूर्योपासना किया करती थीं। ललितमाधव में राधा की सूर्योपासना सम्पन्न कराने के लिये श्रीकृष्ण पुरोहित के रूप में प्रस्तुत होकर मन्त्रोच्चाकरण करते हैं।(4) पञ्चम अङ्क में चन्द्रावली कुण्डिनपुर में पार्वती और दुर्गा की पूजा करती हुई भी द्रष्टव्य है।(5)

विदग्धमाधव में द्वादश तीर्थ और प्रस्कन्द तीर्थ का उल्लेख हुआ है जहां राधा सूर्योपासना के लिये जाती है।(6) दानकेलिकौमुदी में शैलेन्द्रतीर्थ, निकुञ्जतीर्थ, गोविन्दकुण्ड आदि अनेक तीर्थों का उल्लेख हुआ है।(7)

1. दानकेलिकौमुदी – रूपगोस्वामी – पृ. 229
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – तृतीय अङ्क – श्लोक – 37
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – षष्ठ अङ्क – श्लोक – 34
4. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – द्वितीय अङ्क – पृ. 44
5. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – पंचम अङ्क – पृ. 129
6. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – पृ. 82, 83
7. दानकेलिकौमुदी – रूपगोस्वामी – पृ. 52, 259

प्रकृति पूजा का भी विशेष महत्व था। वृन्दा प्रकृति की अधिष्ठात्री देवी थी। श्रीकृष्ण स्वयं भी निकुंज विद्या का वेष धारण करके राधा की गौरी पूजा सम्पन्न कराते हैं।[1] विष्णु पूजा गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय की प्रमुख पूजा थी। उन्हें यज्ञ पुरुष के रूप में अभिहित किया गया है जिनके नाम–स्मरण मात्र से ही मुनियों ने समस्त पापों का नाश होना बतलाया है।[2] मूर्तिपूजा का भी प्रचलन था।

ललितमाधव के छठे अङ्क में ललिता राधा–कृष्ण की मूर्ति बनाकर उपासना करती हुई बतायी गयी है।[3] सप्तम अङ्क में राधा की उपासना के लिये एक कृष्ण की प्रतिमा स्थापित की गयी है। तत्कालीन समाज में शुद्धता पर भी ध्यान दिया जाता था। विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण परनारी स्पर्श का पूर्णतया परित्याग करते हैं। (पृ. 90) दानकेलिकौमुदी में राधा पर पुरुष स्पर्श से प्रदूषित होने से बचने का प्रयास करती है। (पृ. 257)

याज्ञिक अनुष्ठानों का भी पूर्ण प्रभव था। आभिचारिक और शान्तिक दोनों प्रकार के यज्ञों का विधान था। दानकेलिकौमुदी में शान्तिक यज्ञ का अनुष्ठान किया गया है। (पृ. 23) विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण की दोनों भुजाओं की तुलना अभिचार यज्ञ के दो यूपों से की गयी है। अभिचारयज्ञ का अनुष्ठान शत्रु के विनाश के लिये किया जाता था।[4]

धार्मिक जीवन का उपर्युक्त वर्णन करने के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि रूपगोस्वामी का समय धर्म प्रधान युग था जिसमें विविध प्रकार की धार्मिक क्रियाएं विद्यमान थीं। विशेष रूप से यह गुण वैष्णव धर्म प्रधान युग माना जा सकता है। वैष्णव धर्म में ही रूपगोस्वामी ने गौड़ीय वैष्णव धर्म का एक नवीन स्वरूप स्थापित कर राधा–कृष्ण की उपासना का वर्चस्व स्थापित किया। बाद में यही एक नये धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

कुटुम्ब

रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों के अध्ययन से एक मर्यादित एवं सुसंगठित

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – सप्तम अङ्क – पृ. 354
2. दानकेलिकौमुदी – रूपगोस्वामी – पृ. 250
3. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – षष्ठ अङ्क – पृ. 160, सप्तम अङ्क – श्लोक 35
4. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – द्वितीय अङ्क – श्लोक–45

कुटुम्ब का परिचय प्राप्त होता है। परिवार में माता–पिता, भाई–बहिन, पति–पत्नी, सास और बहू आदि का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जा सकता है। विवेच्य नाट्यकृतियों में सास और बहू के व्यवहारों पर विशेष प्रकाश डाला गया है। सासें अपनी बहुओं पर पूर्ण नियन्त्रण रखती थीं। पर–पुरुष के संसर्ग से बहुओं को बचाने का पूर्ण प्रयत्न किया जाता था। यही कारण है कि रूपगोस्वामी ने राधा चन्द्रावली आदि वल्लभाओं पर उनकी सासों की ओर से विशेष नियन्त्रण प्रदर्शित किया है। व्यभिचारी पुरुष अत्यन्त निन्दनीय माना जाता था। उन्हें दण्डित कराने की भी व्यवस्था थी। विदग्धमाधव में मुखरा, जटिला, कराला आदि वृद्धाएं श्रीकृष्ण के ऊपर बराबर निगरानी रखती हैं। गोपियों के प्रति श्रीकृष्ण के व्यभिचार को देखकर मुखरा उन्हें फटकारती है और मथुरा नरेश कंस से उन्हें दण्डित कराने का भय दिखाती है।[1] वृद्धाएं प्रायः उपहास की दृष्टि से देखी जाती थीं। उनकी उपेक्षा करना तथा मूर्ख बनाकर उन्हें ठगना एक सामान्य बात थी। विदग्धमाधव में मधुमङ्गल मुखरा और जटिला को न केवल मूर्ख बनाता है अपितु अपशब्द भी बकता है।[2] श्रीकृष्ण भी मुखरा आदि वृद्धाओं का उपहास करते हुए कठोर भाषण करते हैं।[3]

तत्कालीन समाज में पिता–पुत्र के बीच मधुर सम्बन्ध थे किन्तु पुत्र के किसी अपराध के लिये पिता को भी दण्डित किये जाने की व्यवस्था थी। इसीलिये तो चन्द्रावली की सास कराला कृष्ण की धृष्टता का फल उसके पिता नन्द को राजदण्ड के रूप में भोगने का भय दिखाती है।[4] चोरी के अपराध में दुर्ग अर्थात् जेल जाने की व्यवस्था थी क्योंकि मधुमंगल मुखरा को धमकाता हुआ उसकी नतिनी राधा के द्वारा मुरली चुराये जाने के अपराध में जेल भेजवाने का भय दिखाता है। इस प्रकार तत्कालीन पारिवारिक जीवन घर और दरबार दोनों ओर से नियंत्रित एवं सुरक्षित जान पड़ता है।

नारी

तत्कालीन समाज में नारी को विलासिता की वस्तु समझा जाता था। विवाहिता

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – चतुर्थ अङ्क – श्लोक 50
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – पृ. 196, 250
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – पृ. 140, 195, 250, 332
4. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – पृ. 332

पत्नी भी परपुरुष के साथ समर्पितभाव से प्रेम करती थी सम्भवतः इसीलिए रूपगोस्वामी ने राधा को परकीया नायिका के रूप में प्रस्तुत कर लोगों को यह दिखाया है कि परकीया प्रेम केवल अलौकिक नायक–नायिका के सम्बन्ध में ही उचित होता है, लौकिक नायक–नायिका के लिये वह पूर्णतया निन्दनीय तथा त्याज्य है। विवेच्य नाट्यकृतियों में पौर्णमासी जो एक तपस्विनी है वह राधा चन्द्रावली आदि विवाहिता नायिकाओं को भी कृष्ण के प्रति आसक्त कराती हुई उनके नित्य संयोग की कामना करती है। यद्यपि यह सम्पूर्ण वृत्तान्त योगमाया के प्रभाव से चित्रित है किन्तु फिर भी इस प्रकार के नाटकीय चरित्र से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय समाज में भी उस प्रकार की कुरीतियां व्याप्त थीं जिसके कारण रूपगोस्वामी ने उनका अनुभव किया और उन्हें दूर करने के लिये अलौकिक पात्रों की अवतीर्ण कराके समाज के सम्मुख नवीन प्रेरणा प्रदानकर उचित और अनुचित कार्य में निर्णय लेने की क्षमता प्रदान की।

नारियों के बीच लोकापवाद की एक पुरातन परम्परा रही है। ललितमाधव में भी राधा–कृष्ण के परस्पर परिवर्द्धित प्रेम की चर्चा गार्गी, कुन्दलता, जटिला, भाण्डुरा, वृन्दा आदि महिलाओं के मध्य देखी जा सकती है।[1]

विवेच्य नाट्यकृतियों में राधा आदि के चरित्र से यह स्पष्ट होता है कि पर पुरुष संसर्ग के बाद भी नारी अपने पातिव्रत एवं कुलधर्म के प्रति सदैव सचेष्ट रहती थी। नारियों में सौतभावना भी विद्यमान थी। कोई भी पत्नी अपने पति को किसी पर नारी के प्रति होने वाली आसक्ति को सहन नहीं कर पाती थी। ललितमाधव के नवम अङ्क में चन्द्रावली सत्यभामा के प्रति कृष्ण के बढ़ते हुए अनुराग को सहन नहीं कर पाती और वह अपना सौतभाव प्रदर्शित करती है। नारी स्वभावतः ईष्यालु और आत्मश्लाघिनी होती थी। प्रेमिका के रूप में तद्युगीन नारी अपने प्रियतम की किसी कारणवश अपने प्रति होने वाली विमुखता पर अपने भाग्य को धिक्कारती थी। विदग्धमाधव में राधा ऐसी ही प्रेमिका है जो कृष्ण की विमुखता पर अपने भाग्य की ही निन्दा करती है।[2]

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – पृ. 109–111
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – 3/27, 4/40

इस प्रकार रूपगोस्वामी ने अपनी नाट्यकृतियों में नार्योचित लज्जा, विनम्रता और शिष्टता जैसे समस्त गुणों को प्रदर्शित कराने का पूर्ण प्रयास किया है।

खान—पान

विवेच्य नाट्यकृतियों के अध्ययन से यह दृष्टिगत होता है कि तत्कालीन समाज में सुरा और सुन्दरी दोनों का पान होता था। सेज और सुराही की आकाङ्क्षा करने वाली राधा जैसी दिव्याङ्गना भी अपनी सखी ललिता से पुष्प शय्या और माध्वीक पात्र : सुरापात्र : लाने का आग्रह करती है –

रचय बकुलपुष्पैस्तोरणं केलिकुञ्जे

कुरु वरमरविन्दैस्तल्पमिन्दीवराक्षि।

उपनय शयनान्तं साधु माध्वीकपात्रीं

सहचरि हरिरद्य श्लाघतां कौशलं ते।।[1]

प्रस्तुत श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि रूपगोस्वामी ने अपनी नाट्यकृतियों में पौराणिक परम्परा का अनुशीलन करते हुये भी अपने युग की प्रचलित परम्परा का पूर्णतया पोषण किया है। पुराणों में राधा के द्वारा माध्वीक पात्र ग्रहण करने का प्रमाण सम्भवतः दुर्लभ है। इसलिये इस प्रकार की कल्पना केवल उस युग की देन मानी जा सकती है जिससे रूपगोस्वामी को उसका उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ा। उक्त श्लोक में यह भी स्पष्ट होता है कि रूपगोस्वामी ने राधा और कृष्ण को अलौकिक पात्रों के रूप में प्रस्तुत करके भी उनके क्रियाकलापों को लौकिक पात्रों के रूप में ही वर्णित किया है।

तद्युगीन खाद्य पदार्थों में 'रसवती' नाम की मिठाई अत्यन्त महत्वपूर्ण थी जो चार प्रकार के अन्नों से बनती थी। वह अत्यन्त स्वादिष्ट होती थी और इन्द्रियों को आकृष्ट करने वाली होती थी। मधुमङ्गल उसे देखकर ही मस्त हो जाता था।[2]

विदग्धमाधव में मधुपान करने का भी उल्लेख मिलता है।[3]

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – चतुर्थ अङ्क – श्लोक – 24
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – पृ. 31
3. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – नवम अङ्क, श्लोक 38

इस प्रकार रूपगोस्वामी के समय खान–पान में विलासप्रियता के भोज्य पदार्थ अधिक प्रभावी जाने जा सकते हैं।

सौन्दर्य प्रसाधन

आलोच्य नाट्यकृतियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में नारियां आभूषणों में पर्याप्त रुचि रखती थीं। वे केसर और कस्तूरी के लेप को अत्यन्त महत्व देती थीं।[1] विदग्धमाधव में राधा कानों में कमल, बालों में लवङ्ग वक्षस्थल पर जूही की माला और जघन में कदम्ब पुष्प की निर्मित करधनी से आभूषित होने के लिये कृष्ण से निवेदन करती है।[2] कङ्कण, किङ्किणी और नूपुरों की शोभा न केवल शरीर को विभूषित करती थी अपितु उसकी मधुरिम झङ्कार मन के अन्तरतम को भी झकझोर देती थी।[3] गले में मौक्तिकावली : हार : और उंगलियों में मुद्रिका भी पहनी जाती थी।[4] पुष्पों का हार सर्वप्रिय प्रशाधन था। श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर लटकती हुई वैजयन्ती माला, गुञ्जावली और रङ्गण मालाएं अत्यन्त प्रिय आभूषण थीं। मोर का मुकुट श्रीकृष्ण का सर्वप्रिय आभूषण था। उनके शरीर पीताम्बर की शोभा उनके नाम के पर्याय रूप में अद्यापि प्रख्यात है। माल पर तिलक की शोभा कृष्ण के प्रसाधन माने जा सकते हैं।

स्त्रियां आंखों में अंजन और पैरों में आलता का भी प्रयोग करती थीं। श्रीकृष्ण की राधा भी ऐसे प्रसाधन पसन्द करती हुई परिलक्षित होती है।[5] उक्त समस्त प्रसाधनों के उपरान्त भी उस समय स्वाभाविक सौन्दर्य की पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। राधा का स्वाभाविक सौन्दर्य ही कृष्ण को मुग्ध करता हुआ देखा गया है।[6]

लोक परम्पराएं और ग्राम्य दृश्य

रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में वृन्दावन की ब्रजभूमि ही प्रमुख रूप से क्रीडा

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – 2/10, 5/45
2. दानकेलि कौमुदी – पृ. 55
3. विदग्धमाधव – सप्तम अङ्क, श्लोक 45
4. ललितमाधव – 1/49, 50
5. विदग्धमाधव – 7/40, 43
6. विदग्धमाधव – सप्तम अङ्क – श्लोक 47

स्थली है जहाँ पर ग्वाल बालों का ग्राम्य जीवन अत्यन्त मनोहारी है। सायंकाल गोचारण से लौटते हुए श्रीकृष्ण के साथ गायों का झुण्ड देखते ही बनता है।

कृषकों का ग्राम्यजीवन भी द्रष्टव्य है जिसमें वे सिंचाई के लिए देवमातृक और नदीमातृक दोनों प्रकार के साधनों पर निर्भर रहते थे। विशेष रूप से वृन्दावन–वासियों का कृषि–कर्म देवमातृक ही था।[1]

इस प्रकार के रासोत्सवों का वर्णन विदग्धमाधव में भी अवलोकनीय है जहां ग्वालवाल आपस में मिलकर एक दूसरे के साथ नृत्य–विलास करते थे।[2]

नाट्य प्रवृत्तियां

नाटकीय पात्रों के सामान्य व्यवहारों, शिष्टाचारों, विविध रीतिरिवाजों, नाम और उनके सम्बोधनों, भाषाओं के प्रयोगों से सम्बद्ध नाटकीय क्रियाकलाप नाट्य प्रवृत्तियों के अङ्क माने गये हैं। आचार्य भरत के इन प्रवृत्तियों को आहार्य अभिनय के रूप में स्वीकार किया है।[3] दशरूपककार आचार्य धनञ्जय के मत में देश के अनुसार पात्रों की भाषा, क्रिया और वेश आदि का होना ही प्रवृत्तियां कहलाती हैं इन्हें लोक–व्यवहार के ज्ञान से यथोचित प्रयोग करना चाहिए।[4]

रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में नाट्यप्रवृत्तियों के समुचित प्रयोग देखे जा सकते हैं।

शिष्टाचार

विवेच्य नाट्यकृतियों में सूत्रधार के रूप में नाटककार रूपगोस्वामी स्वयं उपस्थित हुए हैं। वह प्रसन्न मुद्रा में प्रवेश कर मधुरिम मधुमास के सुरक्षित परिवेश में अपनी नाट्य कृतियों के अभिनय का परिचय करते हैं। उनका सौम्य स्वभाव शिष्टता और विनम्रता के परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त सराहनीय है। वह अपनी नाट्यकृति की सफलता सुधी भक्तों के ऊपर समझते हैं। नाटककार की शिष्टता का एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – प्रथम अङ्क – श्लोक 30
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – षष्ठ अङ्क – श्लोक 1
3. नाट्यशास्त्र – आचार्य भरत – अध्याय 21
4. दशरूपक – आचार्य धनञ्जय – द्वितीय प्रकाश, का. – 96

ममास्मिन्संदर्भे यदपि कवितानातिललिता

मुदं धास्यन्त्यस्यां तदपि हरिगन्धाद्बुधगणाः।

अपः शालग्रामाप्लवनगरिमोद्गारससाः

सुधीः को वा कौपीरपि नमितमूर्धा न पिबति।।[1]

सूत्रधार को सम्बोधित करते हुये उसके सहायक पारिपार्श्विक के नट आदि भाव, : विद्वन् स्वामिन् : जैसे सम्बोधनों का प्रयोग करते हैं।[2] सूत्रधार पारिपार्श्विक के लिए 'मारिष' का प्रयोग करता है।[3] दानकेलिकौमुदी में ताण्डव–चर्यापाण्डित्यपारङ्गत का सम्बोधन नट के लिए किया जाता है। (पृ. 13) विदग्धमाधव में सूत्रधार के लिए नेपथ्य से नर्तकसामन्तसार्वभौम का सम्बोधन किया गया है। (पृ. 9) सूत्रधार के लिए 'कुशीलवाचार्य' का भी सम्बोधन किया गया है।[4] ललितमाधव में नटी सूत्रधार को वच्छ (वत्स), पुत्त (पुत्र) जैसे सम्बोधनों का प्रयोग करती है। सूत्रधार उसे 'आर्य' का सम्बोधन करता है। रूपगोस्वामी नटी को सूत्रधार की पत्नी के रूप में नहीं प्रस्तुत करते बल्कि उसे एक सम्मान्या वृद्धा के रूप में उद्घृत करते हैं।[5] रूपगोस्वामी ने यह एक अभिनव प्रयोग किया है।

गुरुजनों के प्रति आदरणीय शब्दों का प्रयोग किया गया है। तपस्विनी पौर्णमासी के लिए 'भगवती' का सम्बोधन किया गया है। राधा–कृष्ण की उन्हें 'भगवति' का ही सम्बोधन करते हैं।[6] विदग्धमाधव में श्रीकृष्ण पौर्णमासी को एक जगह 'धूर्त' का भी सम्बोधन करते हैं। (पृ. 34) कभी–कभी पौर्णमासी को आर्ये का प्रयोग करते हैं। पौर्णमासी उन्हें नागर, विलासी, मोहन, सुन्दर जैसे अनेक शब्दों से सम्बोधित करती है। (पृ. 33–34) श्रीकृष्ण पौर्णमासी को परिहास में 'बलाकावलक्षकेशि' अर्थात् बगुले के समान श्वेत केश वाली भी कहकर सम्बोधन करते हैं। (पृ. 34) यद्यपि ये शब्द अशिष्टता के परिचायक है

---

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – प्रथम अङ्क – श्लोक–4
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – पृ. 4, 5, दा. के. कौ. – पृ. 15
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – पृ. 4, 5
4. दा. के. कौ. – रूपगोस्वामी – पृ. 38
5. ललितमाधव – रूपगोस्वामी – पृ. 6, 8
6. दा. के. कौ. – रूपगोस्वामी – पृ. 279, 281

किन्तु फिर भी इन्हें परिहास में ही प्रयोग किया गया माना जा सकता है। नाट्यकृतियों में मुखरा, जटिला, कराला, माण्डुरा आदि वृद्धाओं तथा सखियों के परस्पर हास–परिहास में बहुधा अशिष्टता पूर्ण शब्दों का भी उच्चारण किया गया है। उन सबका उल्लेख पात्रों के चरित्र चित्रण में किया जा चुका है। अतः उनका पिष्ट प्रेषण करना उचित नहीं है। स्त्रियों के लिये भामिनि, कामिनी, आर्य, पुत्रि, प्रिये, सखि, हला इत्यादि प्रचलित शब्दों के प्रयोग भी देखे जा सकते हैं। रूपगोस्वामी ने श्रृङ्गारिक शब्दों का बड़ा ही मनोरम प्रयोग किया है। उन सबका उल्लेख करना सम्भव नहीं है।

(ii) संस्कृत नाट्यवाङ्मय को रूपगोस्वामी की मौलिकता तथा नाट्य साहित्य की देन

संस्कृत नाट्य वाङ्मय में रूपगोस्वामी न केवल एक नाटककार के रूप में अपितु नाट्याचार्य के रूप में भी अपना अप्रितम योगदान रखते हैं। उन्होंने नाट्यशास्त्रीय परम्परा का अनुशीलन करते हुए भी उसमें कुछ अपनी मौलिकता प्रदर्शित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। उनका नाट्य साहित्य पूर्व परम्परा पर आधृत होकर भी किञ्चित नूतन परम्परा का श्रीगणेश करता है। रूपगोस्वामी ऐसे पहले नाटककार माने जा सकते हैं जिन्होंने अपने नाटकों में परकीया नायिका की स्थापना की है। यद्यपि राधा श्रीकृष्ण की नित्य स्वकीया कान्ता है तथापि नाटकों में उन्हें परकीया नायिका के रूप में प्रस्तुत करके साहित्य समाज के सम्मुख एक अभिनव प्रयोग किया गया है।

नायक के चयन में भी उन्होंने परम्परा से हटकर नाटक में धीरोदात्त नायक के स्थान पर धीरललित नायक के रूप में श्रीकृष्ण को प्रस्तुत किया है। इतना ही नहीं उन्होंने श्रीकृष्ण जैसे धीरललित नायक को उपपति के रूप में स्थापित कर उनमें अनुकूल दक्षिण, शंठ इत्यादि अन्यान्य नायकों की अन्य श्रेणियों का भी दिग्दर्शन कराया है।

कथावस्तु के निबन्धन में रूपगोस्वामी ने नाटक में प्रख्यात कथानक के स्थान पर मिश्र कथानक की योजना की है, आलोच्य नाट्यकृतियों में रूपगोस्वामी स्वयं सूत्रधार के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। सूत्रधार के रूप में वह पारिवार्श्विक अथवा नट से वार्तालाप करते हैं। रूपगोस्वामी ने 'नटी' को सूत्रधार की पत्नी के रूप में न प्रस्तुत करके उसे एक आदरणीया 'वृद्धा' के रूप में प्रस्तुत किया है। कथावस्तु में रूपगोस्वामी ने 'अङ्कमुख' की स्थापना नाटक के प्रारम्भ में करके एक नवीन परम्परा प्रचलित की है। विषकम्भक का प्रयोग भी अत्यन्त विलक्षण माना जा सकता है। उन्होंने विषकम्भकों का बहुल प्रयोग किया है। विषकम्भक के अन्त में नियमानुसार समस्त पात्रों को निवक्रान्त होना चाहिए किन्तु ललितमाधव में प्रथम और द्वितीय अङ्क के मध्य प्रयुक्त होने वाले विषकम्भक के अन्त मे कुन्दलता को छोड़कर केवल अन्य पात्र ही रङ्गमञ्च से प्रस्थान करते हैं। विषकम्भक में वर्तमान की आंखों देखी परिस्थितियों का भी वर्णन किया गया है।

पताका स्थानक के प्रयोग में भी रूपगोस्वामी ने नाट्यजगत में प्रचलित दो

पताकास्थानकों के बजाय चार प्रकार के पताकास्थानकों का प्रयोग किया है। उन्होंने पताका और प्रकरी को इति वृत्त का अङ्क माना है और कभी–कभी 'बीज' आदि को भी अङ्क रूप में स्वीकार किया है। समूचे संस्कृत नाट्य साहित्य में रूपगोस्वामी एक ऐसे नाटककार माने जा सकते हैं जिन्होंने अपने नाटकों में सन्धि, सन्ध्यङ्ग, सन्ध्यन्तर, नाट्यालङ्कारादि तत्वों का सावयव प्रयोग किया है। ललितमाधव नाटक में तो उन्होंने समस्त नाट्यतत्वों को पिरोने का प्रयास किया है।

ललितमाधव चतुर्थ अङ्क में गर्भाङ्क उपरूपक की योजना करके रूपगोस्वामी ने एक अनुपम प्रदर्शन किया है।

रूपगोस्वामी ने दानकेलिकौमुदी नामक 'भणिका' की रचना कर रूपक की एक नवीन श्रेणी का सूत्रपात किया है।

विदग्धमाधव नाटक के सन्दर्भ में नाट्यालोचक रामजी उपाध्याय की धारणा है कि अधिकांशतः यह एक कपट नाटक है। इसके चरित नायक कृष्ण के विषय में नायिका राधा का कहना है कि वे कपट परिपाटीत्नाटक सूत्रधार हैं। ऐसा लगता है कि गर्भ सन्धि का छद्ममय अङ्ग अभूताहरण कालान्तर में इतना लोकप्रिय होता गया कि नाट्ककारों ने शनैः–शनैः इस कपट तत्व को अपनी नाट्यकृतियों में सविशेष स्थान दिया।[1]

छायानाट्य तत्व के प्रयोग में रूपगोस्वामी अत्यन्त प्रवीण माने जा सकते हैं। चित्रदर्शन की योजना उनकी महती विशेषता है। अभूताहरण, अदृष्टाहति और छदम परायणता आदि के सन्दर्भ में रूपगोस्वामी का योगदान सराहनीय माना जा सकता है।

ललितमाधव में रूपगोस्वामी श्रीकृष्ण को किशोरावय के रूप में प्रस्तुत करके उन्हें उनकी माताओं के सम्मुख बालक रूप में उपस्थित करते हैं किन्तु गोपियों के साथ उनका ऐन्द्रियक विलास भी देखा जाता है। इस प्रकार की परम्परा संस्कृत नाटकों में प्रायः कम ही देखने को मिलती है।

नाट्य शास्त्रीय दृष्टि से रूपगोस्वामी का ललितमाधव भी एक विलक्षण नाटक है जिसे उन्होंने नाट्यशास्त्रीय निकर्ष पर समारोपित करने का पूर्ण प्रयास किया है। इसमें पूर्ववर्ती आचार्यों और नाटककारों की मान्यताओं को समादृत करते हुए किञ्चित नवीनताओं

को भी उपन्यस्त किया गया है। भूमिका की महामहिमशालिता और वैविध्य, कार्यक्षेत्र की भूमिका और सर्वाधिक घटनाओं की अद्‌भुत सक्रम इस नाटक के विरल वैशिष्ट्य हैं।

विवेच्य नाट्‌यकृतियों में पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थों का यथावसर सौरभ सुवासित हुआ है। विदग्धमाधव में रूपगोस्वामी ने कालिदास का पूर्णतया अनुकरण किया है जिसका विशेष वर्णन इसके पूर्व अध्याय में किया गया है। ललितमाधव नाटक में गोवर्द्धन पर मयूर विलास का वर्णन उत्तररामचरितम् के तृतीय अङ्क में : 3/19 में सीता पोषित मयूर की गंध की स्मृति दिलाता है। दशकुमार चरित की भांति इसकी नायकादि प्रकृति इतस्तस्तः भटकती और परिभ्रमित या मरती–जीती हुई अन्ततः दशम अङ्क में अपनी चित्रविचित्र गाथाओं के प्रसङ्ग में आ मिलती है। उत्तररामचरित की भांति इसके नवम अङ्क में चित्रदर्शन की मनोरम झांकी प्रदर्शित की गयी है। महावीर और बालरामायण के समान इसमें भी छायातत्व और गर्भाङ्क नाटक की योजना की गयी है। प्रियतम के वियोग में प्रेमिका का पशु पक्षियों से प्रश्नप्रलाप करना विक्रमोर्वशीयम् की अनुकृति मानी जा सकती है। अविमारक, नागान्द और रत्नावली जैसी नायिका की स्थिति भी इसमें द्रष्टव्य है जिसमें नायिका : राधा : नायक के वियोग में अपना प्राणान्त करने के लिए तत्पर हो उठती है।

रङ्गमञ्चीय दृष्टि से नाटक में शास्त्रीय विधान है कि नायक यदि एक बार रङ्गमञ्च पर उपस्थित हो तो उसे अङ्कान्त के पूर्व उसे निष्क्रान्त नहीं होना चाहिए किन्तु रूपगोस्वामी के नायक श्रीकृष्ण रङ्गमञ्च पर आवागमन करते रहते हैं। ललितमाधव के प्रथम अङ्क में श्रीकृष्ण अपने पिता से मिलने के लिए रङ्गपीठ से प्रस्थान करते हैं और पुनः राधा से मिलने के लिए रङ्गपीठ पर आ धमकते हैं। द्वितीय और अष्टम अङ्क में भी नायक की यही प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है।

पात्रों के चयन में भी रूपगोस्वामी की विशेषता उल्लेखनीय है। उन्होंने स्त्री पात्रों की संख्या में प्रभूत उदारता प्रदर्शित की है जिसके कारण नाटकों की अभिनेयता में परेशानी खड़ी हो सकती है। श्लोकों की बहुलता भी अभिनय की दृष्टि से उचित नहीं जान पड़ती। वर्णन प्रधान नाटक होने के कारण इनमें घटना वैविध्य का अभाव सा है, इसीलिए प्रेक्षकों की कुतुहलवृत्ति पूर्णतया जागृत नहीं हो पाती।

रूपगोस्वामी के नाटकों में गद्य–भाग की प्रवाहमयता अत्यन्त सरस और हृदयावर्जक है। पद्यभाग में सरसता और मधुरता होते हुये भी उसकी अनावश्यक बहुलता नीरसता उपस्थित कर प्रेक्षकों को ऊबाने वाली प्रतीत होती है। रूपगोस्वामी का कवित्व जहां एक ओर सहृदय पाठकों का हृदयावर्जन करता है वहां दूसरी ओर प्रेक्षकों की कुतूहलता में विमुखता भी उपस्थित करता है।

हिन्दी कृष्ण काव्य पर रूपगोस्वामी का प्रभाव

वैसे तो राधा कृष्ण की उपासना समूचे साहित्य समाज में एक पुरातन देन है तथापि रूपगोस्वामी के पूर्व राधा–कृष्ण का जो स्वरूप विकसित हुआ था उसका किञ्चित् नव्य स्वरूप उनके समय समुपस्थित हुआ। रूपगोस्वामी के पूर्व राधा और कृष्ण की प्रतिष्ठा परस्पर प्रेमिका और प्रेमी के रूप में प्रख्यात हो चुकी थी। रूपगोस्वामी के समय सर्वप्रथम कृष्ण और राधा अलौकिक नायक और नायिका के रूप में स्वीकृत हुये। राधा को श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति के रूप में समुद्घाटित करने का प्रथम श्रेय रूपगोस्वामी को ही प्राप्त है। यह वही ह्लादिनी शक्ति थी जिसके द्वारा स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ह्लादित होकर समस्त लोक को आह्लादित करते थे। रूपगोस्वामी की यह मान्यता गौडीय वैष्णव परम्परा की देन मानी जा सकती है। इसे ही परवर्ती हिन्दी कवियों ने भी स्वीकार कर अपनी शृङ्गारिक कृतियों में नायक और नायिका के रूप में इनके शृङ्गारिक चरित्र का निरूपण करके राधा–कृष्ण के अलौकिक का दिग्दर्शन किया। रीतिकालीन कवियों ने लौकिक नायक और नायिका के शृङ्गारिक चरित्र को अपनी कृतियों में अपनाकर उन्हें श्रीकृष्ण और राधा के प्रेम रूप में परिणत करके एक अद्भुत परम्परा का श्रीगणेश किया। इस पर रूपगोस्वामी का ही प्रभाव माना जा सकता है।

परकीया प्रेम की उपासना यद्यपि वैष्णव सम्प्रदाय की पुरातन परम्परा है तथापि रूपगोस्वामी ने उसे पुष्टि प्रदान करके परवर्ती हिन्दी कवियों के मार्ग को प्रशस्त किया। रीतिकालीन कवियों ने भी परकीया प्रेम को स्वीकार कर उसमें ही मधुररस की पराकाष्ठा का प्रश्रय दिया।

हिन्दी कवियों में विशेष रूप से रीतिकालीन कवियों पर रूपगोस्वामी का जो विशेष प्रभाव देखा गया वह था आचार्यत्व और कवित्व की एकरूपता का। रूपगोस्वामी आचार्यत्व और कवित्व दोनों श्रेणियों का निर्वाह करते हैं। वह अपने लक्षण ग्रन्थों में अपने ही लक्ष्य ग्रन्थों से अधिकांश उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। रीतिकालीन कवियों में भी आचार्यत्व और कवित्व में दोनों कोटियां दृष्टिगत होती हैं। बिहारी, देव, केशवादि, आचार्य और कवि दोनों रूपों में माने जा सकते हैं। उन्होंने भी अपने लक्षण ग्रन्थों में अपने ही लक्ष्य ग्रन्थों

से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। इस पर रूपगोस्वामी का प्रबल प्रभाव माना जा सकता है। यद्यपि रूपगोस्वामी के पूर्व भी संस्कृत साहित्य में ऐसी परम्परा प्रचलित थी किन्तु उसका स्पष्ट स्वरूप नहीं विकसित हो सका था। रूपगोस्वामी के समय में ही ऐसी परम्परा का विशेष प्रचलन प्रवर्तित हुआ।

भक्तिरस के परिप्रेक्ष्य में रूपगोस्वामी का योगदान अप्रतिम है। वही सबसे पहले आचार्य हैं जिन्होंने भक्तिरस को मुख्य रस के रूप में स्थापित कर साहित्यशास्त्र में स्वीकृत समस्त रसों को गौण रस के रूप में स्वीकार किया। यह उनकी महनीय विशेषता है। समूचे साहित्य समाज में रूपगोस्वामी का महत्व एक भक्त कवि के रूप में अत्यन्त सफल माना जा सकता है। भक्तिशास्त्र में उनका आचार्यत्व और कवित्व दोनों अनुकरणीय है। हिन्दी कृष्ण काव्य पर उनका योगदान अत्यन्त स्तुत्य है।

चैतन्यमत और राधा-कृष्ण का अलौकित्व

भक्तिभाव से सुरभित भारत के इस पवित्र भूतल पर भक्त और भगवान के बीच समय–समय पर किसी न किसी एक ऐसे दिव्य पुरुष का आविर्भाव हुआ जिसने अपने प्रबल प्रभाव से न केवल सुधी सन्तों के ह्रदय को अभिभूत किया। अपितु समूचे धर्मसमाज के सम्मुख एक नवीन धार्मिक सम्प्रदाय को स्थापित कर उसके नवीन मान्य सिद्धान्तों को स्वीकार करने के लिये प्रेरित भी किया। राम, कृष्ण, गौतमादि की परम्परा में सोलहवीं शताब्दी का युग गौराङ्ग महाप्रभु चैतन्य के अवतार का युग माना जा सकता है जिसमें उन्होंने कृष्णलीला को एक बार पुनः प्रवर्तित करने का अनुपम प्रयास करके भक्ति काव्यधारा में कृष्ण कथा की धारा को प्रवाहित कर भक्ति सम्प्रदाय में एक नवीन परम्परा का श्रीगणेश किया। गौराङ्ग महाप्रभु चैतन्य के द्वारा मान्य भक्ति संबंधी सिद्धान्तों को प्रवर्तित करने का श्रेय रूपगोस्वामी को ही है जिन्होंने अपना तन–मन–धन सर्वस्व इसके प्रति न्यौछावर करके स्वयं 'प्रभुपाद' की पदवी से अलङ्कृत हुये। वृन्दावन के प्रख्यात षटस्वामियों में महाप्रभु चैतन्य के भक्ति सिद्धान्त को अपनाकर उसके प्रचार प्रसार के लिये व्यापक प्रयास किया। इनका यह सिद्धान्त गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के नाम से प्रतिष्ठापित हुआ। रूपगोस्वामी इस सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ प्रवर्तक माने गये। इस सम्प्रदाय में राधा–कृष्ण की एकतानता को व्यक्त करने के लिये एक ऐसे सिद्धान्त का प्रवर्तन किया गया जो 'अचिन्त्यभेदोभेदवाद' के नाम से अत्यन्त प्रख्यात हुआ। इस सिद्धान्त के मतों को स्पष्ट करते हुये चैतन्यचरितामृतम् में कहा गया है कि श्री राधिका श्रीकृष्ण के प्रेम की विकाररूपा है अर्थात् कृष्ण प्रेम की गाढ़तम अवस्था महाभाव की वह मूर्ति है। अतः श्री राधा श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान का अभेद होता है, इसीलिये राधा एवं श्रीकृष्ण एकात्मा है, लीलारस का आस्वादन करने के लिये वे पृथक्–पृथक् देह धारण कर एक दूसरे के साथ विलास करते हैं। वे दोनों (कलियुग में) एकता को प्राप्त करके एक नवीन रस (मधुरस) जिसका आस्वादन पृथक् दो दोहों से नहीं हो सकता, उस रस का आस्वादन करने के लिये श्री चैतन्यगोस्वामी के रूप में अवतीर्ण हुये हैं।[1] यही कारण है

1. चैतन्यचरितामृत – कृष्णदास गोस्वामी – आदिलीला–49–50

कि रूपगोस्वामी उक्त मत को हृदयङ्गम करके अपनी नाट्यकृतियों में महाप्रभु चैतन्य की लीलावतारी राधा कृष्ण के समन्वित स्वरूप की बार–बार वन्दना करते हैं।

विदग्धमाधव में उद्धृत 'अनर्पितचरीं चिरात्करुणयावतीर्णः कलौ'[1] इस श्लोक को कृष्णदास गोस्वामी ने अपने चैतन्यचरितामृतम् की नान्दी में प्रस्तुत करके इसके माहात्म्य में प्रभूत श्रीवृद्धि की है। प्रस्तुत नान्दी में जहां एक ओर भगवान कृष्ण की वन्दना की गयी है वहीं दूसरी ओर गौराङ्ग महाप्रभु के रूप में उनकी लीलावतारी कृष्ण–रूप की वन्दना प्रस्तुत की गयी है। इसमें महाप्रभु चैतन्य के अवतार के एक बहिरङ्ग कारण का उल्लेख किया गया है, जिसके अनुसार 'लोकवेद मार्गातीत परमउज्जवल शृङ्गाररसमयी एवं स्वसुरा गन्धलेशशून्य श्री राधा–कृष्ण सुखैक तात्पर्यमयी जो परमधाम श्री वृन्दावन के मञ्जुल निकुञ्जों में रतिरसशेखर प्रियाप्रियतम की अत्यन्त मधुर उपासना है उस परम निर्मल विशुद्ध भक्ति सम्पदा को प्रदान करने के लिये स्वयं भगवान रसिक मुकुटमणि परमब्रह्म श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के रूप में अवतीर्ण हुये हैं।[2]

राधा–कृष्ण के अलौकिकत्व का निरूपण करते हुये चैतन्यचरितामृतम् में कहा गया है कि श्री राधिका कृष्ण–प्रेम की घनीभूततम चरमपरिणति है अर्थात् वही महाभाव–स्वरूपिणी स्वरूप शक्ति है। वही स्वरूप शक्ति ह्लादिनी शक्ति की संज्ञा से भी अभिहित की जाती है जिसके प्रभाव से श्रीकृष्ण स्वयं आह्लादित होते है और स्वयं आह्लादित होकर इसी के द्वारा अपने भक्तों को भी आनन्द का आस्वादन कराते हैं। श्रीकृष्ण को 'सच्चिदानन्द' कहा गया है जिसके अनुसार उनके स्वरूप को सत्–चित् और आनन्दमय माना गया है। श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति या चित् शक्ति एक होते हुये भी तीन रूपों में प्रकाशित होती है – 1. ह्लादिनी 2. सन्धिनी और 3. सेवित्।

इनमें आनन्ददांश शक्ति को ह्लादिनी, सत् अंश की शक्ति को सन्धिनी और

---

1. अनर्पितचरीं चिरात्करुणयावतीर्णः कलौ
   समर्पयितुमुन्नतोज्जवलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
   हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसंदीपितः
   सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः।। वि. मा. – प्रथम अङ्क – श्लोक – 2
2. चैतन्य चरितामृतम – कृष्णदास गोस्वामी – आदिलीला – नान्दी

चित् अंश की शक्ति को संवित् शक्ति की संज्ञा से अभिहित किया गया है। ये तीनों शक्तियां विष्णु पुराण में भी उद्घृत की गयी है।[1] उक्त तीनों शक्तियों का अधिष्ठान श्रीकृष्ण में प्रतिपादित किया गया है किन्तु इसके विपरीत श्रीकृष्ण में सात्विकी, तामसी और राजसी इन त्रिविधि शक्तियों को नहीं स्वीकार किया गया क्योंकि ये तीनों शक्तियां श्रीकृष्ण की बहिरङ्गा शक्तियां कही गयी हैं। यद्यपि श्रीकृष्ण समस्त शक्तियों के अधिष्ठान हैं किन्तु फिर भी उनमें मूल अन्तर यह है कि जहां ह्लादिनी आदि शक्तियां श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्तियां है और उनके स्वरूप से अभिन्न है वहां सात्विकी आदि शक्तियां उनकी केवल बहिरङ्ग शक्तियां है जो उनके स्वरूप से पृथक् भाव रखती हैं। अतः सात्विकी आदि शक्तियां भी बाह्य रूप से उनके आश्रित मानी जा सकती हैं। श्रीकृष्ण अपनी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से त्रिगुणमयी शक्ति के अधिष्ठाता होते हुये भी भगवान पद्म–पत्र–जल की तरह उससे परे अवस्थित रहते हैं। वस्तुतः भगवान का यही ईश्वरत्व है।[2]

चैतन्यमतानुसार संधिनी शक्ति के सार अंश का नाम 'शुद्धसत्व' है जिसमें भगवान का अस्तित्व माना जाता है। ह्लादिनी, संधिनी एवं संवित् इन तीनों शक्तियों के समान रूप में सम्मिलित प्रकाश विशेष का नाम 'शुद्धसत्व' है किन्तु यहां शुद्धसत्व से उनकी परिणति रूपा उस आधार शक्ति से अभिप्राय है, जिस शुद्धसत्व में संधिनी का अंश प्रधान रूप से निवास करता है। भगवान श्रीकृष्ण के माता–पिता यशोदा, नन्द आदि स्थान गोकुल, वैकुण्ठादि, गृह, कुञ्ज, महलादि शय्या तथा सिंहासनादि ये समस्त श्रीकृष्ण के संधिनी अंश प्रधान शुद्धसत्व अर्थात् आधार शक्ति की परिणति रूप में व्यक्त किये गये हैं। श्रीमद्भागवत् में भी भगवान का अवस्थान शुद्धसत्व में स्वीकार किया गया है।[3]

---

1. ह्लादिनी संधिनी संवित् त्वय्येका सर्व सस्थितो।
   ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुण वर्जिते।। वि. मा. पुराण
2. चैतन्यचरितामृतम् – आदिलीला – चतुर्थ परिच्छेद
3. सत्वं विशुद्धं वसुदेव शव्दितं यदीयते तत्र पुमान पा वृतः।
   सत्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेव ह्यघोक्षजो मे मनसा विधीयते।
   श्रीमद्भागवत् – 4–3–23

श्रीकृष्ण की भगवत्ता का ज्ञान हो जाना अथवा श्रीकृष्ण भगवान हैं यह अनुभव कर लेना ही संवित् शक्ति का सार कहा गया है। ब्रह्म और परमात्मा का ज्ञान श्रीकृष्ण के भगवद्ज्ञान में ही सन्निहित किया गया है। श्रीकृष्ण के भगवान रूप में जान लेने पर ब्रह्म और परमात्मा का ज्ञान भी हो जाता है। वे उसी में अन्तर्मुक्त माने गये हैं। वे उनके परिवार कहे गये हैं। श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति 'ह्लादिनी' को सार 'प्रेम' कहा गया है। प्रेम का सार है 'भाव' और भाव की पराकाष्ठा है 'महाभाव'। इसी महाभाव की विग्रह स्वरूपा ठकुरानी श्रीराधा समस्त गुणों की आगार और श्रीकृष्ण की समस्त कान्ताओं में शिरोमणि कही गयी है।[1]

राधा शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये कहा गया है कि – 'रा' शब्दोच्चारण भक्तो यादि मुक्तिं सुदुर्लभाम्।

'धा' शब्दोच्चारणाद् दुर्गे धावत्ये व हरेः पदम्।

'रा' इत्यादान वचनो 'धा' च निर्वाणवाचकः।

ततो वाप्नोति मुक्तिं च सा च राधा।।

इस प्रकार 'राधा' का अलौकित्व अत्यन्त श्रेयस्कर निर्वाणवाचक और हरिपदगामी माना जा सकता है।

राधा की भांति श्रीकृष्ण को भी पूर्ण ज्ञान, पूर्णशक्ति, पूर्ण बल, पूर्ण ऐश्वर्यपूर्ण वीर्य, पूर्ण तेज तथा अनन्त अप्राकृत गुणों से युक्त कहा गया है। वह स्वयं भगवान हैं, वही समस्त भगवताओं के मूल तत्व हैं, वही सिद्ध अद्वयतत्व हैं, पूर्णतम आनन्द स्वरूप हैं। श्रीकृष्ण शक्ति लीला, ऐश्वर्य तथा माधुर्य में सबसे सब प्रकार परम श्रेष्ठ तत्व हैं। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के एक प्रकार के प्रकाश का नाम 'ब्रह्म' है और दूसरे प्रकाश का नाम परमात्मा है तथा तीसरे प्रकार के प्रकाश का नाम 'पूर्ण भगवान' है स्वयं रूप जिसके ये तीनों प्रकाश हैं उनका नाम श्रीकृष्ण है। श्रीमद्भागवत में इसकी पुष्टि की गयी है –

वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्वं यजज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।

---

1. कृष्णेर भगवता ज्ञान संवितेर सार
   ब्रह्म ज्ञानादिक सब तार परिवार – चैतन्य चरितामृतम् – आदिलीला।

राधाकृष्ण की वन्दना करते हुये स्वयं ब्रह्म भी कहते हैं कि सभी के परमप्रिय जो भगवान गोविन्द हैं वे आनन्द चिन्मय (परमप्रेममय मधुर मादनाख्य महाभाव) से परिभाविता, गठित एवं उत्पन्न स्वकान्तारूप में प्रसिद्धा एवं स्वीय स्वरूपशक्तिरूपा न ह्लादिनी : शक्तिरूपा, व्रजदेवी श्रीराधा के साथ गोलोक में निवास करते हैं ऐसे आदि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से राधा कृष्ण का अलौकित्व सम्बन्ध पूर्णतया सिद्ध हो जाता है। 'श्रीकृष्ण' वस्तुतः 'राधा–कृष्ण' इन दोनों नामों का समन्वित एकाकार रूप माना जा सकता है। श्री का अभिप्राय ही 'राधा' है 'राधा' रूपी 'श्री' से समन्वित कृष्ण ही वस्तुतः श्रीकृष्ण माने जाते हैं।

अलोच्य नाट्यकृतियों में रूपगोस्वामी के यथावसर राधा–कृष्ण के अलौकिकत्व को स्पष्ट करते हुये उनके माहात्म्य को प्रदर्शित करने का पूर्ण प्रयास किया है। विदग्धमाधव में राधा की महिमा का बखान करती हुई पौर्णमासी कहती है कि अतुल ऐश्वर्य वाले शङ्करप्रभृति लोकगुरु जिनके क्षणिक दर्शन के लिये उत्सुकतापूर्वक तपस्या का विस्तार करते हैं, हे सुन्दरि तुम्हारे अत्यधिक बढ़े हुये सौभाग्य के फल की क्या प्रशंसा करूं, तुमको देखने की लालसा से कृष्ण क्षीणकाय होकर तपस्या में रत हैं।[2]

इतना ही नहीं कृष्ण राधा का साक्षात्कार प्राप्त कर लेने से, जिस प्रकार स्वप्रकाश पर ब्रह्म के साक्षात्कार हो जाने पर उपासक योगी उसी तत्व में चिन्तन में निरन्तर तल्लीन रहकर विषयभोग से विमुख हो जाते हैं, उन्हें सांसारिक भोग की अपेक्षा परब्रह्म के साक्षात्कार जन्य अनुभव में विशेष आनन्द की उपलब्धि होती है, वह आनन्दानुभूति अलौकिक होती है इसीलिए लौकिक आनन्द से विरति स्वाभाविक होती है। श्रीकृष्ण भी उस योगी की भांति अलौकिक शोभाधाम राधा का साक्षात्कार कर चुके हैं। वे उस विलक्षण सुन्दरी की अलौकिक शोभा सम्पत्ति से विस्मित होकर निरन्तर उसी का चिन्तन कर रहे हैं। राधाविषयक चिन्ता में उन्हें परमसुख मिलता है अतः सामान्य गोपियों के

---

1. चैतन्यचरितामृतम् – कृष्णदास गोस्वामी – आदिलीला – चतुर्थ परिच्छेद
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – द्वितीय अङ्क – श्लोक 24

उपभोग में उनकी विरक्ति सी हो रही है।[1]

राधा के औत्कृष्ट्य का निवेदन करती हुई ललिता परिहास पूर्वक कृष्ण से कहती है कि अरे केवल वाचिक प्रयास से डींग हांकने वाले इस वृन्दावन में तुम्हारी स्तुति केवल ब्रह्म ने की है, जबकि राधा के प्रत्येक अङ्ग की शोभा की प्रशंसा बहुत से प्रजापतियों ने की है। तुमने गोवर्द्धन पर्वत को हाथ से एक बार उठाया है किन्तु मेरी सखी राधा ने अपने कटाक्ष से अनेक बार धरणीधर को आकृष्ट किया है।[2]

आलोच्य नाट्यकृतियों में वैष्णव दर्शन की सालोक्य और सायुज्य मुक्ति का भी स्पष्ट निर्देश कराया गया है। श्रीकृष्ण राधा के साथ एकान्त में संभोग प्राप्त करके कहते हैं कि तुम्हारे स्तनों पर मुक्ताओं अर्थात् मुक्तात्माओं के लिये प्राप्त करने योग्य सालोक्य रूप मुक्ति को देखकर मैंने सभी मित्रों की संगति को छोड़कर कैवल्य अकेलापन (मोक्ष) प्राप्त किया है। तिल पर भी विषमता का आश्रय नहीं लेने वाले इन दोनों कुचों के बीच सघन अमृत की वर्षा करने वाले सायुज्यदान रूप आनन्दोत्सवों से मुझे ही पूर्ण करो अर्थात् यथाशीघ्र मुझे आलिङ्गन का अवसर प्रदान करो।[3]

श्रीकृष्ण के उक्त कथन में जहां एक ओर राधा के साथ संभोगजन्य अवस्था का वर्णन किया गया है वहीं दूसरी ओर वैष्णव सम्प्रदाय की 'सायुज्य दानोत्सव' द्वारा मोक्ष की लालसा भी प्रकट की गयी है।

रूपगोस्वामी ने अपनी नाट्यकृतियों में 'प्रेमाभक्ति' का पूर्ण रूप से निर्वाह किया है। वह पूर्णतया सगुणोपासना के समर्थक प्रतीत होते हैं। वह गोकुल में प्रेम भक्ति का ही संचार करते हैं। गोकुल में मोक्ष का विधान वह उचित नहीं मानते क्योंकि परमेश्वर श्रीकृष्ण का साक्षात्कार वह ज्ञान योग से नहीं अपितु प्रेम भक्ति से स्वीकार करते हैं। गोकुल में सगुण ब्रह्म की उपासना प्रेम भक्ति से ही सम्पन्न की जाती है। ब्रह्म की उपासना ज्ञान योग से नहीं। इस भाव की पुष्टि करते हुये रूपगोस्वामी राधा–कृष्ण के परस्पर संभोगजन्य शारीरिक विकारों से बड़ा ही ललित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं –

1. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – पृ. 65
2. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – षष्ठ अङ्क – श्लोक 26
3. विदग्धमाधव – रूपगोस्वामी – तृतीय अङ्क – श्लोक 51

कचमुक्तावलिरपि ययौ निर्गुणदशां
विशुद्धं ते दन्तच्छ्दयुगमभूद्गन्तिहृदये।
अबन्धासीत्काञ्ची तदिव सखि युक्तासि हरिणा
सतीनां वः कृत्यं किमुचितमिदं गोकुलभुवाम्।।[1]

प्रस्तुत श्लोक में श्लिष्ट पदावली के द्वारा कृष्ण–संयोग से 'मोक्ष' अर्थ भी निःस्यूत होता है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण से संयोग होने पर अनेक आलिङ्गन–चुम्बनादि से काञ्ची–स्खलनादि सम्भव है, उसी प्रकार कृष्ण अर्थात् परमेश्वर के साक्षात्कार होने पर संसार बन्धन के शिथिल होने से मोक्ष भी संभव है, किन्तु गोकुल में मोक्ष का विधान उचित नहीं है क्योंकि यह तो प्रेम भक्ति का क्षेत्र है। अतः गोकुल में सगुण ब्रह्म की उपासना प्रेमभक्ति से की जाती है, निर्गुण ब्रह्म की उपासना ज्ञानयोग से नहीं। अस्तु। रूपगोस्वामी 'प्रेमभक्ति' को ही 'मोक्ष' का साधन मानते हैं।

रूपगोस्वामी ने भक्ति की आड़ में शृङ्गार का प्रभूत रूप से पोषण किया है। इसीलिए तो वह शृङ्गाररस के प्राणभूत राधा व कृष्ण के क्रीडा विकास का वर्णन करते हुये लोगों की तृप्ति का असन्तोष प्रतिपादित करते हैं। आनन्दावस्था ही वह चरमपरिणति है जिसमें लोग उनके विलास का वर्णन करते हुये अपनी वाणी को विराम देते हैं।[2] पौर्णमासी के शब्दों में यदि मथुरा में यह कृष्ण सुनयना राधा अवतीर्ण नहीं होतीं तो सारी सृष्टि ही व्यर्थ हो जाती और विशेषकर कामदेव तो यहां सर्वथा निष्फल ही हो जाता अतः राधा और कृष्ण के अवतार ने समस्त संसार और विशेषकर कामदेव को सफल बनाया है।[3]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि रूपगोस्वामी ने गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में प्रचलित परम्परा का पूर्णतया पालन करते हुये अपनी नाट्यकृतियों में उनका सम्यक् प्रवर्तन किया है। राधाकृष्ण की मधुरिम विलास क्रीडा का गौडीय वैष्णव धर्म की सुदृढ़ निति पर समुद्घाटित करने का अनुपम प्रयास किया है।

---

1. वि. मा. – 6/34
2. सर्वस्वं प्रथमरसस्य यः प्राणीयान्
   कंसारेरुदयति राधया विलासः।
   वक्तुं को विरमति तं जनः समन्ता –
   दानन्दस्तिरयति चेद गिरां न वृत्तिम्।   वि. मा. – 7/2
3. हरिदेष न चेदवातरिष्यन् मथुरायां मधुराक्षिराधिका च।
   अभविष्यदियं वृथा विसृष्टिर्भकराङ्कस्तु विशेषतस्तदात्र।।   वि. मा. – 7/3

परकीया-प्रेम और उसकी पुष्टि

परकीया प्रेम की पद्धति वैष्णव सम्प्रदाय की एक पुरातन परम्परा है जिसे रूपगोस्वामी ने स्वीकार कर अपनी नाट्यकृतियों में उसे पुष्टि प्रदान की है। पौराणिक प्रसङ्गों में परकीयावाद की पर्याप्त चर्चा की गयी है। वैष्णव परम्परा के अनेक सन्त कवियों ने परकीयावाद की निष्पक्ष रूप से मान्यता प्रदान की है। रूपगोस्वामी स्वयं परकीयावाद के सम्बन्ध में सन्दिग्ध हुये से प्रतीत होते हैं क्योंकि उन्होंने परकीयावाद को मात्र परम्परा का पालन करने हेतु ही स्वीकार किया है। रूपगोस्वामी वस्तुतः स्वकीयावादी ही माने जा सकते हैं क्योंकि उन्होंने अपनी नाट्यकृतियों में राधा कृष्ण के परकीयात्व को योगमायिक परिवर्तन कहकर उनके नित्य स्वकीयात्व को ही प्रतिपादित किया है।

लौकिक प्रेम में भी आनन्द की चरम परिणति परकीया प्रेम में ही पूर्णता को प्राप्त करती है। प्रेमी और प्रेमिका का परस्पर आकर्षण, उनकी मिलन चेष्टाएं लोक–लाज, शर्म–सङ्कोच तथा बाह्य आवरण जैसी विसंगतियां सदैव उन्हें उद्विग्न करती रहती हैं। बहुवार्यमानता, प्रच्छन्नकामुकता और परस्पर दुर्लभता की वास्तविक स्थिति परकीया प्रेम ही सम्पन्न होती है। इसी प्रेम में प्रेमी और प्रेमिका एक दूसरे से मिलने के लिये प्रेमातुर होते हैं। वे सदैव इसी ताक में रहते हैं कि कब, कहां और कैसे अपनी प्रेमी से मिलें और अपनी प्रेम–पिपासा की तृप्ति करें। किसी अल्पकालिक क्षण में, वे परस्पर संयोग प्राप्त करके भी अपनी अनुबुझी प्यास को बुझाने और भावी मिलन की समयावधि तय कर पाने में ही पूर्णतया खो जाते हैं और वे आत्मकथ्य भी पूर्णरूप से व्यक्त नहीं कर पाते कि किसी आकस्मिक व्यवधान में आगमन से पुनः परस्पर वियुक्त होकर अपने आप में विलीन हो जाते हैं। परकीया प्रेम में ही प्रेमीयुग्म एक दूसरे के प्रति चिन्तातुर होते हुये सदैव तड़पते हैं, बहकते हैं, सिसकते हैं और एकान्तक्षण प्राप्त करने के लिये तरसते हैं। यही परकीया प्रेम की अनिवार्यता है जिसमें प्रेमी युगल नित्य नवीन संगम की नयी अनुभूति करते हैं। इन भावों की अनुभूति स्वकीयाभाव में सम्भव नहीं होती क्योंकि उसमें प्रेमी और प्रेमिका का मिलना जितना निश्चित होता है उतना अनिवार्य भी। उसमें न तो कोई निवारण है और न कोई व्यवधान, उसमें न तो उत्कण्ठा है और न विछोह। परकीया प्रेम में प्रेमी युगल अपने

आप में ही खोये रहते हैं, उनके मन में एक ही बात बार–बार गूंजती है कब, कहां और कैसे उनका पारस्परिक मिलन प्राप्त हो। सङ्केत स्थल की नियत अवधि में एक पल का विलम्ब भी हृदय–गति–वर्द्धक होता है। तन–मन में अस्थिरता और क्षण भर में निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, कुण्ठा, निन्दादि विविध भावों की वितृष्णा उत्पन्न होती है। ऐसे प्रेम में शरीर का समूचा सम्भार एकत्रित होकर मस्तिष्क में सिमट जाता है, बुद्धि क्रियाविहीन होकर अकर्मण्य हो जाती है, विवेक सुप्तावस्था में अवस्थित होकर संज्ञाशून्य हो जाता है, पलकें अपलक रूप में अपनी गति अवरूद्ध करके एकाग्र हो जाती है।, श्वांसे प्रबल प्रवाह में प्रवाहित होकर अनवरत गति से संचार करने लगती हैं और हृदय मस्तिष्क से अपना तादात्म्य स्थापित कर उसी में विलीन हो जाता है। परकीया प्रेम की यही वस्तु स्थिति है जिसमें आनन्द की चरमपरिणति होती है।

रूपगोस्वामी परकीया–प्रेम के कुशल चितेरे हैं। उनके दाम्पत्य जीवन के संबंध में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध न हो पाने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें गौड़नरेश हुसैनशाह के दसवर्षीय दरबारी जीवनकाल में परकीया प्रेम का अवसर प्राप्त हुआ जिसे उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन में अनुभव किया हो किन्तु सामाजिक स्तर पर उसे निन्दित, कुत्सित, अमर्यादित, गहर्य और त्याज्य समझकर उन्होंने अलौकिक परकीया प्रेम के मार्ग को अपनाकर परकीया प्रेम को ही प्रतिष्ठापित करने का संकल्प लिया हो और बाद में सन्त मार्ग को स्वीकार किया हो। साहित्य समाज में कबीर, तुलसी आदि ऐसे अनेक सन्त कवि हुये हैं जिन्होंने अपने दाम्पत्यजीवन से विमुख होकर बाद में सन्तमार्ग को अपनाया है। सम्भव है रूपगोस्वामी के जीवन में भी इस प्रकार का ही परिवर्तन हुआ हो। परकीया प्रेम का जो यथार्थ चित्रण रूपगोस्वामी ने अपने ग्रन्थों में किया है उसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे भी उसी मर्ज के मरीज थे क्योंकि उन्होंने जिस प्रकार से परकीया प्रेम की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों का चित्रण किया है वह उनके व्यक्तिगत जीवन की भी अनुभूतियां मानी जा सकती हैं। उन्होंने परकीया प्रेम के प्रत्येक कोने को बड़ी सर्तकता से झांका है। तात्कालिक सुरा–सुन्दरी प्रधान सामन्तवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उनके दसवर्षीय दरबारी जीवन में परकीया प्रेम का होना असम्भव नहीं माना

जा सकता। अनुसन्धाता का उक्त मत किसी समुचित प्रमाण के अभाव में, सम्भव है किसी भक्त हृदय को ग्राह्य न हो किन्तु उक्त अनुमान को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह उसकी अपनी व्यक्तिगत दृष्टि है जिसे उसने अपनी गवेषणा की अनुभूति के आधार पर व्यक्त कर पाने का साहस किया है। किसी प्रबल प्रमाण के अभाव में उक्त मत सर्वग्राह्य नहीं भी हो सकता है।

निष्कर्षतः रूपगोस्वामी गौड़ीय वैष्णव परम्परा के प्रबल प्रवर्तक के रूप में समूचे भक्ति साहित्य में अपनी अक्षुण्ण कीर्ति विकीर्ण करते हुये, साहित्य समाज के सम्मुख नव्यालोक प्रदीप्त करते हैं। उनकी व्यक्तित्व और कर्तृत्व एक सुधी–सहृदय–सन्त कवि, आचार्य और नाटककार के रूप में सर्वथा स्तुत्य और समादरणीय हैं।

विदग्धमाधवस्थ सुभाषितानि

1. अपः शालिग्रामाप्लवनगरिमोद्गारसरसाः।
   सुधीः को वा कौपीरपि नमितमूर्धा न पिवति।। (1/4)
2. रम्या कापि सतामियं विजयन्ते नैसर्गिकी प्रक्रिया। (1/5)
3. लोकोत्तरा गुणश्रीः प्रथयति परितो निगूढमपि वस्तु। (1/13)
4. न मंगला परिजने संगोपनाङ्गीकृतिः। (2/2)
5. यत्र प्रकृत्या रतिरूत्तमानां तत्रानुमेयः परमोऽनुभावः। (2/32)
6. कुलस्त्रियो हि धर्मभीरवो भवन्ति। द्वितीय अंक
7. कः खलु जिजीविषुर्जीवातुभूतायां सिद्धोषधिलतायामुदास्ते। (द्वि. अं.)
8. दुर्बोधं खलु लोकोत्तराणाम् चित्तं न झटिति विकसति। (तृ. अं.)
9. लोकोत्तरीभवन्नर्थो न कस्य तर्कणीयो भवति। (तृ. अङ्क)
10. भजन्ते साद्गुष्यादपि पृथुलदोषं हि पुरुषम्। (3/34)
11. चपलप्रेमाणो हि बाला रमण्यः। (तृ. अङ्क)
12. शठे कः क्षेमार्थी सुमुखि नहि शाठ्यं घटयति। (3/43)
13. दन्ते चिन्तारत्ने न संपुटे आग्रहो युक्तः। (3/48)
14. नहि लूतया प्रसारितास्तन्तवो गन्धसिन्धुरस्य बन्धाय प्रभवन्ति। (तृ. अङ्क)
15. बाढं दुरुहा महीयसां प्रकृतिः। (च. अङ्क)
16. नहि चन्द्रेण चन्द्रिकाया मोक्षः कदापि संभवति। (पं. अङ्क)
17. योग्येन सङ्गमिह गच्छतु वस्तु योग्यम्। (5/22)
18. अस्ति नान्या चकोरस्य चन्द्रलेखां विना गतिः। (5/31)
19. सरसेषु विनिर्मितो हि संगः परमानन्दभरोन्नतिं तनोति। (5/42)
20. कं वा बलान्नहि हरत्यनुरागलक्ष्मीः। (5/43)
21. जये पाणौ दत्ते रणपटुभिरग्रेसरभटैः।
    स्वयं को विक्रान्तिं पुनरिह जिगीषुः प्रणयति।। (6/17)

22. विध्वंसयति हि पुसां साध्वीपरिवादितायूंषि। (7/58)

23. शान्तप्रियः परमभागवताः समन्ताद्।

वैगुण्यपुञ्जमपि सद्गुणतां नयन्ति। (पुष्पिका/श्लोक 3)

विदग्धमाधव में वर्णानुसार श्लोकानुंक्रमणिका

(न)

(प)

(स)

सन्दर्भ
ग्रन्थ
सूची

सहायक ग्रन्थावली

1. अभिज्ञान शकुन्तलम् – कालिदास, टीका. कपिलदेव द्विवेदी, साहित्य संस्थान, इलाहाबाद 1984
2. अष्टादश पुराण दर्पण – पं. ज्वाला प्रसाद, संवत् 1962
3. आधुनिक संस्कृत नाटक भाग 1, 2 – रामजी उपाध्याय, संस्कृत परिषद, सागर वि.वि. 1977
4. उज्ज्वल नीलमणि – 1. आनन्दचन्द्रिका, लोचन रोचनी टीका सहित, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी 1985
   2. हिन्दी टीका – डा. श्यामनारायण पाण्डेय, ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर, 1985
5. ऊधव सन्देश – रूपगोस्वामी, कुसुम सरोवर प्रकाशन, मथुरा, संवत् – 2014
6. काव्यरस विमर्शः – भक्तिरसश्च – स्वामी करपात्री जी
7. गर्ग संहिता – गीता प्रेस, गोरखपुर
8. गीत गोविन्द – जयदेव, अनु. नागार्जुन, किताब महल, प्रयाग 1955 ई.
9. चैतन्य चरितामृतम् – आदिलीला, मध्यलीला, अन्त्य लीला – श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्री हरिनाम सङ्कीर्तन मण्डल श्रीधाम, वृन्दावन, 1962, 1964, 1965
10. चैतन्य चरितावली – प्रभुदत्त ब्रह्मचारी – खण्ड 1, 2, 3, 4 – गोविन्दभवन कार्यालय, गोरखपुर संस्करण – 2042
11. चैतन्यभागवत – वृन्दावन ठाकुर, मथुरा, संवत् 2025
12. चैतन्य एण्ड हिज एज – दिनेश चन्द्र सेन –
13. चैतन्य चन्द्रोदय नाटकम् – कविकर्णपूर – टीका आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौ. सं. सी., वाराणसी
14. छन्दोऽलङ्कार सौरभम् – डा. राजेन्द्र मिश्र, वैजयन्त प्रकाशन – 1980 – प्रयाग
15. दशरूपक – धनञ्जय, अनु. श्रीनिवास शास्त्री – साहित्य भण्डार, मेरठ, 1979 ई.

16. दानकेलिकौमुदी – रूपगोस्वामी – संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी टीका सहित – भारती रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भारती भुवन, इन्दौर, म. प्र. वि. 2032
17. दि वैष्णव लिटरेचर आव मेडिवल बङ्गाल –
18. दि अर्ली हिस्ट्री आव दि वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेन्ट इन बङ्गाल – एस. के. डे. जनरल – प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स – 1942
19. देवी भागवत पुराण – गीता प्रेस, गोरखपुर
20. नाटक चन्द्रिका – रूपगोस्वामी – चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1964 ई.
21. नाट्यशास्त्र – भरतमुनि – चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी 1965 प्र. सं.
22. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा – हजारी प्रसाद द्विवेदी – 1963
23. नारदभक्ति सूत्र एवं भक्ति विषयक प्रवचन और आस्थान – विवेकानन्द स्वामी, गीता प्रेस, गोरखपुर 1965 प्र. सं.
24. पद्म पुराण – श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली
25. पुराण विमर्श – बलदेव उपाध्याय – चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1965 प्र. सं.
26. फिलॉसफी ऑव चैतन्य – ओ. बी. एल. कपूर – 3774 – 10, 261
27. ब्रजभाषा के कृष्ण काव्य में माधुर्य भक्ति – डॉ. रूपनारायण, नवयुग प्रकाशन, 1962
28. ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास – प्रभुदयाल मीतल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस
29. ब्रह्मवैवर्त्त पुराण – सम्पादक – तारणीश झा – भाग 1–2, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1981
30. भवभूति के नाटक – डॉ. राजवल्लभ शर्मा, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी 1973
31. भगवद्भक्ति रसायन – मधुसूदन सरस्वती, तारामुद्रणालय, वाराणसी 1950 ई.
32. भगवद्गीता – गीता प्रेस, गोरखपुर
33. भविष्य पुराण – गीता प्रेस, गोरखपुर
34. भरत और भारतीय नाट्यकला – डॉ. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1970

35. भारतीय नाट्य सिद्धान्त – उद्‌भव और विकास – डा. रामजी पाण्डेय – राष्ट्रभाषा परिषद पटना–4
36. भागवत सम्प्रदाय – बलदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, सं. 2010
37. भाव प्रकाशन – शारदातनय, गैकवड्स ओरियण्टल सी. ओ. इ. बरौदा, 1968
38. भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा – बलदेव उपाध्याय, राष्ट्रभाषा परिषद, बिहार 1963 ई.
39. भारतीय साहित्य में श्रृङ्गार रस – डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त, ने. प. हा. दिल्ली, 1972 ई.
40. भारतीय साहित्यशास्त्र – बलदेव उपाध्याय, प्रसाद परिषद, काशी, संवत् 2050 प्र. सं.
41. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका – डॉ. नगेन्द्र, ओरियन्टल बुक, 1955 ई.
42. भक्ति चन्द्रिका – नारायण तीर्थ, सरस्वती भवन, पुस्तक प्रकाशन, 1938
43. भक्ति रत्नाकर –
44. भक्ति साहित्य में मधुरोपासना – परशुराम चतुर्वेदी, 2018 वि.
45. भक्तिकाव्य में माधुर्यभाव का स्वरूप – डॉ. जगन्नाथ 'नलिन' राधाकृष्ण प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली 1966 ई.
46. भक्ति सुधा – स्वामी करपात्री जी, भक्ति सुधा साहित्य परिषद प्रकाशन, सं. 2000
47. भक्ति रसायन – मधुसूदन सरस्वती – अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, 1934
48. मथुरा माहात्म्य – रूपगोस्वामी – कुसुम सरोवर प्रकाशन, मथुरा 2015 वि.
49. महाभारत – गीताप्रेस, गोरखपुर
50. मध्यकालीन प्रेम साधना – परशुराम चतुर्वेदी 1952 ई.
51. मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण भक्तिधारा एवं चैतन्य सम्प्रदाय डा. मीरा श्रीवास्तव, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद 1968 ई.
52. मध्यकालीन संस्कृत नाटक – डॉ. रामजी उपाध्याय, संस्कृत परिषद्, सागर वि. वि. 1974

53. मध्यकालिक संस्कृत नाटकालोक, भारतीय संस्कृति संस्थानम् – इलाहाबाद, सं. 2037

54. मध्यकालीन कृष्ण काव्य – कृष्णदेव झारी, शारदा प्रकाशन दिल्ली – 1972 ई.

55. मध्यकालीन रसदर्शन एवं तत्कालीन सौन्दर्य बोध – रमेश कुन्तल, राधा कृष्ण प्रकाशन 1969 ई.

56. मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति एवं तुलसीदास – रामरतन भटनागर, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, 1962 ई.

57. मधुर रस : स्वरूप और विकास, रामस्वार्थ चौधरी, अभिनव राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–6 1964 ई., पटना–6, 1968 ई.

58. मत्स्यपुराण – श्री राम शर्मा आचार्य संस्कृति संस्थान, बरेली

59. रस सिद्धान्त – स्वरूप विश्लेषण – आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, प्र. सं. 1960

60. रस सिद्धान्त तथा साहित्य शास्त्र, डॉ. नगेन्द्र तथा बलदेव उपाध्याय, ने. प. हा. दिल्ली 1964

61. रसार्णव सुधाकर – शिंगभूपाल, संशोधक – डा. रेवाप्रसाद द्विवेदी, संस्कृत परिषद्, सागर वि. वि. 1969 ई.

62. रसगङ्गाधर – पं. राजजगन्नाथ

63. रसमञ्जरी – मधुसूदन सरस्वती

64. रसराज शृङ्गार – डॉ. रामलाल वर्मा, सूर्यप्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1971 ई.

65. रसराज – मतिराम – व्याख्या रामजी मिश्र – 1960

66. रस संस्था का काव्यशास्त्रीय विश्लेषण – डॉ. सुन्दरलाल कथूरिया – 1978

67. राधा और कृष्ण – माधवाचार्य शास्त्री, माधव पुस्तकालय, देहली

68. रासपञ्चाध्यायी का सांस्कृतिक अध्ययन – डॉ. रसिक बिहारी जोशी, माधव फाइनेन्स – कम्पनी, अजमेर 1961

69. रीतिकालीन शृङ्गार भावना के स्रोत – डॉ. सुधीन्द्र कुमार – 1974

70. रीतिकाव्य के स्रोत – रामजी मिश्र – 1973
71. रीति काव्य की भूमिका – डॉ. नगेन्द्र – दिल्ली, 1961
72. रीतिकालीन कविता एवं श्रृङ्गाररस – डॉ. राजेन्द्र प्रसाद चतुर्वेदी, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा
73. रीतिकालीन काव्य पर संस्कृत काव्य का प्रभाव – डॉ. दयानन्द शर्मा 'मधुर', 1976
74. लघु भागवतामृतम् – रूपगोस्वामी – वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1959
75. ललितमाधवम् नाटकम् – रूपगोस्वामी टीका – प्रो. बाबूलाल शुक्ल शास्त्री – चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी–1, 1969
76. लघुतोषणी – रूपगोस्वामी –
77. लिङ्गपुराण – श्रीराम शर्मा आचार्य – संस्कृति संस्थान – बरेली
78. वामन पुराण – दो भाग – श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान बरेली 1970 ई.
79. वायु पुराण – दो भाग – श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1967 ई.
80. विष्णु पुराण – दो भाग – श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान बरेली, 1967
81. विदग्धमाधवम् – रूपगोस्वामी, हिन्दी टीका – पं. रमाकान्त झा, चौखम्भा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी–1, 1970
82. विश्व हिन्दी शब्द कोश – नागरी प्रचारिणी सभा, प्र. सं. 1962 ई.
83. वैष्णव धर्म – परशुराम चतुर्वेदी, विवेक प्रकाशन, 1953 ई.
84. वैष्णव साधना और सिद्धान्त – डॉ. भुवनेश्वरनाथ मिश्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1973 ई.
85. वैष्णव सम्प्रदाय का इतिहास और सिद्धान्त – बलदेव उपाध्याय – 1978
86. वैष्णव धर्म, शैवधर्म एवं अन्य धार्मिक मत – डॉ. भण्डार, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली वाराणसी – 1967 ई.
87. वामन भट्ट बाण की नाट्यकृतियों का समीक्षात्मक अध्ययन – एस. एन. तिवारी – 3774–10 2552, 1981 इ. वि.
88. सरस्वती कण्ठाभरण–भोज–सम्पादक आनन्दराम बोहरा, निर्ण सागर प्रेस, 1969

89. साहित्य दर्पण – आचार्य विश्वनाथ – टीका – डॉ. सत्यव्रत सिंह, चौ. वि. भ., वाराणसी

90. सङ्गीत रत्नाकर – शार्ङ्देव – आनन्दाश्रम –

91. संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय – शारदा मन्दिर – वाराणसी – 1968

92. संस्कृत साहित्य का इतिहास – वाचस्पति गैरोला – चौ. वि. भ., वाराणसी–1960

93. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – एस. के. डे. बिहार, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी – पटना 1973

94. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – पी. वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, 1966 ई.

95. संस्कृत काव्यशास्त्र के भावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ. हरिदत्त शर्मा, डी. फिल., शोध प्रबन्ध – 1973

96. संस्कृत नाटक – ए. बी. कीथ, अनु. डॉ. उदयभानु सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना – वाराणसी द्वितीय सं. 1971

97. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – भाग 1, 2, रामजी उपाध्याय, प्रकाशन, 2 कटरा रोड, इलाहाबाद–2027

98. संस्कृत साहित्यशास्त्र में भक्तिरस के परिप्रेक्ष्य में आचार्य श्री रूपगोस्वामी का योगदान – डी. फिल. – शोध प्रबन्ध – श्रीमती दीपारानी अग्रवाल, 1977 ई. इ. वि.

99. संस्कृत काव्यशास्त्रे भक्तिरस विवेचनम् – डॉ. कृष्णबिहारि मिश्र, शिक्षा समाज कल्याण मंत्रालय, दिल्ली

100. सूक्ति–सुधाकर – गीता प्रेस, गोरखपुर – 8वां संस्करण, सं. 2044

101. शृङ्गार परिशीलन – डॉ. चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद

102. शृङ्गार रस का विकास – डॉ. चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, डी. लिट्. शोध प्रबन्ध 1979

103. श्रीमद्भागवत पुराण – हनुप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

104. श्री वृन्दावन महिमामृतम् – प्रबोधानन्द सरस्वती – प्र. सं. – 2018 संवत्

105. श्रीरूप शिक्षा – रूपगोस्वामी, सेवा संस्थान गोरखपुर, प्र. सं. 1969 ई.

106. श्रृङ्गार प्रकाश – भोज, भाग 2, 3, 1956, 1963

107. श्रीमद्भागवत के परिप्रेक्ष्य में श्रीकृष्ण कथा का प्रमुख नाटकों में विकास – रञ्जना प्रियदर्शिनी शोध प्रबन्ध – ई. वि. वि.

108. हंसदूतम् – रूपगोस्वामी – प्रकाश., मथुरा, संवत् 2014

109. हरिवंश पुराण – गीताप्रेस, गोरखपुर

110. हिन्दी भक्तिरसामृत सिन्धु – रूपगोस्वामी – हिन्दी अनु. डा. नगेन्द्र। प्रकाशन – हिन्दी विभाग दिल्ली वि. वि. – 1963

111. हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य में मधुर भान की उपासना – डा. पूर्णमासी राय, अभिनव भारत प्रकाशन, 1974 ई.

112. हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य पर पुराणों का प्रभाव – शशी अग्रवाल, हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग – 1960

113. हिन्दी कृष्ण काव्य में माधुर्योपासना – श्यामनारायण पाण्डेय, रामा प्रकाशन, लखनऊ 19

114. हिन्दी साहित्य में राधा – द्वारिका प्रसाद मीतल – जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, प्र. सं. 1970 ई.

115. हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह – परशुराम चतुर्वेदी – किताब महल 1952

116. हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य, काव्यादर्श तथा काव्य सिद्धान्त – डा. योगेन्द्र प्रताप सिंह साहित्य भवन प्रकाशन, 1969 ई.

117. हिन्दी वैष्णव साहित्य में रसपरिकल्पना – डा. प्रेमस्वरूप, ने. प. हा. दिल्ली, 1969

118. हिस्ट्री आंव क्लेसिकल संस्कृत लिटरेचर – एम. कृष्णन आचार्यन – मोतीलाल बनारसीदास 1970